कालिदास की कृतियों में अनालोचित शास्त्रीय सन्दर्भ
Kālidāsa Kī Kṛtiyon meṃ Anālocita Śāstrīya Sandarbha

Ph.D उपाधि हेतु प्रस्तुत शोधप्रबन्ध

शोधनिर्देशक
डॉ० हरिराम मिश्र

भाोधार्थी
हरीश कुकरेती

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली 110067

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र
SPECIAL CENTRE FOR SANSKRIT STUDIES
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLALA NEHRU UNIVERSITY
नई दिल्ली 110067
New Delhi 110067

Date: 20/07/2017

Declaration

I, Harish Kukreti, hereby declare that the thesis entitled ***Kālidāsa Kī Kṛtiyon meṃ Anālocita Śāstrīya Sandarbha,*** submitted in the Special Centre for Sanskrit Studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi-110067, for the award of the Degree of Doctor of Philosophy is my original work, and has not been submitted so far, in part or full, for any other degree or diploma of any University/Institution.

harishchandrakukreti
Harish Kukreti

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र
SPECIAL CENTRE FOR SANSKRIT STUDIES
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLALA NEHRU UNIVERSITY
नई दिल्ली 110067
New Delhi 110067

Date: 20/07/2017

CERTIFICATE

This thesis entitled ***Kālidāsa Kī Kṛtiyon meṃ Anālocita Śāstrīya Sandarbha,*** by Harish Kukreti, Special Centre for Sanskrit Studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi-110067, for the award of the degree of Doctor of Philosophy is an original work and has not been submitted so far, in part or full for any other degree or diploma of any University. This may be placed before the examiners for evaluation and for award of the degree of Doctor of Philosophy.

Prof. Girish Nath Jha
Chairperson

PROF. GIRISH NATH JHA
Chairperson
Special Centre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067, INDIA

Dr. Hari Ram Mishra
Supervisor

Dr. Hari Ram Mishra
Assistant Professor
Centre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi - 110067

तव च का किल न स्तुतिरम्बिके ! सकलशब्दमयी किल ते तनुः।
निखिलमूर्तिषु मे भवदन्वयो मनसिजासु बहिःप्रसरासु च।।
इति विचिन्त्य शिवे ! शमिताशिवे ! जगति जातमयत्नवशादिदम्।
स्तुतिजपार्चनचिन्तनवर्जिता न खलु काचन कालकलास्ति मे।।

समर्पण

पूज्य माता जी श्रीमती गोदाम्बरी देवी

एवं

पिता जी श्री देवानन्द कुकरेती,

पूर्व–प्रधानाचार्य, जूनियर हाई स्कूल, मोघ, उत्तरकाशी

के चरणकमलों में सादर समर्पित

आत्मनिवेदन

कवि का संसार भिन्न ही होता है, जहाँ बिना वस्तुओं की अनुपस्थिति में भी कवि कल्पना के संसार का निर्माण करता है। इसी कल्पना के सहारे वह समाज की अच्छाई, बुराई, सामाजिक कुरीतियों को सामने लाने का प्रयास करता है। कवि अपने काव्य के माध्यम से केवल मनोरञ्जन ही नहीं करता है अपितु समाज के लोगों को अपनी रचनाओं के माध्यम से शिक्षित भी करता है। महाकवि कालिदास के ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन करने पर विविध शास्त्रों के लोकोपकारी तत्त्वरूपी रत्न उसी प्रकार दिखाई देते हैं, जिस प्रकार समुद्र में अनेक रत्न प्राप्त होते हैं। मेघदूतम आदि में कवि ने अनेक समाजोपयोगी सिद्धान्तों का अनेक स्थलों में उल्लेख किया है। इनकी कृतियों के अध्ययन के अनन्तर जो–जो शास्त्रीय विषय मेरे सम्मुख उपस्थित हुए उनका मैंने यथामति विवेचन करने का प्रयास किया है। कालिदास के ही शब्दों में अत्यन्त शिक्षित होने के बाद भी तब तक व्यक्ति के मन में आशङ्का बनी रहती है जब तक विद्वान् लोग सन्तुष्ट नहीं हो जाते हैं।

मैं अपने शोधनिर्देशक आचार्य डॉ हरिराममिश्र जी के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। जिनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से ही प्रस्तुत शोधकार्य सम्पन्न हो सका है। स्नातकोत्तर कक्षा में ही मैं इनके वैदुष्य और छात्रवत्सल की भावना से प्रभावित था, शास्त्रीय शङ्काओं को सरलता से समझाकर दूर कर देना यह इनका वैशिष्ट्य रहा है।

केन्द्र के अध्यक्ष आचार्य डॉ गिरीशनाथ झा जी का हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने संगणक (Computer) के क्षेत्र में मुझे दक्ष बनाने में अपना अमूल्य योगदान दिया है, उन्हीं का ही अनुग्रह था कि मैं अपने शोधकार्य का टङ्कणकार्य करने में समर्थ हो पाया हूँ।

मैं अपने केन्द्र के अन्य सभी आचार्यों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, इनके द्वारा कराया गया शास्त्रों का अध्ययन मेरे शोधकार्य में अत्यन्त सहायक हुआ है।

मेरे माता–पिता का यह अत्यन्त स्नेह, वात्सल्य ही था जिन्होंने हमेशा मुझे उच्चशिक्षा के लिए प्रेरित किया। उनके आशीर्वाद से ही यह शोधकार्य सम्पन्न हो सका है।

मैं अपने केन्द्र के अग्रजों को विशेष धन्यवाद देता हूँ जिनका सहयोग मुझे विशेष रूप से प्राप्त हुआ है–कुलदीप जी, चन्द्रशेखर जी, दिवाकर मिश्र, मणिशंकर द्विवेदी, शिवलोचन शाण्डिल्य, अशोक जी।

मै अपने उन सभी मित्रों को धन्यवाद देता हूँ जिनका सहयोग मुझे मिलता रहा है–कृष्ण मोहन झा, नारायणदत्त मिश्र, उमेश, उज्जवल, चमन कुमार, प्रतीक, प्रचेतस, सतरुद्र, वन्दना, दिव्या, पूजा,निर्मला।

मैं सहयोग हेतु अपने अनुजों को धन्यवाद देता हूँ–यीशनारायण ,मनीष, अंकुश, मनीष, ललित पाण्डेय, वसिष्ठ, अनिल, जितेन्द्र, नीटू, सुशील।

मैं अपनी पत्नी रजनी को धन्यवाद देता हूँ, जिसने इस शोधकार्य में अत्यन्त सहयोग दिया है।

इस शोधकार्य में वित्तीय सहायता के लिए मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (UGC) के प्रति धन्यवाद व्यक्त करता हूँ।

शोधकार्य में पुस्तकालय के माध्यम से सहायता देने हेतु लालबहादुरशास्त्रियविद्यापीठ, दिल्लीविश्वविद्यालय, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थान के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

मैं उन आचार्यों का हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जिनके ग्रन्थों की सहायता मैंने अपने शोधप्रबन्ध में ली है।

मैं उन सभी का हार्दिक आभारी हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से मेरे इस शोधकार्य में सहायता की है।

हरीश कुकरेती

विषयानुक्रमणिका

आत्मनिवेदन

संक्षिप्त–सङ्केत–सूची I-II

भूमिका 1–7

1. प्रथम अध्याय : कालिदासीय कृतियों में वैदिक प्रकरण 8–61

1.1 वेद

1.1.1 वैदिक वाङ्मय

1.1.1.1 ऋग्वेदसंहिता

1.1.1.2 शुक्लयजुर्वेदसंहिता

1.1.1.3 कृष्णयजुर्वेदसंहिता

1.1.1.4 सामवेदसंहिता

1.1.1.5 अथर्ववेदसंहिता

1.1.1.6 वेदों के उपवेद

1.1.1.7 वेदांग

1.1.1.8 वेदों की विशेषताएँ

1.1.1.9 वेदों की अपौरुषेयता

1.2 कालिदास की कृतियों में वेदपाठ की परम्परा

1.3 कालिदासीय कृतियों में एकेश्वरतत्त्व की अवधारणा एवं उसका शास्त्रीय पक्ष

1.4 कालिदासीय कृतियों में शब्दार्थविषयक अवधारणा का शास्त्रीय पक्ष

1.4.1 योग्यतासम्बन्ध

1.4.2 कार्यकारण सम्बन्ध

1.5 वेद में लोकों की अवधारणा एवं कालिदासीय सन्दर्भ

1.6 चतुर्वर्ण एवं कालिदासीय सन्दर्भ

1.7 कालिदास की रचनाओं में सूर्योपासना का शास्त्रीयमत

1.7.1 पाश्चात्य परम्परा में सूर्योपासना का विवेचन

1.8 यज्ञ के ऋत्विज एवं कालिदासीय सन्दर्भ

1.9 कालिदासीय कृतियों में यज्ञाग्नि का स्वरूप एवं शास्त्रीय मत

1.9.1 यज्ञाग्नि के तीन स्वरूप एवं शास्त्रीय सन्दर्भ

1.9.2 निरुक्तशास्त्र में प्रतिपादित अग्नि का स्वरूप

1.9.3 कठोपनिषद् में यज्ञाग्नि का विवेचन

1.9.4 विभिन्न देशों की परम्परा में अग्नि की शास्त्रीयविधि से उपासना

1.9.5 अश्वमेधयज्ञ एवं कालिदासीय सन्दर्भ

1.9.6 विश्वजितयज्ञ एवं कालिदासीय सन्दर्भ

1.10 कालिदास की परमपद की अवधारणा और शास्त्रीय सन्दर्भ

1.11 ऋग्वेद में सरस्वती का स्वरूप एवं कालिदासीय सन्दर्भ

1.12 कालिदासीय रचनाओं में हिमालय एवं शास्त्रीय सन्दर्भ

1.13 विक्रमोर्वशीयम् नाटक का शास्त्रीयतत्त्व

1.14 ऋग्वेदीय रथ एवं कालिदासीय सन्दर्भ

1.15 उपसंहार

2. द्वितीय अध्याय : कालिदासीय कृतियों मे दर्शनशास्त्र प्रकरण 62–115

2.1 दर्शनशास्त्र

2.2. सांख्यदर्शन

2.2.1 सांख्यदर्शनानुसार कालिदास की प्रकृति और पुरुष विषयक अवधारणा

2.2.2 सांख्यदर्शनानुसार सृष्टिक्रम एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.2.3 सांख्यदर्शन में प्रमाण एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.2.4 सांख्यदर्शनानुसार प्रत्यक्ष प्रमाण एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.2.5 सांख्यदर्शनानुसार अनुमान प्रमाण एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.2.6 सांख्यदर्शनानुसार शब्द प्रमाण एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.2.7 अन्तःकरण एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.2.8 कालिदास की कृतियों में प्रयुक्त गुणत्रय एवं उनका प्रभाव

2.2.8.1 सत्त्वगुण का स्वभाव

2.2.8.2 रजोगुण का स्वभाव

2.2.8.3 तमोगुण का स्वभाव

2.2.8.4 गुणों का पारस्परिक सम्बन्ध

2.3 योगदर्शन

2.3.1 कालिदासीय कृतियों में योगदर्शन के सन्दर्भ

2.3.2 कालिदासानुसार चित्तवृत्तिनिरोध के उपाय

2.3.2.1 अभ्यास का स्वरूप

2.3.2.2 वैराग्य का स्वरूप

2.3.2.3 श्रीमद्भगवद्गीता में अभ्यास और वैराग्य

2.3.2.4 चित्तवृत्तियाँ

2.3.2.4.1 प्रमाणवृत्ति का स्वरूप

2.3.2.4.1.1 प्रत्यक्षवृत्ति

2.3.2.4.1.2 अनुमानवृत्ति

2.3.2.4.1.3 आगमवृत्ति

2.3.2.4.2 विपर्ययवृत्ति का स्वरूप

2.3.2.4.3 विकल्पवृत्ति का स्वरूप

2.3.2.4.4 निद्रावृत्ति का स्वरूप

2.3.2.4.5 स्मृतिवृत्ति का स्वरूप

2.3.3 कालिदास की कृतियों में अष्टाङ्गयोग

2.3.3.1 यम एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.3.3.2 नियम एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.3.3.3 आसन एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.3.3.4 प्राणायाम एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.3.3.5 प्रत्याहार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.3.3.6 धारणा एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.3.3.7 ध्यान एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.3.3.8 समाधि एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.3.4 त्रिकालज्ञ योगी एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.3.4.1 धर्म परिणाम

2.3.4.2 लक्षण परिणाम

2.3.4.3 अवस्था परिणाम

2.3.5 कैवल्य अवस्था एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.4 वेदान्तदर्शन

2.4.1 ब्रह्म का तटस्थ लक्षण एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.4.2 ब्रह्म का स्वरूपलक्षण एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.4.3 जीव का स्वरूप एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.4.4 वेदान्त दर्शन में अध्यारोप–अपवाद एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.4.4.1 अध्यारोप

2.4.4.2 अपवाद

2.4.5 कालिदास का मायावाद सम्बन्धी विश्लेषण

2.4.6 ईश्वर के अवतार का प्रयोजन एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.4.7 वेदोक्त धर्म एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.5 न्यायदर्शन

2.5.1 कालिदासीय कृतियों में न्याय –वैशेषिक दर्शन के सन्दर्भ

2.5.2 न्याय वैशेषिक में जलतत्त्व एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.5.3 तेज तत्त्व और कालिदासीय सन्दर्भ

2.5.4 न्यायवैशेषिक दर्शनानुसार शरीर, आत्मा एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.5.5 आकाश तत्त्व और कालिदासीय सन्दर्भ

2.6 प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.7 मीमांसादर्शन

2.7.1 कर्माशय का स्वरूप एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.7.2 निष्कामकर्मयोग एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.8 भक्तिदर्शन एवं कालिदासीय सन्दर्भ

2.9 उपसंहार

3. तृतीय अध्याय : कालिदासीय कृतियों में धर्मशास्त्र प्रकरण 116–149

3.1 धर्मशास्त्र

3.2 संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

3.3 गर्भाधान अथवा निषेक संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

3.4 पुंसवन संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

3.5 सीमन्तोन्नयन संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

3.6 जातकर्म संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

3.7 नामकरण संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

3.8 निष्क्रमण संस्कार एवम् अन्नप्राशन तथा कालिदासीय सन्दर्भ

3.9 चूडाकरण संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

3.10 विद्यारम्भ संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

3.11 उपनयन संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

3.12 वेदारम्भसंस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

3.13 केशान्त संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

3.14 समावर्तन संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

3.15 विवाहसंस्कार एवं कालिदासीयसन्दर्भ

3.15.1 प्राजापत्य विवाह एवं कालिदासीय सन्दर्भ

3.15.2 गान्धर्वविवाह एवं कालिदासीय सन्दर्भ

3.15.3 स्वयंवर पद्धति एवं कालिदासीय सन्दर्भ

3.15.4 वीर्यशुक्ल पद्धति एवं कालिदासीय सन्दर्भ

3.16 अन्त्येष्टि संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

3.17 पञ्चमहायज्ञ एवं कालिदासीय सन्दर्भ

4. चतुर्थ अध्याय : कालिदासीय कृतियों में व्याकरणशास्त्र प्रकरण 150–194

4. व्याकरणशास्त्र

4.1 कालिदास की कृतियों में वैयाकरणों के अभिमत शब्दों के प्रवृत्ति–निमित्त

4.1.1 आचार्य पाणिनि के अनुसार शब्दप्रवृतिनिमित्त

4.1.2 जातिवादी आचार्य वाजप्यायन का मत

4.1.3 द्रव्यवादी आचार्य व्याडि का मत

4.1.4 पतञ्जलि का शब्दप्रवृतिनिमित्त विषयक मत

4.1.5 आचार्य मम्मट के अनुसार शब्दप्रवृतिनिमित्त

4.2 कालिदास की कृतियों में उत्सर्ग–अपवाद सिद्धान्त

4.3 पाणिनीय ओमाङ्गोश्च सूत्र में आङ् ग्रहण विषयक शास्त्रीय मत एवं कालिदासीय सन्दर्भ

4.4 व्याकरणशास्त्र में धातु ,स्थानी, आदेश एवं कालिदासीय सन्दर्भ

4.4.1 धातु का अर्थ

4.4.2 सकर्मक और अकर्मक धातु

4.5 कालिदास प्रयुक्त इङ् धातु विषयक व्याकरणशास्त्रीय उपमा

4.6 प्रकृतिप्रत्ययसंयोग एवं कालिदासीय सन्दर्भ

4.7 पाणिनीय अकथितञ्च सूत्र एवं कालिदासीय सन्दर्भ

4.8 पाणिनीय एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः सूत्र एवं शास्त्रीयसन्दर्भ

4.9 आचार्य भागुरि का मत एवं कालिदासीय सन्दर्भ

4.10 कालिदासीय कृदन्तप्रकरण

4.10.1 कृत्यप्रत्ययान्त एवं कालिदासीय सन्दर्भ

4.10.2 भूतकालिक कृदन्त एवं कालिदासीय सन्दर्भ

4.10.3 वर्तमानकालिक शतृ ,शानच् प्रत्ययान्त शब्द एवं कालिदासीय सन्दर्भ

4.10.3.1 भविष्यत्कालिक कृदन्त एवं कालिदासीय सन्दर्भ

4.10.4 कर्तृवाचक कृदन्त एवं कालिदासीय सन्दर्भ

4.10.5 भावार्थ कृत्प्रत्यय एवं कालिदासीय सन्दर्भ

4.10.6 तुमुन् प्रत्यय एवं कालिदासीय सन्दर्भ

4.10.7 क्त्वा, ल्यप प्रत्यय एवं कालिदासीय सन्दर्भ

4.10.8 तद्धितान्त वैमानिक शब्द एवं कालिदासीय सन्दर्भ

4.10.9 तद्धितान्त पुत्रीया शब्द एवं शास्त्रीय सन्दर्भ

4.10.10 परस्मैपदी क्रीड् धातु का आत्मनेपद प्रयोग हेतु विशेष नियम एवं कालिदासीय सन्दर्भ

5. पञ्चम अध्याय : कालिदासीय कृतियों में राजनीतिशास्त्र प्रकरण 195–231

5.1 राजनीति

5.1.1 राजनीति में कूटनीति के साधन एवं कालिदासीय सन्दर्भ

5.2 राज्य एवं कालिदासीय सन्दर्भ

5.2.1 मत्स्यन्याय

5.2.2 राज्य की तीन शक्तियाँ एवं कालिदासीय सन्दर्भ

5.2.3 राज्य की प्रकृति एवं कालिदासीय सन्दर्भ

5.2.3.1 सप्ताङ्गसिद्धान्त

5.2.3.1.1 स्वामी (राजा)

5.2.3.1.1.1 राजा के आभिगामिकगुण

5.2.3.1.1.2 राजा की प्रज्ञा के गुण

5.2.3.1.1.3 राजा के उत्साहगुण

5.2.3.1.1.4 राजा की आत्मसम्पन्नता

5.2.3.1.1.5 राजा का देवत्व एवं कालिदासीय सन्दर्भ

5.2.3.1.1.6 नीतिनिपुण राजा एवं कालिदासीय सन्दर्भ

5.2.3.1.1.7 राजा की पात्रता एवं कालिदासीय सन्दर्भ

5.2.3.1.1.8 राजा का स्वभाव एवं कालिदासीय सन्दर्भ

5.2.3.1.1.9 राजाका कर्त्तव्य एवं कालिदासीय सन्दर्भ

5.2.3.1.2 अमात्य एवं कालिदासीय सन्दर्भ

5.2.3.1.2.1 अमात्यविषयक भारद्वाज का मत

5.2.3.1.2.2 अमात्यविषयक विशालाक्ष का मत

5.2.3.1.2.3 अमात्यविषयक पराशर का मत

5.2.3.1.2.4 अमात्यविषयक पिशुन का मत

5.2.3.1.2.5 अमात्यविषयक कौणपदन्त का मत

5.2.3.1.2.6 अमात्यविषयक वातव्याधि का मत

5.2.3.1.2.7 अमात्यविषयक बाहुदन्तीपुत्र इन्द्र का मत

5.2.3.1.2.8 अमात्यविषयक कौटिल्य का मत

5.2.3.1.3 जनपद

5.2.3.1.4 दुर्ग एवं कालिदासीय सन्दर्भ

5.2.3.1.4.1 औदकदुर्ग

5.2.3.1.4.2 पार्वतदुर्ग

5.2.3.1.4.3 धान्वनदुर्ग

5.2.3.1.4.4 वनदुर्ग

5.2.3.1.5 कोश एवं कालिदासीय सन्दर्भ

5.2.3.1.5.1 राजकर एवं कालिदासीय सन्दर्भ

5.2.3.1.6 दण्ड (बल) और कालिदासीय सन्दर्भ

5.2.3.1.6.1 राजदण्ड और कालिदासीय सन्दर्भ

5.2.3.1.7 मित्र एवं कालिदासीय सन्दर्भ

5.3 राजतंत्र एवं जनव्यवहार में लिखितकार्यप्रणाली

5.3.1 वादी, प्रतिवादी एवं कालिदासीय सन्दर्भ

5.4 प्रजा की सम्पत्ति का अधिकारी एवं कालिदासीय सन्दर्भ

5.5 षाड्गुण्य एवं कालिदासीय सन्दर्भ

6. षष्ठ अध्याय : कालिदासीय कृतियों में वैज्ञानिकतथ्य 232–247

6.1 कालिदासीय कृतियों में पर्यावरणविज्ञान

6.2 कालिदासीय कृतियों में कृषिविज्ञान

6.3 कालिदास के समय दीपप्रज्वालन की व्यवस्था

6.4 कालिदासीय कृतियों में चिकित्साविज्ञान

6.4.1 कालिदासीय कृतियों में दोहद एवं शास्त्रीयसन्दर्भ

6.4.2 कालिदासीय कृतियों में सर्पविष की चिकित्सा एवं शास्त्रीयसन्दर्भ

6.5 कालिदासीय कृतियों में संगीतस्वरविज्ञान

6.6 कालिदासीय कृतियों में चित्रकलाविज्ञान

6.7 कालिदासीय कृतियों में शकुनविज्ञान एवं शास्त्रीय सन्दर्भ

6.8 कालिदासीय कृतियों में ज्वारभाटा

6.9 कालिदासीय कृतियों में रत्नादि निर्माण की व्यवस्था

6.9.1 स्वर्णपरीक्षण विधि एवं कालिदासीय सन्दर्भ

6.9.2 स्वर्णपरीक्षा का साधन अग्नि एवं कालिदासीय सन्दर्भ

6.9.3 आभूषणधारण की प्रणाली एवं उसका शास्त्रीय महत्त्व

6.10 कालिदास की कृतियों में वस्त्रादिनिर्माण की व्यवस्था

7. उपसंहार 248–252

8. सन्दर्भ–ग्रन्थ सूची 253–262

संक्षिप्त–सङ्केत–सूची

अ०को०	–	अमरकोष
अ०शा०	–	अभिज्ञानशाकुन्तल
अर्थशा०	–	अर्थशास्त्र
आप०ध०	–	आपस्तम्भधर्मसूत्र
ई०प्र०	–	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
ईशा०	–	ईशावास्योपनिषद्
ऋ०	–	ऋग्वेद
ऋ०सं०	–	ऋतुसंहार
कठो०	–	कठोपनिषद्
का०	–	काव्यादर्श
का०प्र०	–	काव्यप्रकाश
का०मी०	–	काव्यमीमांसा
गी०	–	गीता
चा०नी०	–	चाणक्यनीति
छा०	–	छान्दोग्योपनिषद्
तैत्ति०उप०	–	तैत्तिरीय उपनिषद्
ना०शा०	–	नाट्यशास्त्र
नि०	–	निरुक्त
पस्पशा०	–	पस्पशाह्निक
प०ल०म०	–	परमलघुमञ्जुषा
पा०सू०	–	पाणिनिसूत्र
पा०शि०	–	पाणिनीयशिक्षा
बृहदा०	–	बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्र०सू०शा०	–	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य
मनु०	–	मनुस्मृति
म०भा०	–	महाभाष्य
महाभा०	–	महाभारत
माल०	–	मालविकाग्निमित्रम्

मी०श्लो०वा०	–	मीमांसाश्लोकवार्तिक
मे०दू०	–	मेघदूत
विक्र०	–	विक्रमोर्वशीयम्
र०वं	–	रघुवंश
रा०च०	–	रामचरितमानस
कु०स०	–	कुमारसम्भव
श०ब्रा०	–	शतपथब्राह्मण
शु०नी०	–	शुक्रनीति
श्वेता०	–	श्वेताश्वतरोपनिषद्
सां०का०	–	सांख्यकारिका
श्रीमद्भा०	–	श्रीमद्भागवत
याज्ञ०	–	याज्ञवल्क्यस्मृति
यो०सू०	–	योगसूत्र
वाक्य०	–	वाक्यपदीयम्
वे०स०	–	वेदान्तसार
वै०सि०कौ०	–	वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी
वै०भू०सा०	–	वैयाकरणभूषणसार

भूमिका

शास्त्र शब्द 'शासु अनुशिष्टौ'[1] से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ अनुशासन या उपदेश करना है। शास्त्र वे हैं जो लोगों को हित एवं अनुशासन का उपदेश करते हैं, जिनमें लोगों के हित के लिये अनेक प्रकार के कर्तव्य बतलाए गए हैं और अनुचित कृत्यों का निषेध किया गया है।[2] आचार्य राजशेखर ने काव्यमीमांसा में वाङ्मय के दो भेद किये हैं (1) शास्त्र (2) काव्य। शास्त्र के अपौरुषेय और पौरुषेय दो भेद किये हैं। अपौरुषेय श्रुति है, पौरुषेय से वेदमूलक अन्यशास्त्रों का ग्रहण किया है, स्मृतियाँ, आन्वीक्षिकी, मीमांसा इत्यादि। राजशेखर का यह स्पष्ट मत है बिना शास्त्रीय अध्ययन के कोई भी कवि काव्य रचना करने में समर्थ नहीं हो सकता। अतः काव्यनिर्माण से पहले शास्त्रों का ज्ञान आवश्यक है। क्योंकि अंधेरे में रखी वस्तु तब तक दिखाई नहीं देती जब तक दीपक की सहायता न ली जाय। शास्त्रज्ञान के विना काव्यनिर्माण असम्भव है।[3] अत्रि संहिता में कहा गया है कि वेद से बढ़कर कोई दूसरा शास्त्र नहीं है।[4] नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति चारों वेदों से हुई है। भारतीय नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति की विवेचना करते हुए महामुनि भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में उल्लेख किया है कि सम्पूर्ण देवताओं ने ब्रह्मा से प्रार्थना की कि हमें ऐसी मनोरञ्जन की वस्तु दीजिए जो दृश्य और श्रव्य दोनों हो। उनकी प्रार्थना पर ब्रह्मा ने चारों वेदों से सारभाग लेकर पाँचवें वेद (नाट्यवेद) की सृष्टि की। ब्रह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य(संवाद), सामवेद से सङ्गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस के तत्त्वों को लिया।[5]

मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अपने भावों और विचारों को दूसरों तक सम्प्रेषित करे। इसके लिए मनुष्य साधारणतया शब्दों का प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त कभी इंगित से तथा कभी नृत्य–गीत आदि के द्वारा वह अपने भाव प्रकट करता है। मनोरञ्जनार्थ दूसरे का अनुकरण करने की प्रवृत्ति भी मनुष्य में स्वाभाविक है। अतएव धनञ्जय ने दशरूपक में अनुकरण को ही नाट्य का मूल माना है और दूसरे की अवस्था

---

[1] धा०स० 1075, पृ० 398

[2] प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमित्यभिधीयते।।मी०श्लो०वा०,शब्दपरिच्छेदः,श्लोकसंख्या–4

[3] इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यञ्च। शास्त्रपूर्वकत्वात् काव्यानां पूर्वं शास्त्रेष्वभिनिविशेत।नह्यप्रवर्त्तितप्रदीपास्ते तत्त्वार्थसार्थमध्यक्षयन्ति। तच्च द्विधा अपौरुषेयं पौरुषेयञ्च ।अपौरुषेयं श्रुतिः।। का०मी०,के शास्त्रनिर्देश अध्याय 2 में उद्धृत

[4] नास्ति वेदात् परं शास्त्रम्।। अ०सं० 151

[5] एवं सङ्कल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्। नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्।।
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च। यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।। ना०शा० 1.16,17

के आरोप के कारण इसका रूपक नाम माना है।[6] साहित्यदर्पणकार ने काव्य के दृश्य और श्रव्य दो भेद किये हैं।[7] दृश्यकाव्य में नाटकों या रूपकों तथा उपरूपकों का ग्रहण होता है, क्योंकि इनका अभिनय किया जाता है। श्रव्य काव्यों में रघुवंशम्, कुमारसम्भवम् आदि का ग्रहण होता है ,जो केवल पठन या श्रवण के विषय हैं।

महाकवि कालिदास हमारी राष्ट्रीय विरासत के भण्डार के रूप में जाने जाते हैं। विश्व के प्रसिद्ध कवियों में अपनी रचनात्मक कृतियों के लिए उन्हें सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त हुआ है। कालिदास की कल्पना प्राकृतिक सौन्दर्य और मानवीय भावना इन दो तत्त्वों से ओत–प्रोत है। यह सर्वविदित तथ्य है कि महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यकार एवं गीतिकाव्यकार होने के साथ सर्वश्रेष्ठ नाटककार भी थे। उनका सुदीर्घ सांसारिक अनुभूति, शास्त्रीय ज्ञान एवं लोकव्यवहार की प्रगाढ़ प्रवीणता का परिचय उनके नाटकों के अवलोकन से प्राप्त किया जा सकता है। महर्षि अरविन्द ने लिखा है कि कालिदास प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास के सारतत्त्व हैं तथा अन्य सम्पूर्ण सामग्री के अभाव में भी वे उसके सांस्कृतिक इतिहास को आलोकित करते रहेंगें–

Valmiki ,Vyas and Kalidas are the essence of the history of ancient India; if all else were lost, they would still be its sole and sufficient cultural history.[8]

कहने का तात्पर्य यह है कि चेतना का सुस्पष्ट तथा जीवन्त अभिव्यक्तीकरण महाकवि कालिदास के काव्यों में ही दृष्टिगोचर होता है। इनके ग्रन्थों को देखने से ज्ञात होता है कि इनका शास्त्रीय ज्ञान अगाध था। महाकवि कालिदास ने वेदों, दर्शनों, उपनिषदों, रामायण, महाभारत, गीता, पुराणों, आयुर्वेद, धनुर्वेद, सङ्गीतशास्त्र, ज्योतिष, व्याकरण, छन्दशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि का गम्भीर अध्ययन किया था। अतएव स्थान–स्थान पर इनके शास्त्रीय पाण्डित्य के सूचक पद्य मिलते हैं।

एम.आर.कैले महोदय ने कालिदास के शास्त्रीय ज्ञान के विषय में कहा है–

His works bear further testimony to his considerable acquaintance with the Vedas, the Philosophy taught by the Upanishads, the Epics and the Puranas, the Bhagavadgita, the systems of Samkhya, Yoga, and Vedanta

---

[6] अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् ।रूपकं तत्समारोपात्।। द०रू ०1.7

[7] दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम। दृश्यं तत्राभिनेयं तद्रूपारोपात्तु रूपकम्।।सा०द० 6.1

[8] Mithilesh kumar, *kalidas granthavali* ,part 2,page-1

as propounded by Badarayana, Medicine, and the rudiments of Astronomy.[9]

टी.जी.मेनकार महोदय ने अपनी पुस्तक में महाकविकालिदास के शास्त्रीय पाण्डित्य के विषय में मीरासी महोदय के मत को प्रस्तुत किया है–

A critical study of Kalidasa's works reveals his very close acquaintance with and knowledge of the Vedic literature and of the various branches of Indian Philosophy. Mirashi has Discussed this question in some details, substantiating his remarks with quotations from Kalidasa's works(pp.77-78) and his conclusions can be given thus: Kalidasa must have studied a Veda or the Vedas in a gurukula. His inclinations seem to be more towards the Jnakanda than the Karmakanda. His knowledge of the Bhagavadgita is sound. In addition, he seems to have studied the different branches of Indian Philosophy and he seems to have a thorough knowledge of the Yoga system in particular. The occurrence of technical terms from the Nyaya and the Vaisesika is rare yet it might be said that he knew these systems. One has to include in this quite impressive account the knowledge of the Samkhya system, for in the first place, Yoga system goes with the Samkhya system and secondly, one does come across Samkhya concepts again and again in Kalidasa's works.[10]

महाकविकालिदास की कृतियॉ संस्कृतसाहित्य में परमोज्ज्वल दीपक के समान आज भी सभी को अपने ज्ञानविज्ञान से प्रकाशित कर रही हैं। उनके ज्ञानविज्ञान के इसी महत्त्व के कारण विश्वसाहित्य में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

लोकश्रुति के अनुसार महाकविकालिदास उज्जयिनी के सम्राट् विक्रमादित्य के राज्य में नवरत्नों में से एक थे। इस विषय में ज्योतिर्विदाभरण में एक श्लोक उपलब्ध होता है –

धन्वन्तरि–क्षपणका–मरसिंह–शङ्कु–वेतालभट्ट–घटकर्पर–कालिदासाः।

---

[9] M.R.Kale, Kalidas Kumarasambhava, Motilal Banarsidass : Delhi,1981, p-vi

[10] T.G. Mainkar, *Kalidasa: His Art and Thought* , Deshmukh, Prakashan, Budhwar : Poona, page-4

ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य।।[11]

इनके विषय में कुछ किंवदन्तियाँ चल पड़ी, जिसमें एक किंवदन्ती के अनुसार वह महामूर्ख थे। उनका विवाह एक सुयोग्य और कलाप्रवीण राजकुमारी से हुआ। पत्नी द्वारा अपमानित होनें पर उन्होंने देवी काली की उपासना की और उसके वरदान से उन्हें कवित्व शक्ति प्राप्त हुई। महाकवि कालिदास का अपूर्व वैदुष्य को देखकर ऋग्वेद के वाग्सूक्त में वाग्देवी की उक्ति का स्मरण हो आता है–देवता और मनुष्य जिसकी शरण में जाते हैं, उसे मैं ही उपदेश देती हूँ। मैं जिसे चाहूँ उसे बली, स्तोता, ऋषि अथवा बुद्धिमान् कर सकती हूँ।[12] अपने घर लौटने पर कालिदास ने अपनी पत्नी से इस प्रकार कहा–"अनावृतकपाटं द्वारं देहि"। उनकी पत्नी ने उत्तर देते हुए कहा–"अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः"। कालिदास ने पत्नी के प्रश्न का तात्कालिक उत्तर तो दिया ही है, कालान्तर में उसके प्रश्न के तीन पदों को लेकर "अस्ति, कश्चिद्, वाग्। "अस्ति" को लेकर–कुमारसम्भव महाकाव्य की रचना की–"अस्त्युतरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।[13] द्वितीय पद कश्चित् को लेकर मेघदूत नामक गीतिकाव्य की रचना की–कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः।[14] तृतीय पद "वाग्" को लेकर रघुवंश महाकाव्य की रचना की–वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।[15] महाकवि कालिदास ने महाकाव्यों, गीतिकाव्यों और नाटकों की रचना कर अपनी यशः पताका को समग्र विश्व में फैला दिया, यही कारण है कि इनकी प्रसिद्धि विश्व के समस्त देशों में महाकवि के रूप में है और उन–उन देशों के विद्वानों ने इन रचनाओं का अपनी भाषाओं में रूपान्तर करके इनका सादर प्रचार एवं प्रसार किया है। आचार्यों ने अपने–अपने लाक्षणिक ग्रन्थों में काव्य के जिन सिद्धान्तों का विवेचन किया है। उनका निदर्शन हमें महाकविकालिदास की कृतियों में दृष्टिगोचर होता है।

महाकवि कालिदास ने अपनी कृतियों में कहीं पर भी अपने जीवन से सम्बन्धित किसी भी बात का उल्लेख नहीं किया है। महाकवि कालिदास की जन्मभूमि के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है, डॉ० कपिलदेव द्विवेदी जी ने अपनी पुस्तक "संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास" में लिखा है–मेघदूत में कालिदास ने उज्जयिनी के प्रति विशेष

---

[11] कपिलदेव द्विवेदी, संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, अनिल प्रिन्टर्स , इलाहाबाद,संस्करण 2013,पृ० 136

[12] अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ।। ऋग्वेद ,10.125.5

[13] कु०स०1.1, पृ० 47

[14] मे०दू० 1.1, पृ० 28

[15] र०वं० 1.1, पृ० 104

आग्रह और आदर दृभाव प्रदर्शित किया है, इससे ज्ञात होता है कि वे उज्जयिनी के निवासी थे या अधिक समय तक उज्जयिनी में रहे। मेघदूत में उज्जयिनी नगरी के सौन्दर्य, सिप्रा नदी और महाकाल के मन्दिर का विशेष भावुकता के साथ वर्णन मिलता है।

डॉ० वेदप्रकाश शास्त्री जी ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् की भूमिका में महाकवि कालिदास की जन्मभूमि के सन्दर्भ में कहा है– कालिदास की जन्मभूमि के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। कुछ लोग उन्हें बंगाली, कुछ काश्मीरी, कुछ मालवा निवासी तथा कुछ वर्तमान उत्तरप्रदेश का निवासी उन्हें सिद्ध करते हैं, परन्तु अद्यतन खोजों ने उत्तराखण्ड के केदार क्षेत्रान्तर्गत "कविट्ठा" (कवेः स्थितिः यत्रासीत्) को उनका जन्मस्थान प्रतिपादित करने का प्रयास किया है और बताया है कि यहीं के नैसर्गिक वातारण में जन्में और अभिवर्धित होने के कारण कालिदास प्रकृति का सही चित्रण कर पाने में सफल रहे हैं ।[16]

कालिदासग्रन्थावली में पण्डित श्रीरामतेज शास्त्री जी ने लिखा है कि गढ़वाल के विद्वान् मेघदूत में आये हुए "क्रौञ्चरन्ध्र" के वर्णन को देखकर कालिदास को "अस्त्युत्तरस्यां दिशि" ले जाते हैं, क्योंकि वहाँ "क्रौञ्चरन्ध्र" नाम से एक स्थान प्रसिद्ध है।[17]

गीतिकाव्य मेघदूत में कवि ने मेघ को अपनी विरहिणी पत्नी के नाम सन्देश भेजने के प्रसङ्ग में जो उज्जयिनी का मनोहर वर्णन किया है। उस विवेचन से विद्वानों ने कवि को उज्जैन का निवासी माना है।

महाकवि कालिदास के समय के विषय में यद्यपि विद्वानों ने अपने–अपने मत रखें हैं किन्तु इनमें मुख्यरूप से दो मत ही प्रचलित है–प्रथमशताब्दी ई०पू० का मत तथा चतुर्थ शताब्दी या गुप्तकालीनमत। प्रथम मत के अनुसार कालिदास विक्रम सम्वत् के प्रवर्तक उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक थे। द्वितीय मत के अनुसार कालिदास विक्रमादित्य उपाधिधारी चन्द्रगुप्त द्वितीय (चतुर्थ शताब्दी) के आश्रित कवि थे।

जर्मनी के कवि गेटे ने कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तलम् को पढकर अपना हृदयोद्गार प्रकट किया है–

Wouldst thou the young year's blossoms and the fruits of its decline
And all by which the soul is charmed, enraptured, feasted, fed,

---

[16] अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कालिदास,व्याख्याकार– डॉ० वेदप्रकाश शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन रू वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण

[17] कालिदासग्रन्थावली,व्याख्याकार–श्रीरामतेज शास्त्री,सम्पादक–ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, संस्करण 2012, पृष्ठसंख्या–655

Wouldst thou the earth and heaven itself in one sole name combine? I name thee, O Sakuntala! and all at once is said.— Goethe[18]

गेटे इत्यस्य भावः–

वासन्तं कुसुमं फलञ्च युगपद्ग्रीष्मस्य सर्वञ्च यत्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो–
रैश्वर्यं यदि वाञ्च्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम्।।[19]

कविवर बाण हर्षचरित में लिखते हैं नयी नयी मकरन्द भरी पूरी खिली कुसुम मञ्जरियों के समान कालिदास की स्वाभाविक मधुर और सरस काव्योक्तियों में किसे आनन्द नहीं प्राप्त होता अर्थात् सभी आनन्दित होते हैं।[20]

संस्कृत साहित्य के सुप्रसिद्ध कवि कालिदास की कृतियों में अनालोचित शास्त्रीय सन्दर्भ इस विषय पर यह शोधप्रबन्ध लिखा गया है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध षष्ठ अध्यायों में विभाजित हैं। प्रथम अध्याय में वैदिक प्रकरण पर चर्चा की गई है, इस प्रकरण में कालिदास के वैदिक सन्दर्भों को वैदिकसाहित्य में अन्वेषण करने का प्रयास किया गया है। जैसे कालिदास की कृतियों में वेदपाठ की परम्परा, कालिदासीय कृतियों में एकेश्वरतत्त्व की अवधारणा एवं उसका शास्त्रीय पक्ष, कालिदासीय कृतियों में शब्दार्थविषयक अवधारणा का शास्त्रीय पक्ष, वेद में लोकों की अवधारणा एवं कालिदासीय सन्दर्भ,चतुर्वर्ण एवं कालिदासीय सन्दर्भ, कालिदास की रचनाओं में सूर्योपासना का शास्त्रीयमत, यज्ञ के ऋत्विज एवं कालिदासीय सन्दर्भ, कालिदासीय कृतियों में यज्ञाग्नि का स्वरूप एवं शास्त्रीय मत, अश्वमेधयज्ञ एवं कालिदासीय सन्दर्भ, विश्वजितयज्ञ एवं कालिदासीय सन्दर्भ, कालिदास की परमपद की अवधारणा और शास्त्रीय सन्दर्भ, ऋग्वेद में सरस्वती का स्वरूप एवं कालिदासीय सन्दर्भ इत्यादि। द्वितीय अध्याय में दर्शनशास्त्र प्रकरण का विवेचन किया गया है,इसके अन्तर्गत कालिदास की कृतियों में कहाँ–कहाँ दर्शनशास्त्रीय तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं तथा उनका तत् तत् शास्त्रों में कहाँ–कहाँ विवेचन प्राप्त होता है, इन दोनों ही सन्दर्भों को शोधार्थी ने अन्वेषण कर प्रतिपादन करने का प्रयास किया है।

---

[18] Contexts, Subtexts and Pretexts: Literary Translation in Eastern Europe and Russia, edited by Brian James Baer, John Benjamins publishing company, Amsterdam/ Philadelphia, 2011, page-105

[19] कालिदासग्रन्थावली, सीताराम चतुर्वेदी, निबन्धसूची(कालिदास का सन्देश, बलदेव उपाध्याय) उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान,लखनऊ,1997, पृष्ठसंख्या–43

[20] निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुर–सान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते।। ह०च० 1.16

तृतीय अध्याय में धर्मशास्त्रीय प्रकरण का विवेचन किया गया है, कालिदास की कृतियों में धर्मशास्त्रीय सन्दर्भों का अन्वेषण कर धर्मशास्त्रों में खोजने का प्रयास किया गया है। इसके अन्तर्गत षोडश संस्कार, पञ्चमहायज्ञ आदि तथ्यों का विवेचन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में कालिदास के द्वारा उपमा आदि अलंकारों के माध्यम से प्रकट किये गये व्याकरणशास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन एवं पाणिनि के नियमानुसार कालिदासीय कृतियों में कृत्य प्रत्ययान्त, वर्तमानकालिक कृदन्त, भविष्यत्कालिक कृदन्त, भूतकालिक कृदन्त, कर्तृवाचक शब्दों का विवेचन किया गया है।

पञ्चम अध्याय में कालिदास की कृतियों में राजनीतिशास्त्र का विवेचन और तत् –तत् शास्त्रों में वह सिद्धान्त कहाँ दृष्टिगोचर होता है उसका विवेचन किया गया है जिसके अन्तर्गत किस प्रकार राज्य की सुरक्षा की जा सकती है। कालिदास का राजनीतिज्ञान राजनीति शास्त्रों के सिद्धान्तों के अनुरूप था, उन्होंने अपनी कृतियों में सप्ताङ्गसिद्धान्त, चार उपाय, षाड्गुण्य, राजनीति में लेखन का महत्त्व इत्यादि विषयों का विवेचन किया है।

षष्ठ अध्याय में कालिदास की कृतियों में शोधार्थी ने यथामति वैज्ञानिक तथ्यों को अन्वेषण करने का प्रयास किया है, कालिदास की कृतियों में वैज्ञानिक तथ्य नामक इस अध्याय में पर्यावरणविज्ञान, कृषिविज्ञान, चिकित्साविज्ञान, संगीतविज्ञान, चित्रकलाविज्ञान, शकुनविज्ञान, रत्ननिर्माण, स्वर्णपरीक्षणविधि, वस्त्रादिनिर्माण इत्यादि विषयों का विवेचन किया है।

शोधार्थी ने अपने गुरुजनों से अपनी योग्यता के अनुसार जिस प्रकार से शास्त्रीय तथ्यों को ग्रहण किया है, तदनुसार ही विवेचन करने का प्रयास किया है, किन्तु कालिदास के शब्दों में जब तक विद्वान् लोग सन्तुष्ट नहीं हो जाते हैं तब तक अत्यधिक शिक्षित व्यक्ति के मन में भी अविश्वास ही बना रहता है किन्तु जब विद्वान सन्तुष्ट होते हैं तब ही वह अपने कार्य के प्रति सन्तोष अनुभव करता है–

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः।।[21]

मानव मन की चञ्चलता के कारण त्रुटियाँ होना स्वाभाविक है, किन्तु विद्वज्जन त्रुटियों का परिमार्जन कर ही अवलोकन करते हैं–

गच्छतः स्खलतः क्वापि भवत्येव प्रमादतः। हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनः।।

मैं विनयावनत होकर आशा करता हूँ विद्वज्जन मेरी त्रुटियों के लिए मुझे परिमार्जन के लिए मुझे निर्देशित करने की कृपा करेंगे।

---

[21] अ०शा० 1.2,पृ० 428

प्रथम अध्याय

कालिदासीय कृतियों में वैदिक प्रकरण

1.1 वेद

भारतीय धर्म, दर्शन और संस्कृति को जानने का मूलभूत आधार वेद है। मनु ने वेदों को अखिल ज्ञान विज्ञान निधि तथा धर्म के मूल में वेद को प्रमाण बताया है।[22] वेद के अन्तर्गत अनेकों ग्रन्थ आते हैं जिनको ही वैदिक साहित्य कहा जाता है। वैदिक साहित्य को विश्व के प्राचीनतम साहित्य होने का गौरव प्राप्त है। भारतीयों के आचार–विचार, रहन–सहन, धर्म–कर्म को भली–भांति समझने के लिए वेद का ज्ञान परम आवश्यक है। आधुनिक सन्दर्भ में भी ज्ञान–विज्ञान के आदि स्रोत के रूप में वेद के अध्ययन की महत्ता स्वीकार की जाती है।

वेद शब्द ज्ञानार्थक विद् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ है ज्ञान की राशि। हमारे ऋषियों ने जो ज्ञान अपनी आर्ष दृष्टि से प्राप्त किया था, वह ज्ञानराशि ही वेद है। जिससे विद्वान परमात्मा और जगत का स्वरूप जानते हैं। पाणिनि व्याकरण के अनुसार वेदशब्द भिन्न–भिन्न धातुओं से निष्पन्न होता है। 1.विद् ज्ञाने[23] 2. विद् सतायाम्[24] 3.विद् विचारणे[25] 4.विद्लृ लाभे।[26] विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते एभिर्धर्मादि–पुरुषार्था इति वेदाः। जिनके द्वारा हमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय के अस्तित्व का बोध होता है। इनसे पुरुषार्थ चतुष्टय का ज्ञान प्राप्त होता है। इनसे पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति होती है। इनमें पुरुषार्थ चतुष्टय का वर्णन किया गया है। आचार्य सायण ने तैत्तिरीय संहिता भाष्य की भूमिका में वेदशब्द की व्याख्या की है। इष्टप्राप्ति और अनिष्ट निवारण का जो अलौकिक उपाय बताता है, वही वेद है।[27] वस्तुतः इष्ट और अनिष्ट क्या है? महाभारत में कहा गया है कि जिस व्यक्ति को जो–जो विषय प्रिय होता है वही उसके लिए सुखरूप बताया गया है और जो अप्रिय होता है उसे ही दुःखरूप कहा गया है। प्रत्येक व्यक्ति इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट निवारण की कामना

---

[22] वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। ।मनु०2.6,पृ० 24
[23] धा०सं० 1064, पृ० 396
[24] धा०सं० 1171,पृ० 404
[25] धा०सं० 1451,पृ० 413
[26] धा०सं० 1433, पृ० 412
[27] इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति, स वेदः।
वैदिक साहित्य एवं संस्कृति ,कपिल देव द्विवेदी, पृ० 4

करता है। इसी के लिए उसकी कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति होती है। किन्तु जब व्यक्ति इष्ट और अनिष्ट दोनों की ही कामना नहीं करता तब ज्ञानयो विधि प्रवृत्त होती है।[28]

वेद का वेदत्व इसी में है कि वे उस उपाय का ज्ञान कराते हैं, जिसको प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा नहीं जाना जा सकता।[29] मनु ने वेद को पितरों, देवों तथा मनुष्यों का सनातन एवं सर्वदा विद्यमान रहने वाला चक्षु कहा है।[30]

वेद के अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग होता है श्रुति, निगम, आगम, त्रयी, छन्दस् आम्नाय, स्वाध्याय। मनु कहते हैं श्रुति शब्द वेद का वाचक है।[31] वेदों के लिए श्रुति शब्द का प्रयोग इसलिए किया जाता है, क्योंकि इन्हें गुरु–शिष्य परम्परा से श्रवण के द्वारा सुरक्षित रखा जाता है। गुरु परम्परागत पद्धति से शिष्यों को वेद पढ़ाते हैं और शिष्य श्रवणमात्र से स्मरण करते हैं, इस में ध्यान दिया जाता है कि स्वर और उच्चारण सम्बन्धी कोई त्रुटि न हो। श्रुति शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होता है, वेदों के साथ–साथ ब्राह्मणग्रन्थों एवं उपनिषदों के लिए भी श्रुति शब्द का प्रयोग किया जाता है। वेदो को साभिप्राय, सुसंगत और गम्भीर अर्थ बताने के कारण निगम कहा जाता है।[32] आगम शब्द वेद के लिए प्रयुक्त होता है, कालिदास भी वेदाध्ययन के लिए आगम शब्द का प्रयोग करते हैं।[33] मीमांसादर्शन में त्रयी शब्द तीन प्रकार की रचना का बोधक है और इसके अन्तर्गत चारों वेदों को रखा गया है। पद्यात्मक रचना ऋक् है, गद्यात्मक रचना यजुः और गीतात्मक रचना साम है।[34] इस प्रकार अथर्ववेद भी त्रयी के अन्तर्गत है। वेदों के लिए छन्दस् शब्द का प्रयोग किया जाता है, पाणिनि ने बहुलं छन्दसि"[35] इन सूत्रों के द्वारा वेदों को छन्दस् कहा है, आचार्य यास्क के अनुसार छन्दांसि छादनात्।[36] छन्दस् शब्द छदि संवरणे[37] इस धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है ढ़कना या आच्छादित करना। अपने विचारों को एक क्रमबद्ध रूप में पद्य में बद्ध किया जाता है, अतः पद्यात्मक रचना को छन्द कहा जाता है। वेदों के लिए आम्नाय शब्द का प्रयोग होता है, आम्नाय शब्द म्ना अभ्यासे[38]

---

[28] यद् यत्प्रियं यस्य सुखं तदाहुस्तदेव दुःखं प्रवदन्त्यनिष्टम्।
इष्टं च मे स्यादितरच्च न स्यादेतत्कृते ज्ञानविधिः प्रवृत्तः।।महाभा० शान्तिपर्व, 201.10,पृ० 612

[29] प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद वेदस्य वेदता।। ऐतरेय ब्राह्मण, सायणभाष्यभूमिका

[30] पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्। मनु० 12.94, पृ० 457

[31] श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो।मनु० 2.10, पृ० 24

[32] निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्।।भा०पु 1.1.3, पृ० 14

[33] तस्यान्वये भूपतिरेष जातः प्रतीप इत्यागमवृद्धसेवी।। र०वं० 6.41, पृ० 91

[34] तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः शब्दः। मीमांसासूत्र 2.1.35–37

[35] पा०सू० 2.4.39,73,76

[36] नि० 7.12, पृ० 214

[37] चुरादि, धा०सं० 1578, पृ० 419

[38] भ्वादि, धा०सं० 929,पृ० 25

धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ वेदों के प्रतिदिन अभ्यास या स्वाध्याय पर बल देना है, आचार्य दण्डी ने वेदों के लिए आम्नाय का प्रयोग किया है–अधीती चतुर्षु आम्नायेषु अर्थात् चारों वेदों का जानने वाला। श्रुति के ही समान आम्नाय शब्द ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों का भी वाचक है। वेदों के लिए स्वाध्याय शब्द का भी प्रयोग होता है, शतपथब्राह्मण में वेदों के लिए स्वाध्याय शब्द का प्रयोग हुआ है–स्वाध्यायोऽध्येतव्यः[39] अर्थात् वेदों का अध्ययन करना चाहिए। तैत्तिरीयोपनिषद् में भी वेदों के अर्थ में स्वाध्याय शब्द का प्रयोग हुआ है– स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।[40] अर्थात् वेदों के अध्ययन और प्रवचन में कभी आलस्य नहीं करना चाहिए। स्वाध्याय शब्द स्व अर्थात् आत्मा के विषय में मनन–चिन्तन तथा प्रतिदिन अभ्यास पर बल देता है।

1.1.1 वैदिक वाङ्मय (वेद मन्त्रसंहिता– ब्राह्मणग्रन्थ – आरण्यक –उपनिषद)

1.1.1.1 ऋग्वेदसंहिता

शाखा	ब्राह्मण	आरण्यक	उपनिषद्	कल्पसूत्र
शाकल	ऐतरेय	ऐतरेय	ऐतरेय	श्रौतसूत्र (आश्वलायन,शांखायन श्रौतसूत्र)
बाष्कल	कौषीतकि(शांखायन)	कौषीतकि शांखायन	कौषीतकि	गृह्यसूत्र (आश्वालायन,शांखायन(शाम्बव्य)
			बाष्कल मन्त्रोपनिषद्	

[39] श०ब्रा० 11.5.6.3
[40] तैत्ति० 1.11.1

1.1.1.2 शुक्लयजुर्वेदसंहिता

शाखा	ब्राह्मण	आरण्यक	उपनिषद्	कल्पसूत्र
माध्यन्दिन (वाजसनेयि)	शतपथब्राह्मण	बृहदारण्यक	ईशावास्योपनिषद्,	श्रौतसूत्र (कात्यायन श्रौतसूत्र)
काण्व			बृहदारण्यकोपनिषद्	गृह्यसूत्र(पारस्कर गृह्यसूत्र)
				शुल्बसूत्र (बौधायन, मानव, आपस्तम्ब, कात्यायन, मैत्रायणीय, हिरण्यकेशि(सत्याषाढ़, वाराह शुल्बसूत्र)

1.1.1.3 कृष्णयजुर्वेदसंहिता

शाखा	ब्राह्मण	आरण्यक	उपनिषद्	कल्पसूत्र
तैत्तिरीय	तैत्तिरीय ब्राह्मण	तैत्तिरीय आरण्यक	तैत्तिरीयोपनिषद	श्रौतसूत्र(बौधायन, वाधूल, मानव, भारद्वाज, आपस्तम्ब, काठक,सत्याषाढ, वाराह, वैखानस श्रौतसूत्र
मैत्रायणीय			कठोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, महानारायणोपनिषद्	गृह्यसूत्र(बौधायन, मानव, भारद्वाज, आपस्तम्ब, काठक, आग्निवेश्य,हिरण्यकेशि, वाराह, वैखानस, चारायणीय, बैजवाप गृह्यसूत्र
कठ (काठक) कपिष्ठल–कठ			मैत्रायणी	शुल्बसूत्र शुक्लयजुर्वेदवत्

1.1.1.4 सामवेदसंहिता

शाखा	ब्राह्मण	आरण्यक	उपनिषद्	कल्पसूत्र
कौथुम	ताण्ड्य , षड्विंश , सामविधान , आर्षेय , दैवत ,उपनिषद्ब्राह्मण, संहितोपनिषद् , वंश ब्राह्मण, जैमिनीयब्राह्मण	तवल्लकार आरण्यक,	छान्दोग्योपनिषद्	श्रौतसूत्र(आर्षेयकल्पसूत्र, क्षुद्रकल्पसूत्र, जैमिनीय श्रौतसूत्र, लाट्यायनसूत्र, द्राहायणश्रौतसूत्र,निदानसूत्र, उपनिदानसूत्र।
राणायनीय			केनोपनिषद्	गृह्यसूत्र(गोभिल, कौथुम, खादिर, द्राह्यायण, जैमिनीयगृह्यसूत्र
जैमिनीय	जैमिनीय ब्राह्मण (आर्षेय), जैमिनीय तवल्लकार, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण			

1.1.1.5 अथर्ववेदसंहिता

शाखा	ब्राह्मण	आरण्यक	उपनिषद्	कल्पसूत्र
शौनक	गोपथब्राह्मण		प्रश्नोपनिषद्	(वैतान श्रौतसूत्र)
पैप्पलाद			मुण्डकोपनिषद् माण्डूक्योपनिषद्	गृह्यसूत्र (कौशिकसूत्र)

1.1.1.6 वेदों के उपवेद

वेद को चार भागों में बाँटा गया है, इन चारों वेदों के उपवेद भी हैं। भागवतपुराण के अनुसार वेदों के उपवेद हैं।[41]

1. ऋग्वेद– आयुर्वेद
2. यजुर्वेद– धनुर्वेद
3. सामवेद– गान्धर्ववेद
4. अथर्ववेद– स्थापत्य, इतिहास, पुराण

सुश्रुतसंहिता के अनुसार आयुर्वेद अथर्वेद का उपाङ्ग है।[42]

---

[41] ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः।
शास्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात्क्रमात्।।
आयुर्वेदं धनुर्वेदं गान्धर्वं वेदमात्मनः।
स्थापत्यं चासृजद् वेदं क्रमात् पूर्वादिभिर्मुखैः।।श्रीमद्भा० 3.12.37–38

[42] इह खल्वायुर्वेदं नामोपाङ्गमथर्ववेदस्य।। सु०सं०, सूत्रस्थानम् ,1.6, पृ० 2

1.1.1.7 वेदांग

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, छन्द और निरूक्त –ये छः वेदाङ्ग है। छन्द को वेदों का पाद, कल्प को हाथ, ज्योतिष को नेत्र, निरुक्त को कान, शिक्षा को नाक और व्याकरण को मुख कहा गया है।[43]

शिक्षा – इसमें वेद मन्त्रों के उच्चारण करने की विधि बताई गई है।

कल्प – वेदों के किस मन्त्र का प्रयोग किस कर्म में करना चाहिये, इसका कथन किया गया है। इसकी तीन शाखायें हैं– श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र।

व्याकरण – इससे प्रकृति और प्रत्यय आदि के योग से शब्दों की सिद्धि और उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित स्वरों की स्थिति का बोध होता है।

निरुक्त– वेदों में जिन शब्दों का प्रयोग जिन–जिन अर्थों में किया गया है, उनके उन–उन अर्थों का निश्चयात्मक रूप से उल्लेख निरूक्त में किया गया है।

ज्योतिष – इससे वैदिक यज्ञों और अनुष्ठानों का समय ज्ञात होता है।

छन्द–वेदों में प्रयुक्त गायत्री, उष्णिक आदि छन्दों की रचना का ज्ञान छन्दशास्त्र से होता है।

1.1.1.8 वेदों की विशेषताएँ

भूतं भव्यं भविष्यञ्च च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।[44] इस भारतीय मान्यता के अनुसार अखिल ज्ञानराशि वेदों में समस्त विद्याओं का मूल स्वरूप विद्यमान है। वेद अपौरुषेय एवं नित्य होने के कारण भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि मानवीय दोषों से सर्वथा परे हैं। अतः वेदों में जिस विद्या का मूलस्वरूप प्राप्त है, उसका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध हो जाता है। वेद धर्म की आधारशिला हैं। धर्म के मूलतत्वों को जानने के एकमात्र साधन वेद हैं–वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।[45] मनु ने वेदों को समस्त ज्ञान का आधार मानकर उन्हें सर्वज्ञानमय" कहा है अर्थात् वेदों में सभी प्रकार के ज्ञान और विज्ञान के सूत्र विद्यमान हैं जैसे ज्योतिष, गणित, विमान विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान,खगोलविज्ञान, अध्यात्म, योग, उपासना, यज्ञ, राजनीति , समाजशास्त्र, दर्शनशास्त्र और आयुर्वेद आदि समस्त विषय वेदों में सन्निहित है। मनुष्य की जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त जितनी भी समस्याएँ व्यक्तिगत, पारिवारिक, राजनैतिक ,सामाजिक और आर्थिक आदि है उन सबका समाधान किसी न किसी रूप में वेदों में

---

[43] छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयत।। पा०शि० 41,42,पृ० 673, 674

[44] मनु० 12.97,पृ० 458

[45] मनु०2.6, पृ० 24

प्राप्त होता है।[46] महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण महाभाष्य में वेदाङ्गों के सहित वेद का अध्ययन ब्राह्मण का अनिवार्य कर्त्तव्य बताया है।[47] वेद का अभ्यास परम तप कहा गया है ।[48] भारतीय संस्कृति का वास्तविक अध्ययन हमें वैदिक वाङ्मय से प्राप्त होता है। प्राचीन भारत में वस्तुओं का नामकरण एवं मनुष्यों के कर्त्तव्यों का निर्धारण वेद से ही होता था।[49] वेद हमें सन्मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं, जीवनोपयोगी सभी साधनों को बताते हैं ,हम कैंसे आर्थिक दृष्टि से, राजनीतिक दृष्टि से, सामाजिक दृष्टि से अपने जीवन को सुदृढ़ कर सकते हैं, आर्थिक दृष्टि से आगे बढ़ना है, तो दो गुणों की आवश्यकता है।[50] चरित और उत्थित। चरित अर्थात् चरित्र की शुद्धि एवं व्यवहार कुशलता। उत्थित अर्थात् श्रम, दृढ़, निश्चय और उत्साह। अर्थशास्त्र का मूलमन्त्र है, आदान–प्रदान,लेन–देन। यजुर्वेद के इस मन्त्र में इसका सुन्दर वर्णन है–देहि मे ददामि ते, नि मे धेहि नि त दधे। निहारं च हरासि मे, निहारं नि हराणि ते।[51] वेदों में न केवल अर्थशास्त्र अपितु राजनीतिशास्त्र के भी गूढ़रहस्यों का दर्शन होता है। यजुर्वेद में कहा गया है कि हमें राष्ट्र रक्षा में सदैव उत्तमशासन व्यवस्था के सहित जागरूक रहना चाहिए।[52] वेद में प्रजातंत्रीय व्यवस्था को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[53] वैदिक काल में राजा निर्वाचन से चुना जाता था।[54] उस समय सभा, समिति और संसद् की व्यवस्था थी।[55] वेदों में हमें दार्शनिक सिद्धान्त, समाजशास्त्र, अध्यात्म, मनोविज्ञान, भाषाविज्ञान, नाट्यशास्त्र, काव्यशास्त्र, आयुर्वेद, गणित इत्यादि शास्त्रों का विवेचन मन्त्रों में प्राप्त होता है। शतपथ ब्राह्मण में तो वेदों के अध्ययन का अत्यन्त महत्त्व बताया गया है।[56]

1.1.1.9 वेदों की अपौरुषेयता

---

[46] यः कश्चिद् कस्यचिद् धर्मो, मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे, सर्वज्ञानमयो हि सः।। मनु०2.7, पृ० 24

[47] ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।।महाभा०,पस्पशा०,पृ० 21

[48] वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ।मनु० 2.166, पृ० 162

[49] सर्वेषां तु स नामानि, कर्माणि च पृथक् –पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ, पृथक् संस्थाश्च निर्ममे। मनु०1.21, पृ० 18

[50] शुनं नो अस्तु चरितमुत्थितं च। अथर्व० 3.15.4, पृ० 20

[51] यजु० 3.50, पृ० 8

[52] वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः।।यजु० 9.23, पृ० 24

[53] महते जानराज्याय।। यजु० 9.40, पृ० 25

[54] विशस्त्वां सर्वा वाञ्छन्तु । अथर्व० 6.87.1, पृ० 66
त्वां विशो वृणतां राज्याय।।अथर्व० 3.4.2, पृ० 17

[55] सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।।अथर्व० 7.12.1, पृ० 76
सप्त संसदः। अथर्व० 20.110.2, पृ० 222

[56] यावन्तं ह वा इमां पृथिवीं वित्तेन पूर्णा ददत् लोकं जयति, त्रिस्तावन्तं जयति, भूयांसं चाक्षय्यम् य एवं विद्वान् अहरहः स्वाध्यायमधीते । तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः ।। शत०ब्रा०11.5.6.3–7

वेद अपौरुषेय है, वेदों की रचना करने वाला कोई भी व्यक्ति विशेष नहीं है। वैदिक ज्ञान मन्त्रों में अभिव्यक्त हुआ है। इन मन्त्रों का वैदिक ऋषियों ने प्रथम बार तपोबल से दर्शन किया था, इसलिए परम्परा के अनुसार वे ऋषि मन्त्रद्रष्टा कहे जाते हैं, मन्त्राकर्ता नहीं। सृष्टि के प्रारम्भ में जिस प्रकार ईश्वर ने लोक के अनुग्रह के लिए सूर्य, चन्द्र, जल, वायु आदि को प्रगट किया, उसी प्रकार मनुष्यमात्र के मार्ग दर्शन के लिए वेदों का ज्ञान परमसिद्ध ऋषि मुनियों को प्रदान किया। उन्होंने उस ज्ञान का प्रचार प्रसार किया। जिस–जिस ऋषि ने जिन मंत्रों को साक्षात्कार और प्रचार किया, उस मंत्र के साथ उनका नाम स्मृतिचिह्न के रूप में रखा गया है। उन्होंने दैवी प्रतिभा के सहारे अपने प्रातिभ चक्षुओं से वेद के मन्त्रों का दर्शन किया था।[57] युग की समाप्ति पर अदृश्य हुए मन्त्रों को ऋषिलोग पुनः तपस्या से प्राप्त करते हैं।[58] ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, शतपथब्राह्मण, एवं बृहदारण्यकोपनिषद् आदि में वर्णन प्राप्त होता है कि चारों वेद उस परमात्मा से ही प्राप्त हुए हैं। उसने ही अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा ऋषियों को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान प्रदान किया है। ऋग्वेद ,यजुर्वेद और अथर्ववेद का कथन है कि उस विराट् पुरुष से ऋक्, यजुः, साम और छन्द(अथर्ववेद)उत्पन्न हुए ।[59] अथर्ववेद में वर्णित है कि चारों वेद विश्व के आधारभूत ईश्वर से प्रादुर्भूत हुए ।[60] शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि ये चारों वेद उस ब्रह्म के श्वास–रूप हैं।[61] मुण्डकोपनिषद् कहता है उसी परमात्मा के द्वारा प्रकाशित ज्ञान ही ऋग्वेद, साम और यजु है।[62] श्वेताश्वेतर उपनिषद् में वर्णन है कि परमात्मा ने वेद का ज्ञान सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को प्रदान किया।[63] वेद अपौरुषेय और स्वतः आविर्भूत हैं, इसकी विवेचना में पूर्वमीमांसाकार जैमिनि की युक्ति है।[64] कि जो वस्तु जिसके द्वारा निर्मित होती है उसके साथ उसके कर्ता का स्मरण किया जाता है किन्तु वेद के कर्ता का

---

[57] साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः।। निरुक्त 1.20

[58] युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान्महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ।। ब्र०सू०शा० 1.3.29 की व्याख्या में उद्धृत

[59] तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।।ऋ० 10.90.9, पृ० 382 यजु० 31.7, पृ० 86 अथर्व० 19.6.13, पृ० 183

[60] यस्माद् ऋचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।। अथर्व० 10.7.20, पृ० 119

[61] एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद्
ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।। श०ब्रा० 14.5.4.10, बृहदा० 4.5.11

[62] तस्मादृचः सामयजुर्षि दीक्षाः।। मु० 4.1.6

[63] यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।।श्वेताश्व० 6.18

[64] उक्तन्तु शब्दपूर्वत्वम्।। मी०सू० 1.28

आज तक किसी को स्मरण नहीं है। वेद को भारतीय परम्परा में स्वतः प्रमाण माना जाता है। भारतीय मनीषा के अनुसार वेद सर्वथा नित्य है।[65]

1.2 कालिदास की कृतियों में वेदपाठ की परम्परा

हमारी भारतीय परम्परा में वेदों के अध्ययन का अत्यन्त महत्त्व है। मनुस्मृति में कहा गया है कि आलस्य का त्यागकर प्रतिदिन वेदों का अभ्यास करना चाहिए।[66] वेदों का अभ्यास निःश्रेयस प्रदान करने वाला है।[67] कालिदास यह मानते हैं कि वेदमन्त्रों का पाठ व्यक्ति को निःश्रेयस प्रदान करने वाला है इसीलिए उन्होंने पुरोहितो द्वारा राजा अतिथि को विजय प्रदान करने वाले अथर्ववेद के मन्त्रों से उनके अभिषेक का विवेचन किया है।[68] निःश्रेयस की प्राप्ति के निमित्त ही आचार्य प्रतिदिन नित्यकर्म से निवृत्त होने के अनन्तर अपने शिष्यों को वेद अध्ययन के लिए आज्ञा देते है।[69] कालिदास भी वर्णन करते हैं कि वसिष्ठ ऋषि के शिष्य आश्रम में प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर उन वेद मन्त्रों का उच्चारण करते हैं।[70] जिनका प्रारम्भ ऊँकार से होता है, जिनके उच्चारण में उदात, अनुदात, स्वरित इन तीन स्वरों का विशेष ध्यान दिया जाता है ताकि ज्योतिष्टोमादि यज्ञों का जो फल स्वर्गादि है उस की प्राप्ति में किसी प्रकार की बाधा न आये।[71] यहाँ स्वर्ग केवल उपलक्षण है अर्थात् वेद में कर्मकाण्ड विधि से स्वर्गादि की प्राप्ति और ज्ञानकाण्ड से मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन है। मनु कहते हैं वेद के प्रारम्भ में ऊँकार का उच्चारण करना चाहिए।[72] यास्क निरुक्त में कहते हैं कि वेद के प्रारम्भ में और अन्त में प्रणव ऊँकार का उच्चारण अवश्य करना चाहिए क्योंकि यह पूर्वापर के समस्त पापों को नष्ट कर देता है।[73] मनु कहते हैं

---

[65] अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।। ब्र०सू०शा० 1.3.28, की व्याख्या में उद्धृत

[66] वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।।मनु० 4.147,पृ० 380

[67] वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणाञ्च संयमः।
अंहिसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम्।।मनु० 12.83 पृ० 474

[68] पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्ववभिः।
उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेकं द्विजातयः।।र०वं० 17.13, पृ० 237
तस्य सन्मन्त्रपूताभिःस्नानमद्भिः प्रतीच्छतः।
ववृधे वैद्युतस्याग्नेर्वृष्टिसेकादिवद्युतिः।।र०वं० 17.16, पृ० 237

[69] श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन्गिरः।
तूष्णीं शयानाः प्राग्यद्वद्ब्राह्मणा नियमात्यये।। भा०पु० 10.20.9

[70] तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानाम्(तस्य वसिष्ठस्य शिष्याणाम् अध्ययनेन अपररात्रे वेदपाठेन निवेदितम् अवसानं यस्यास्तां निशां निनाय)।। र०वं०1.95, मल्लिनाथव्याख्या, पृ० 21

[71] उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्।
कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम्।।कु०स० 2.12, पृ० 53
प्रणवश्छन्दसामिव।।र०वं० 1.11, पृ० 104

[72] ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति।। मनु० 2.74, पृ० 114

[73] ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वतः।
दहत्येनः कृतं पूर्वं परस्ताच्च विशेषतः।। निरुक्त, कु०स० 2.12 मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत

प्रजापति ने अकार ,उकार ,मकार तथा भूः, भुवः, स्वः तीनों व्याहृतियों को इन तीनों वेदों ऋग्वेद , यजुर्वेद और सामवेद से ग्रहण किया है।[74] वेदमन्त्र के उच्चारण में उदात ,अनुदात, स्वरित स्वरों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। यदि वेदमन्त्रों का उदात्त , अनुदात्त, स्वरित के अनुसार उच्चारण नहीं होता है तो वह मन्त्र ही वाग्वज्र बनकर उस यजमान को ही नष्ट कर देता है। हम दुष्ट शब्दों का प्रयोग न करें इसलिए व्याकरण शास्त्र का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। [75] कालिदास कहते हैं "न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्"[76] वेद मन्त्रों के उच्चारण में इन तीन स्वरों का विशेष ध्यान रखना चाहिए। वेदों के अध्ययन में स्वरों का अत्यन्त महत्त्व है। वेदमन्त्रों के शुद्ध उच्चारण और अर्थबोध के लिए स्वरों का ज्ञान आवश्यक होता है। किसी शब्द के किसी अक्षर को स्वर में पढ़ने पर ही उस शब्द के अर्थ का निर्णय होता है। यदि किसी शब्द के अक्षर के स्वर को बदल दिया जाय तो उसके अर्थ में परिवर्तन होता है। जैसे इन्द्रशत्रुः शब्द है इस शब्द में इन्द्र और शत्रु ये दो पद है। यदि आदि पद को उदात्त समझा जाये तो इसका विग्रह बहुव्रीहि समास में इन्द्रः शत्रुः शातयिता यस्य सः अर्थात् इन्द्र है मारने वाला जिसको और यदि अन्तिम पद को उदात माना जाय तो इसका विग्रह तत्पुरुष समास में इन्द्रस्य शत्रुः शातयिता होगा जिसका अर्थ है इन्द्र को मारने वाला। इस प्रकार स्वर के परिवर्तन से अर्थ में भी परिवर्तन हो जाता है। अतः वेदार्थ को समझने के लिए स्वरों का ज्ञान आवश्यक होता है ।[77]

वैदिक वाङ्मय में तीन स्वर उदात, अनुदात, स्वरित हैं। आचार्य पाणिनि ने इन तीनों स्वरों की चर्चा अपने सूत्रों में की है।

---

[74] अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।
वेदत्रयान्निरदुहद्भूर्भुवःस्वरितीति च।।मनु० 2.76, पृ० 116

[75] दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।
दुष्टाञ्छब्दानान्मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्।। महाभा०, पस्पशा०, पृ० 27

[76] नीयन्ते एभिरर्थविशेषा इति न्यायाः स्वराः। उक्तञ्च स्वरविशेषादर्थप्रतिपत्तिः। यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् इति । यासां गिरां त्रिभिः न्यायैः उदात्तानुदात्तस्वरितैः स्वरैः उदीरणम् उच्चारणम्।।कु०स० 2.12, पृ० 24 मल्लिनाथ टीका में

[77]स्वरेण स्वरतः। आद्यादित्त्वात्तसि मिथ्याप्रयुक्त इति। यदर्थप्रतिपादनाय प्रयुक्तस्ततोऽर्थान्तरं स्वरवर्णदोषात्प्रतिपादयन्नाभिमतमर्थमाहेत्यर्थः। वागेव वज्रो हिंसकत्वात्। यथेन्द्रशत्रुशब्दः स्वरदोषाद्यजमानं हिंसितवानित्यर्थः। इन्द्रस्याभिचारो वृत्रेणारब्धस्तत्रेन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति मन्त्र ऊहितः। तत्रेन्द्रस्य शातयिता शमयिता भवेति क्रियाशब्दोऽत्र शत्रुशब्द आश्रितो न तु रूढ़िशब्दः, तदाश्रयणे हि बहुव्रीहितत्पुरुषयोरर्थाभेदः। तत्रेन्द्रामित्रत्वे सिद्धे सतीन्द्रस्य शत्रुर्भवेत्यार्थे प्रतिपाद्येऽन्तोदात्ते प्रयोक्तव्य आद्युदात्त ऋत्विजा प्रयुक्त इत्यर्थान्तराभिधानादिन्द्रः एव वृत्रस्य शातयिता सम्पन्नः।। महाभा०, पस्पशा०, पृ० 28–29

उच्चैरुदातः[78]—तालु आदि स्थानों से वर्णों का उच्चारण होता है, उन स्थानों में जो उर्ध्वभाग हैं उन उर्ध्वभागों से उच्चरित जो अच् है वह उदात संज्ञक होता है। महाभाष्यकार कहते हैं कि आयामो दारुण्यमणुता रवत्येत्युच्चैःकराणि शब्दस्य।।[79] आयामः अर्थात् शरीर के सब अवयवों को सख्त कर लेना। दारुण्यम् अर्थात् स्वर में रूखाई होना, अणुता रवस्य अर्थात् कण्ठ को संकुचित कर लेना। ऐसे—ऐसे यत्नों से बोले जाने वाला जो अच् है। वह उदात्त संज्ञक होता है। प्रायः वेद में उदातस्वर का कोई चिह्न नहीं होता है।

नीचैरनुदात्तः[80]— तालु आदि स्थानों में जो नीचै के भागों से बोला जाने वाला अच् है वह अनुदात्तसंज्ञक होता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि कहते हैं अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता रवस्येति नीचैःकराणि शब्दस्य।[81] अन्ववसर्ग अर्थात् शरीर के अवयवों को ढ़ीले कर देना। मार्दवम् अर्थात् स्वर को मृदु कोमल करके बोलना। उरुता रवस्य अर्थात् कण्ठ को फैला कर बोलना। इन—इन प्रयत्नों से बोला जाने वाला अच् अनुदात्तसंज्ञक होता है। अनुदात्त स्वर का चिह्न सामान्यतया नीचै पड़ी रेखा होती है।

समाहारः स्वरितः[82]— जिस अच् में उदात्त तथा अनुदात्त दोनों गुणों का समाहार हो अर्थात् थोड़ी—थोड़ी मात्रा में दोनों ही गुण मिले हों। ऐसा अच् स्वरित संज्ञक होता है। स्वरित का चिह्न वेदमन्त्रों में ऊपर खड़ी रेखा होती है।

1.3 कालिदासीय कृतियों में एकेश्वरतत्त्व की अवधारणा एवं उसका शास्त्रीय पक्ष

महाकवि कालिदास ने रघुवंशम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, मालविकाग्निमित्रम् और विक्रमोर्वशीयम् के मङ्गलाचरण में जगदाधार भगवान् शिव का स्मरण किया है। वस्तुतः मङ्गलाचरण क्यों किया जाता है, विघ्नों के निवारण के लिए, क्योंकि एक भी विघ्न रोग पाप आदि के समान अभीष्ट को अनिष्ट में परिवर्तित कर देता है। यदि नमस्कारात्मक , आशीर्वादात्मक ,वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गल प्रारम्भ में किये जाते हैं तो शास्त्र माङ्गलिक एवं लोकप्रिय होता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार जिन ग्रन्थों के आदि , मध्य और अन्त में मङ्गलाचरण किया जाता है उन शास्त्रग्रन्थों की प्रतिष्ठा होती है, इनका अध्ययन करने वाले आयुष्मान् और यशस्वी ही सिद्ध होते हैं।[83] कालिदास ने मङ्गलाचरण के दो

---

[78] पा०सू० 1.2.29, म०भा०
[79] पा०सू० 1.2.29, म०भा०
[80] पा०सू० 1.2.30
[81] पा०सू० 1.2.30 ,म०भा०
[82] पा०सू० 1.2.32
[83] मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति।।पस्पशा०,पृ० 38

हेतु बताये हैं पहला जो अपनी विपत्ति को नष्ट करना चाहता है और दूसरा जिसे धन–धान्य ऐश्वर्य की कामना हो।[84] मङ्गल शब्द विविध अर्थों का वाचक है मङ्गलवेशभूषा , मङ्गलाचरण। मल्लिनाथ लिखते हैं मङ्गलाचार के अर्थी वे होते हैं जिनका कुछ अभीष्ट होता है और जो अनिष्ट को नष्ट करना चाहते हैं।[85] कालिदास ने अष्टमूर्ति शिव से समस्त प्राणियों के कल्याण, रक्षा एवं सन्मार्ग पर विघ्नरूप तामसीवृत्ति को नष्ट करने की प्रार्थना की है।[86] कालिदास शिव की अष्टमूर्तियों से अत्यन्त प्रभावित हैं। उन्होंने अपनी कृतियों में विभिन्न स्थलों पर शिव के लिए अष्टमूर्ति शब्द का प्रयोग किया है।[87] संसार की स्थिति को बनाये रखने में शिव की इन आठों मूर्तियों का विशेष योगदान है। भगवान् शिव इन्हीं पृथ्वी, जल आदि आठों मूर्तियों से इस जगत् को जीवन प्रदान करते हैं, शिव की ये मूर्तियाँ एक दूसरे का सामर्थ्य बढ़ाने वाली एवं इस संसार को इस प्रकार ठीक चलाने वाली हैं जैसे घोड़े मार्ग में रथ को लीक में बाँधे रहते हैं।[88] शिव की पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश ये पाँच मूर्तियाँ हैं जिनसे सृष्टि बनी हुई है। कवि शिव की जलरूपी मूर्ति को पहली सृष्टि मानते हैं और इसी में बीज बोने से ही इस चराचर जगत् की सृष्टि होती है।[89] मनु भी मानते हैं कि परमात्मा ने सर्वप्रथम जल की ही सृष्टि की है।[90] भगवान् शिव की भूमिरूपी मूर्ति के लिए अथर्ववेद में माता शब्द का प्रयोग किया गया है[91] अर्थात् भूमि मेरी माता है और मैं हूं उसका पुत्र हूँ। यह भूमि जिसमें उत्पन्न अन्न से ही हमारा जीवन चल रहा है। यह माता के समान निरन्तर हमारा पालन पोषण करती है।[92] मनुस्मृति में कहा गया है कि यह सभी प्राणियों की शाश्वत

---

[84] विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा।। कु०स० 5.76, पृ० 91

[85] इष्टावाप्त्यनिष्टपरिहार्थिनो हि मङ्गलाचारनिर्बन्धः।।कु०स०5.76, पृ० 91

[86] स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायाऽस्तु वः।। विक्र०1.1, पृ० 339
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।। अभि०शा० 1.1, पृ० 427
अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः।
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीशः।।माल० 1.1, पृ० 257

[87] अवेहि मां किङ्करमष्टमूर्तेः।। र०वं० 2.35 पृ० 115
ननु मूर्तिभिरष्टाभिरित्थंभूतोऽस्मि सूचितः।। कु०स० 6.26, पृ० 78
तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः।। कु०स० 1.57, पृ० 57
वाचस्पति सन्नपि सोऽष्टमूर्तौ त्वाशास्यचिन्तास्तिमितो बभूव ।।कु०स० 7.87, पृ० 91
तस्याः करं शैलगुरूपनीतं जग्राह ताम्राङ्गुलिमष्टमूर्तिः।।कु०स०7.76, पृ० 90

[88] कलितान्योन्यसामर्थ्यं पृथिव्यादिभिरात्मभिः।
येनेदं ध्रियते विश्वं धुर्यैर्यानमिवाध्वनिः। कु०स० 6.76, पृ० 82

[89] यदमोघमपामन्तरुप्तं बीजमज त्वया।
अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयसे।। कु०स० 2.5, पृ० 52

[90] अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्।। मनु० 1.8, पृ० 11

[91] माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।।अथर्व० 12.1.12, पृ० 137

[92] कल्पिष्यमाणा महते फलाय वसुन्धरा काल इवोप्तबीजा।।अ०शा० 6.24,पृ०122

उत्पत्ति स्थान है।[93] शिव की वायुमूर्ति जिसके कारण प्राणी प्राण धारण किए हुए है। शिव की आकाशरूपी मूर्ति जो समस्त संसार को व्याप्त करके स्थित है। शिव की यजमानरूपीमूर्ति जो वैदिकविधि विधान से यज्ञ में आहुति देने वाली है, जिसके बिना यज्ञ आदि क्रियायें सम्पन्न होना ही असम्भव है और उस वेदमन्त्रों से दी हुई आहुति को ग्रहण करने वाली भगवान् शिव की अग्निरूपी मूर्ति है अर्थात् भगवान् शिव ही यज्ञ के होता और यज्ञ के भोक्ता है। यही मूर्ति हमारे शरीर में वैश्वानर रूप होकर के चार प्रकार के अन्न को पचाने वाली है।[94] यही मूर्ति समुद्र में वाडवाग्नि का रूप धारण कर समुद्र के जल को सुखाने का काम करती है। भगवान् शिव की सूर्य रूपी मूर्ति अपनी गतिविधि से इस ब्रह्माण्ड को बनाये रखने में मदद करती हैं। अपनी किरणों से इस संसार को प्रकाशित करती है, इसीलिए ऋग्वेद में सूर्य को जंगम और स्थावर दोनों की आत्मा कहा गया है।[95] शिव की चन्द्रमूर्ति आनन्दित करने वाली है।[96] चन्दयति आह्लादयति इति चन्द्रः।[97] शिव की चन्द्रमूर्ति यह काल का विभाजन एवं अपनी किरणों से अमृत बरसाती है, जो प्राणियों को जीवन प्रदान करती है।[98] चन्द्रमा को ओषधियों का पति कहा गया है[99] और यह माना जाता है कि जड़ी– बूटियों में चन्द्रमा की किरणों से ही गुण आता है। आकाश में हजारो नक्षत्रों ,ताराओं ,भौमादि ग्रहों के होनें के बाद भी शिव की चन्द्रमूर्ति के कारण ही रात्रि का अन्धकार दूर होता है।[100] ऋग्वेद में कहा गया है चन्द्रमा अमृत बरसाकर औषधियों की वृद्धि के माध्यम से पृथिवी को बल प्रदान करता है।[101] कवि के अनुसार अमावस्या चन्द्रमा की अन्तिम कला को ओषधियों के संवर्धन के लिए समर्पित करता है ।[102] इस प्रकार यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो भगवान् शिव की इन अष्टमूर्तियों पर ही यह संसार नियमानुसार एक मर्यादा में चल रहा है। यही कारण है कि कवि कालिदास ने शिव की अष्टमूर्तियों के प्रति अपनी अत्यधिक श्रद्धा को प्रकट किया है। ये सभी मूर्तियाँ प्रत्यक्ष है जिनका सभी प्राणी दर्शन तथा अनुभव करते हैं।

---

[93] इयं भूमिर्हि भूतानां शाश्वती योनिरुच्यते।। मनु० 9.37, पृ० 251

[94] अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।गी०15.14, पृ० 197

[95] आप्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।।ऋ० 1.115.1, पृ० 49

[96] यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः।।र०वं० 4.12, पृ० 54

[97] चन्दयति आह्लादयति इति चन्द्रः। चदिधातोरौणादिको रप्रत्ययः।। र०वं० 4.12, पृ० 54 मल्लिनाथटीका

[98] रसात्मकस्योडुपतेश्च रश्मयः।।कु०स० 5.22, पृ० 70
पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टान्।।मे०दू० 2.27, पृ० 39

[99] यात्येकतोस्तशिखरं पतिरोषधीनाम् आविष्कृतोरुणपुरस्सर एकतोऽर्कः ।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु ।।अ०शा० 4.2, पृ० 480

[100] नक्षत्रतारागृहसङ्कुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः।।र०वं 6.22, पृ० 144

[101] सोमेनादित्याबलिनः सोमेन पृथिवी मही। अथो नक्षत्राणामेषाउपस्थे सोम आहितः।।ऋ० 10.85.2, पृ० 376

[102] हिमांशोरन्त्यां कलां दर्श इवौषधीषु।।र०वं० 14.80, पृ० 217

विष्णुपुराण में भी इन अष्टमूर्तियों का वर्णन आया है।[103] शिवतत्त्व के पृथक्–पृथक् नामों से युक्त ये प्रत्यक्ष अष्टमूर्तियाँ हैं।[104] यजुर्वेद में भगवान् शिव के शम्भु, शंकर, मयस्कर, मयोभव नाम आए हैं।[105] जहाँ एक ओर कवि ने अष्टमूर्तियों से युक्त भगवान् शिव की स्तुति की है, वहीं विक्रमोर्वशीयम् में आकाश तथा पृथ्वी में व्याप्त वेदान्तवेद्य अद्वैतस्वरूप भगवान् शिव का अभिवन्दन किया है।[106] यहाँ कवि ने व्याप्य स्थितं रोदसी[107] वाक्य कहकर ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णित विराट पुरुष की ओर ही संकेत किया है। जो ब्रह्माण्ड को सब ओर से व्याप्त करके दश अंगुल परिमाण में अधि स्थित है। वह परम पुरुष ब्रह्माण्ड को भीतर और बाहर से व्याप्त किए हुए है।[108] कवि कहते हैं कि यह परमात्मा सभी का स्वामी और सभी की अन्तरात्मा के रूप में विराजमान है।[109] यजुर्वेद में कहा गया है कि अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड चेतन स्वरूप जगत् है, वह सब एक ईश्वर से व्याप्त है।[110] समस्त विश्व का स्वामी और अखिल भुवनों का स्वामी परमेश्वर है।[111] उपनिषद भी इसी बात को कहते हैं।[112] मुख्य रूप से मन्त्रों का प्रतिपाद्य एक परमात्मा है। विभिन्नगुणों और कर्मों के आधार पर ही उसके अन्य देवतावाचक नाम है।[113] कवि कालिदास स्वीकार करते हैं कि एक ही शिवतत्त्व आठ मूर्तियाँ के रूप में इस जगत् में विराजमान है। वही एक तत्त्व ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप में जाना जाता है।[114] यजुर्वेद में कहा गया है कि एक ही परमात्मा को अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, आप आदि नामों से कहा जाता है ।[115] इसी प्रकार ऋग्वेद में भी कहा गया है कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि नाम भी उसी ईश्वर के हैं अर्थात् वह एक है, विद्वान् लोग

---

[103] सूर्योजलंमहीवह्निर्वायुराकाशमेव च।दीक्षितोब्राह्मणःसोमःइत्येतास्तनवःक्रमात्।। वि०पु० 1.8.7

[104] रुद्रस्त्वं देव नाम्नासि। भवं शर्वमथेशानं तथा पशुपतिं द्विज। भीममुग्रं महादेवमुवाच स पितामहः।। वि०पु० 1.8.4–6

[105] नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च।।यजु० 16.41, पृ० 46

[106] वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी। यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते, स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायाऽस्तु वः।। विक्र० 1.1,पृ० 339

[107] विक्र० 1.1,पृ० 339

[108] स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।ऋ०10.90.1, पृ० 381

[109] सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक्।।र०वं० 10.20, पृ० 176

[110] ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।। यजु० 40.1, पृ० 100

[111] पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा।।ऋ० 6.36.4, पृ० 193

[112] सर्वं खल्विदं ब्रह्म।। छा० 3.14.1, आत्मा एव इदं सर्वम्।। छा०7.25.2

[113] माहाभाग्याद् देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते ।।नि०7.4

[114] एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्यमेषां प्रथमावरत्वम्।
विष्णोर्हरस्तस्य हरिः कदाचिद् वेधास्तयोस्तावपि धातुराद्यौ।। कु०स० 7.44, पृ० 87

[115] तेदवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।।यजु० 32.1, पृ० 87

उसे अनेक नामों से कहते हैं।[116] उसकी विभिन्न शक्तियों के वाचक ये नाम हैं। ऋग्वेद का यह स्पष्ट घोष है कि उस परमात्मा को जानों जिसमें सभी देव समाये हुए हैं अर्थात् जो सब में व्यापक है।[117] निरुक्तकार देव शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं। देवो दानाद्वा , दीपनाद्वा , द्युस्थाने भवतीति वा [118] अर्थात् दान देने से देव है, प्रकाश करने से देव है, उपदेश का पालनादि करने से देव है, द्युस्थान का भी जो प्रकाशक है वह देव है। आचार्य यास्क एकदेववाद के विषय में कहते हैं कि जिस प्रकार एक ही ऋत्विक अपने पृथक्–पृथक् कार्यों से होता, अध्वर्यु , ब्रह्मा तथा उद्गाता इन पृथक् नामों से जाने जाते हैं। उसी प्रकार एक ही देव पृथक्–पृथक् कार्यों से पृथक् नामों से कहा जाता है।[119] जिस प्रकार वृक्ष की जड़ सींचने से उसके तना , शाखा , उपशाखा आदि सभी का पोषण हो जाता है और जैसे भोजन द्वारा प्राणों को तृप्त करने से सभी इन्द्रियाँ पुष्ट हो जाती है, उसी प्रकार एक ईश्वर तत्त्व की उपासना से सभी की उपासना हो जाती है।[120] अतः स्पष्ट हो जाता है कि वेद में एक ही ईश्वर की उपासना का विधान है और कवि कालिदास भी उसी के लिए ही वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषम् व्याप्यस्थितं रोदसी वाक्य का प्रयोग कर रहे हैं। इससे कवि ने एक ही तत्त्व अनेक रूप धारण करता है, इस वेद के सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन किया है।

कवि कालिदास अष्टमूर्ति से युक्त भगवान् शिव से रक्षा की प्रार्थना करते हैं। वस्तुतः शिव की जो अष्टमूर्ति है उनका स्वरूप क्या है , क्या वे पुरुषविध है या अपुरुषविध है या उभयविध है। देवताओं के स्वरूप के विषय में आचार्य यास्क ने निरुक्त में चर्चा की है। उन्होंने देवताओं के स्वरूप विवेचन के सन्दर्भ में तीन मत प्रस्तुत किए हैं । प्रथम मत के अनुसार वे कहते हैं कि कुछ विद्वान् देवताओं की आकृति पुरुष के समान मानते हैं। इस कथन की पुष्टि में वे कहते हैं कि वेद में देवताओं की स्तुतियाँ तथा सम्बोधन चेतन के समान प्राप्त होते हैं।[121] वेद में स्तुतिक्रम में इन्हें मानव अङ्गों से संयुक्त भी किया जाता

---

[116] इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।। ऋ० 1.164.46, पृ० 72

[117] ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते।।ऋ०1.164.39, पृ० 72

[118] नि०,दैवतकाण्ड, 7.1

[119] अपि वा कर्मपृथक्त्वात्।यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः।।नि० 7.5

[120] यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या।।श्रीमद्भा० 3.31.14, पृ० 265

[121] अथाकारचिन्तनं देवतानाम् । पुरुषविधाः स्युरित्येकम्। चेतनावद्वद्धि स्तुतयो भवन्ति तथा अभिधानानि। अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते।ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहूः। यत्संगृभ्णा मघवन् काशिरित्ते। अथापि पौरुषविधिकैः द्रव्यसंयोगैः। आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि। कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते । अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य। आश्रुतकर्ण श्रुधी हवम्। अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः। नि० 7.6

है जैसे हे इन्द्र ! बलवान् आपके ये हाथ अच्छे हैं।[122] हे मघवन् ! जिस द्यावा पृथिवी को तुमने पकड़ा है वे तुम्हारी कलाईयाँ हैं।[123]

देवताओं की स्तुतियाँ मानववस्तुओं से संयुक्त करके ही की जाती है। जैसे हे इन्द्र! तुम दो घोड़ों पर आओं।[124] हे इन्द्र! तुम्हारे घर पर मङ्गलकारिणी स्त्री और शोभनगीत आदि ध्वनि है।[125]

देवताओं की स्तुतियाँ कर्मों का संयोग करके ही की जाती है। जैसे हे इन्द्र ! पुरोडाश का भक्षण कर सोम का पान करो।[126]

आचार्य यास्क दूसरे मत के अनुसार कहते हैं कि दूसरे विद्वान् देव आकृति पुरुषों के समान नहीं मानते हैं। उनका मानना हैं कि वेद में जिस प्रकार चेतन के समान स्तुति देखी जाती है उसी प्रकार अचेतन के समान स्तुति दृष्टिगोचर होती है। जैसे पाषाण अपने मुख से बोलते हैं[127] यह पाषाण की स्तुति है।

मानव वस्तुओं से सम्बद्ध होकर भी इनकी स्तुति होती है जैसे सिन्धु ने घोड़े का सुखद रथ जोता।[128] अचेतन की स्तुति मानव कर्मों से युक्त होकर भी होती है जैसे पाषाण पहले ही हवि को प्राप्त करते हैं।[129]

आचार्य यास्क के तीसरे मत में देवताओं का स्वरूप उभयविध स्वीकार करते हैं । पुरुषविध और अपुरुषविध।[130]

आचार्य यास्क चतुर्थमत को निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत करते हैं कि अचेतन देवता कर्मस्वरूप हैं तथा वे चेतन देवताओं के अधीन है। तात्पर्य यह है कि पुरुषविध देवता स्वतन्त्र तथा अपुरुषविध देवता अर्थात् अचेतन देवता परतन्त्र है, जैसे यज्ञ यजमान से सम्बद्ध है अर्थात् जिस प्रकार यजमान से उसके कर्मस्वरूप यज्ञ का सम्बन्ध है उसी प्रकार पुरुषविध देवताओं से कर्म स्वरूप दृश्यमान क्षिति, जलादि पदार्थों का सम्बन्ध है।[131] निष्कर्षरूप में देवता पुरुषविध ही है तथा ये अपने अंगो ,द्रव्यों तथा कर्मों से नित्यसम्बद्ध हैं।

---

[122] ऋष्वा त इन्द्र स्थविरस्य बाहूः।।ऋ० 6.47.8, पृ० 197
[123] यत्संगृभ्णा मघवन् काशिरित्ते।।ऋ० 3.30.5, पृ० 111
[124] आ द्वाभ्यां हरिभ्यामिन्द्र याहि।।ऋ० 2.18.4, पृ० 90
[125] कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते।।ऋ० 3.53.6, पृ० 120
[126] अद्धीन्द्र पिब च प्रस्थितस्य।।ऋ० 10.116.7, पृ० 395, आश्रुत्कर्ण श्रुधी हवम् ।।ऋ० 1.10.9, पृ० 7
[127] अभि क्रन्दन्ति हरितेभिरासभिः।।ऋ० 10.94.2, पृ० 384
[128] सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनम्।। ऋ० 10.75.9, पृ० 373
[129] विष्ट्वी ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित्पूर्वे हविरद्यमाशत।।ऋ० 10.94.2, पृ० 384
[130] अपि वोभयविधाः स्युः।नि० 7.7
[131] अपि वा पुरुषविधानाम् एव सतां कर्मात्मानः एते स्युः। यथा यज्ञः यजमानस्य ।। एष च आख्यानसमयः।।नि० 7.7

महाकवि कालिदास अपनी कृतियों में देवताओं के साकार स्वरूप का वर्णन करते हैं। कालिदास लिखते है कि बड़े–बड़े योगी मुक्ति हेतु प्राणायाम आदि साधनों के द्वारा वेदान्तवेद्य एक ईश्वर को ढूँढा करते है।[132] किन्तु वह ईश्वर तो भक्ति से ही सुलभ है।[133] कवि कालिदास रघुवंश में ईश्वर की महिमा का गान करते हुए कहते हैं कि ईश्वर ऐसा है, इतना बड़ा है,[134] अमेय है अर्थात् उसका इतना प्रमाण है यह निश्चित नहीं किया जा सकता।[135] ऋग्वेद का पुरुषसूक्त भी इसी भाव का विवेचन करता है ,हम अपनी बुद्धि से जितना समझ रहे हैं उसी को ईश्वर का स्वरूप मानते हैं, परन्तु भूत भविष्य वर्तमान कालत्रयवर्ती यह समग्र जगत् इस विराट पुरुष की महिमा मात्र है, इसका स्वरूप नहीं है। इस पुरुष का वास्तविक स्वरूप तो इससे भी कही अधिक बड़ा है। पुरुष इससे भी अधिक विराट है। सम्पूर्ण प्राणी अर्थात् यह समग्र जगत् तो इसके केवल चतुर्थांश है , इससे तीन पाद तो द्युलोक में अवस्थित हैं।[136] ऋग्वेद में कहा गया है कि परमात्मा सृष्टि करने के लिए सर्वप्रथम संकल्प करता है।[137] ऋग्वेद के इस मन्त्र के आधार पर ही प्रस्तुत विवेचन उपनिषदों में भी प्राप्त होता है कि परमात्मा ने एक से अनेक होने के लिए सर्वप्रथम संकल्प किया।[138] तैत्तिरीयोपनिषद् में वर्णित है कि उस आत्मतत्त्व से ही आकाश , आकाश से वायु , वायु से अग्नि ,अग्नि से जल, जल से पृथिवी उत्पन्न हुई है।[139] ऋग्वेद के नासदीयसूक्त में कहा गया है कि यह विविध विचित्र, भूत भौतिक, भोक्ता भोग्यादिरूपा सृष्टि किस उपादान कारण से किस निमित्त कारण से प्रकट हुई है ,इस तथ्य को परमार्थतः कोई नहीं जानता है। देवता तक इस रहस्य को नहीं समझ सकते। इस रहस्य को सर्वज्ञ ईश्वर ही जान सकता है।[140] कालिदास नासदीयसूक्त के भाव को ही हृदयङ्गम करते हुए कहते हैं कि इस सृष्टि के उत्पति,पालन,संहार के रहस्य को

---

[132] मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते। विक्र०1.1, पृ० 339

[133] स्थिरभक्तियोगसुलभः ।विक्र० 1.1, पृ० 339

[134] विष्णोरिवास्यानवधारणीयमीदृक्तया रूपमियत्तया वा।। र०वं० 13.5, पृ० 202

[135] अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः।।र०वं०10.18, पृ० 176

[136] एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।। ऋ० 10.90.3

[137] कामस्तदग्रेसमवर्ततााधिमनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदिप्रतोष्या कवयो मनीषा।। ऋ०10.129.4, पृ० 400

[138] सोऽकामयतबहुस्यां प्रजायेयेति।।तैत्ति० षष्ठ अनुवाक

[139] तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अदभ्यः पृथिवी।।
तैत्ति०,ब्रह्मानन्दवली,1

[140] को अद्धा वेद क इह प्रवोचकुत आजाता कुत इयं विसृष्टि।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव।।
इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।।ऋ० 10.129.6,7, पृ० 400

केवल सृष्टिकर्त्ता ईश्वर ही समझ सकता है।[141] कवि ये मानते हैं कि परमात्मा बुद्धि का विषय नहीं हैं[142], इसीलिए उस सर्वज्ञ परमात्मा के रहस्य को समझना कठिन है।[143] वेदों ने इसी सर्वज्ञ ईश्वर का गुणगान किया है। हिरण्यगर्भसूक्त में इसी ईश्वर की महिमा का गान किया गया है। सूर्यादि तेज वाले पदार्थ इसके भीतर हैं यह प्राणियों की उत्पत्ति के पूर्व वर्तमान था और यही परमात्मा उत्पन्न हुए जगत् का स्वामी है, यही परमात्मा ही इस भूमि और द्युलोक को धारण कर रहा है। अपने महान् सामर्थ्य से प्राण वाले और नेत्रादि से चेष्टा करने वाले सजीव चर जगत् का एकमात्र स्वामी है, द्विपद मनुष्य पक्षी और चतुष्पद गौ आदि का भी स्वामी यही परमात्मा है। इसी परमात्मा के महान् सामर्थ्य से बर्फों से ढ़के हुए पर्वत हिमालय, समुद्र आदि बने हैं, इसके महान् सामर्थ्य से बनी ये दिशायें उपदिशायें इसके बाहुओं के समान् फैली हैं। यही परमात्मा सभी जीवों को आत्मशक्ति तथा शारीरिक बल को प्रदान करने वाला है, सभी देव इसकी उत्तम शिक्षा का पालन करते हैं । इस परमात्मा का आश्रय लेना अमृत अर्थात मोक्षसुख है , इसकी भक्ति न करना ही मरण है। सभी लोग उस आनन्दस्वरूप परमात्मा को ही हवि समर्पित करते हैं। जिस परमात्मा के प्रसिद्ध यश का गान किया जाता है, जिस की कोई उपमा नहीं हैं, काल के सब अवयव और सब गति इसी तेजस्वी सर्वव्यापक परमात्मा से प्रकट हुए हैं। इस परमात्मा को कोई भी ठीक प्रकार से नहीं जानता।[144] जिस परमात्मा से उत्तम कोई दूसरा नहीं है, जो समस्त भुवनों में व्यापक है, वह प्रजा का पालक परमेश्वर भली प्रकार रमण करता हुआ सूर्य, विद्युत और अग्नि इन तीनों ज्योतियों को अपने भीतर धारण करता

---

[141] आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना।
आत्मना कृतिनाच त्वमात्मन्येव प्रलीयसे।।कु०स० 2.10, पृ० 52
किं येन सृजसि व्यक्तमुत येन बिभर्षि तत्।
अथ विश्वस्य संहर्ता भागः कतम एष ते।। कु०स० 6.23, पृ० 77

[142] न धियां पथि वर्तसे।।कु०स० 6.22, पृ० 77

[143] सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः।। र०वं० 10.20, पृ० 176

[144] हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।
यः प्राणतो निमिषतो महित्वैकइद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।
यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहु कस्मै देवाय हविषा विधेम।।
य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।यजु० 25.10–13, पृ० 74,
ऋ० 10.121.1,3,4,2 पृ० 397
सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि। नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत्।।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः।।यजु० 32.2–3, पृ० 87

है। वह सोलह कलाओं को धारण करता है।[145] वह पृथ्वी को उत्पन्न करने वाला है, सत्यधर्म का पालन करने वाला, द्युलोक को व्याप्त करता है और सबसे प्रथम होकर आह्लादक जल को उत्पन्न करता है वह ईश्वर हमें कभी कष्ट न दे।[146]

वही तैत्तिरीयोपनिषद् भी कहती है कि जिस परमात्मा को प्राप्त न करके मन सहित वाणी लोट आती है।[147] जिसमें पृथ्वी, सूर्यादि लोक स्थित है, जो आकाश के समान व्यापक सब देवों का देव परमेश्वर है। उसको जो नहीं जानते, वे मन्दमति इस दुःखसागर संसार में डूबे ही रहते हैं, जो उसको जानते, उसका ध्यान करते हैं वे उसे अनायास ही प्राप्त कर लेते है।

1.4 कालिदासीय कृतियों में शब्दार्थविषयक अवधारणा का शास्त्रीय पक्ष

कविशिरोमणि कालिदास "काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।"[148] इत्यादि आलङ्कारिक वचन के प्रामाण्य से, श्रेय के साधन रघुवंश महाकाव्य की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए अपने शब्दार्थस्वरूप ईष्टदेव पार्वतीपरमेश्वर का वन्दन करते हैं।[149] आचार्य दण्डी काव्यादर्श में लिखते हैं कि वाणी की कृपा से ही संसार की यात्रा चलती है। यह दिव्य ज्योति ही सम्पूर्ण संसार में अपना प्रकाश फैला रही है। यदि वाणी रूपी यह दिव्यज्योति नहीं होती तो सारा संसार अन्धकारमय होता । क्योंकि सारे संसार का वाग्व्यापार शब्द पर ही निर्भर है।[150] संसार में ऐसी कोई प्रमा या ज्ञान नहीं है, जो शब्द से सम्भव हुए बिना सम्भव हो। समस्त ज्ञान शब्द के साथ तादात्म्य लाभ करके ही भाषित होता है।[151] शब्द और अर्थ का नित्य सम्बद्ध है ,इसीलिए कवि ने रघुवंश के प्रारम्भ में वाणी और अर्थ के समान नित्यसम्बद्ध जगत् के माता पिता पार्वती परमेश्वर के चरणों में अभिवन्दन किया है शब्द का जैसे अर्थ से नित्य सम्बन्ध होता है वैसे ही पार्वती का शिव

---

[145] यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति याविवेश भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी।। यजु० 8.36, पृ० 21

[146] मा मा हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवं सत्यधर्मा व्यानट्।
यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम।। यजु० 12.102, पृ० 35

[147] यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।। तै०उ० 2.4.1

[148] का०प्र०,का० 2

[149] वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।। र०वं० 1.1, पृ० 104
प्रणेमतुस्तौ पितरौ प्रजानाम्।।कु०स० 7.86, पृ० 91
यावन्त्येतानि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
मातरं कल्पयन्त्वेनामीशो हि जगतः पिता।।कु०स० 6.80, पृ० 82

[150] वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते।
इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीव्यते।। का० 1.3–4

[151] न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।वाक्य०1.114

से अटूट सम्बन्ध है।[152] शब्द और अर्थ का परस्पर में ऐसा ही सम्बन्ध है जैसे जल और उसकी लहर का। जल और जल की लहर कहने में अलग–अलग हैं, परन्तु वास्तव में अभिन्न हैं।[153] शब्द से उत्पन्न इस सम्पूर्ण जगत् को पार्वती धारण करती है और अर्थरूप जो भी कुछ दिखाई दे रहा है उसे भगवान् शङ्कर धारण करते हैं।[154] यह वाणी ही सत्य की प्रेरणा देने वाली और सत्पुरुषों को शिक्षा देने वाली है।[155] इसी का आश्रय पाकर ही विद्वान् लोग पवित्र और सुन्दर लगने लगते हैं।[156] इनकी वाणी में लक्ष्मी का निवास माना गया है।[157]

शब्द और अर्थ के स्वरूप की अवधारणा व्याकरणशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य रहा है। व्याकरणशास्त्र के आचार्यों का मत है कि इसी शब्दतत्त्व से ही इस जगत् की सृष्टि हुई है। व्याकरणशास्त्र के आचार्यों का यह सिद्धान्त ऋग्वेद में विविचित वाग्सूक्त पर ही आधारित है। ऋग्वेद के वाक्सूक्त में स्वयं वाक् तत्त्व अपने को इस जगत् का कारण बताता है, जिसे वैयाकरण शब्दब्रह्म कहते हैं, मैं इस सृष्टि के मूर्धा में इसके शब्दतत्त्व को प्रेरित करता हूँ, मैं समुद्र के अन्तःस्थल ज्ञानगुहा में वास करता हूँ, मुझसे ही सम्पूर्ण विश्व उद्भूत हुआ है, मैं अपने शरीर से द्युलोक का स्पर्श करता हूँ। मैं ही वायु के समान गतिशील, समस्त संसार का उत्पादक, द्युलोक तथा पृथ्वीलोक से पर अतीव महिमा से युक्त तथा सर्वत्र व्याप्त रहता हूँ।[158] ऋग्वेद के इस विवेचन से स्पष्ट है हि शब्दतत्त्व व्यापक है, समस्त विश्व की उत्पत्ति इसी से हुई है। यह गतिशील, प्रशस्य तथा सर्वातीत है।

शब्द का शब्दार्थ के साथ जैसे गो शब्द का गाय अर्थ के साथ कब किस व्यक्ति ने सम्बन्ध किया है अर्थात् गो आदि शब्दों का यह अर्थ है,किस व्यक्ति ने सर्वप्रथम यह प्रयोग चलाया, यह कोई नहीं बता सकता है। अतएव इस प्रकार के सम्बन्ध को व्यवहारपरम्परा के कारण अनादि मानकर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य कहा जाता है। आचार्य भर्तृहरि ने पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि तीनों आचार्यों के शब्दार्थसम्बन्ध

---

[152] तमर्थमिव भारत्या सुतया योक्तुमर्हसि।। कु०स० 6.79, पृ० 82

[153] गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न। रा०च०

[154] शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा।
अर्थरूपं यदखिलं धत्ते मुग्धेन्दुशेखरः।। र०वं०1.1 पृ० 103, मल्लिनाथव्याख्या

[155] चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ।। ऋ० 1.3.11, पृ० 5

[156] संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च।। कु०स० 1.28, पृ० 49

[157] भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।। ऋ०10.71.2, पृ० 371

[158] अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ।
ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वतोमूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि।।
अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सम्बभूव।।ऋग्वेद,10.125.7,8, पृ० 398

की नित्यता सम्बन्धी मतों का उल्लेख किया है। शब्द और अर्थ नित्य है तथा इन दोनो का सम्बन्ध भी नित्य है।[159] व्याकरण के प्रवर्तक तीनों मुनियों ने शब्द को, अर्थ को उनके अनादियोग्यतारूप शक्तिनामक सम्बन्ध को नित्य माना है। जैसे चक्षु, घ्राण आदि इन्द्रियों का अपने विषय– रूप, गन्ध आदि के साथ "ग्राह्य–ग्राहक", प्रकाश्य–प्रकाशकभाव, योग्यता रूप स्वाभाविक अनादि सम्बन्ध है, जो कि नियत है, नित्य है, वैसे घट–पट आदि शब्दों का अर्थों के साथ वाच्य–वाचकभाव व बोध्यबोधकभावरूप अनादियोग्यता सम्बन्ध नियत है, किसी की विवक्षा के अधीन कृतक नहीं है। शब्द का, अर्थ का तथा उनके सम्बन्ध का जो व्यवस्थित स्वरूप है, उसको सूत्र रूप में सामान्य–विशेष लक्षणों के द्वारा व्याकरणशास्त्र कल्पित 'प्रकृति प्रत्यय रूप' अवयव के योग से व्युत्पादन कर उसके व्यवस्थित साधुस्वरूप का अनुगम मात्र करता है, रचना नहीं। भिन्न–भिन्न व्याकरणों में प्रकिया का भेद भले ही होवे, किन्तु सब समान रूप में नियत शब्दार्थ–सम्बन्ध का गमक मात्र होते हैं। जबकि शब्द, अर्थ और सम्बन्ध सभी नित्य हैं, व्याकरण से उनका केवल अनुगम होता है। इसी दृष्टि से पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि तीनों महर्षियों ने शब्द–अर्थ–सम्बन्ध तीनों को नित्य माना है। इनमें शब्दार्थ–सम्बन्ध के नित्यत्व में प्रमाण है। सूत्रकार का तदशिष्यं सज्ञाप्रमाणत्वात् यह सूत्र[160] संज्ञा शब्द ही स्वयं लिङ्ग और संख्या का बोध कराने में समर्थ प्रमाण है। इसका तात्पर्य यह है कि– जैसे 'अप–दार–अपत्य' आदि शब्द अवयवार्थ के ज्ञान के बिना ही रूढ़ि संज्ञा होने से लिङ्ग–संख्या– कारक युक्त वस्तु का ज्ञान कराते हैं, क्योंकि उनका अर्थ से स्वाभाविक नित्य सम्बन्ध है, शब्द भी नित्य है, क्योंकि उसमें किसी अवयव के योग का ज्ञान नहीं होता, ऐसे ही प्रकृति प्रत्यय अवयव के ज्ञान विना ही पञ्चाल आदि शब्द भी संज्ञा होने से ही जनपद का ज्ञान करा सकते हैं। वस्तुतः सभी शब्द संज्ञा रूप हैं, 'प्रकृति–प्रत्यय' अवयव योग वस्तुतः कहीं नहीं है। शब्द नित्यत्व में ऋग्वेद का कथन है कि वेदरूपी वाणी विभिन्न रूपों वाली है और नित्य है।[161] शतपथ ब्राह्मण और बृहदारण्यक उपनिषद् में एक महत्त्वपूर्ण बात यह कही गयी है कि जिस प्रकार सारे जलों का आधार समुद्र है, उसी प्रकार सारे ज्ञान का आधार वाग्ब्रह्म है। सारे वेदों का ज्ञान उस वाग्ब्रह्म से ही प्रादुर्भूत हुआ है, अर्थात् ज्ञान का आदिस्रोत वाग्ब्रह्म है। सृष्टि के आदि में उस सर्वज्ञ ब्रह्म से ही वेदज्ञानरूपी सरिता प्रवाहित हुई है।[162]

---

[159] नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणाञ्च प्रणेतृभिः।। वाक्य० 1.23

[160] पा०सू०1.2.53

[161] वाचा विरूपनित्यया।। ऋ० 8.75.6, पृ० 291

[162] सर्वासाम् अपां समुद्र एकायनम् ,

वैयाकरणों ने वेदों में प्रतिपादित शब्दब्रह्म विषयक अवधारणा का आश्रय लेकर परात्पर शब्दतत्त्व को स्पष्ट किया है। इन्होंने उस परात्पर तत्त्व को शब्दब्रह्म, अक्षरतत्त्व, शब्दतत्त्व आदि नामों से अभिहित किया है। इसी शब्दतत्त्व को जगत् का मूलकारण तथा नित्य, सर्वव्यापक एवं सर्वातीत तत्त्व माना है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए शब्दस्वरूपावबोधक व्याकरण को परम उपाय मानने वाले आचार्य भर्तृहरि शब्दतत्त्व को अनादि,अनन्त तथा अक्षर मानते हैं। इन्होंने इसी शब्दतत्त्व से अर्थरूप में समस्त जगत् का विवर्त स्वीकार किया है।[163] यह प्रत्यक्ष स्थावर–जङ्गम जगत् शब्द का ही परिणाम है, ऐसा वेदवेत्ता जनों का मत है। आदि में यह विश्व वाक् तत्त्व से विकसित हुआ।[164] इसी शब्दब्रह्म की प्राप्ति के लिए साधक उपासना में तत्पर रहते है, इस शब्दब्रह्म की प्राप्ति का उपाय वेद है।[165] महर्षि पतञ्जलि परमतत्त्व शब्दब्रह्म की गम्भीर व्याख्या कर यह प्रतिपादित करते हैं कि वह परमतत्त्व सर्वत्र व्याप्त है। जो कुछ दिखाई पड़ रहा है, वह सब उसी के कारण है। चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आविवेश।[166] ऋग्वेद के इस मन्त्र की व्याख्या दार्शनिक आचार्यों ने अपने – अपने दर्शन एवं शाखाओं के आधार पर प्रस्तुत की है । निरुक्तकार यास्क ने मन्त्र में आए हुए "महो देव" को यज्ञपुरुष कहकर उसकी वैदिक व्याख्या प्रस्तुत किया है।[167] वैयाकरण इसी मन्त्र की शाब्दिक व्याख्या कर अपने सिद्धान्त को दृढ़ता प्रदान करते हैं। व्याख्येय सबका वही एक परमतत्त्व है। महर्षि पतञ्जलि इस मन्त्र की व्याख्या में मानते हैं कि उस महान् देव शब्दब्रह्म के नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात रूप चार सींगें हैं, भूत, भविष्यत् वर्तमान काल रूप तीन पैर हैं, दो शिर हैं, अर्थात् शब्दब्रह्म के नित्य तथा अनित्य दो स्वरूप हैं। प्रथमा, द्वितीया आदि सात विभक्तियाँ सात हाथ हैं। वह शब्दब्रह्म हृदय, कण्ठ तथा सिर इन तीन स्थानों से बँधा हुआ है अर्थतत्त्व का वर्षण करने के कारण इसे वृषभ कहा जाता है । इससे ही ध्वनि की सत्ता है, यह महादेव शब्दतत्त्व

एवं सर्वेषां वेदानां वागेकायनम्।। बृहदा० 4.5.12, शत०ब्रा० 14.5.4.11

[163] अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।वाक्य० 1.1

[164] शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत।।वाक्य० 111

[165] प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः।
एकोऽप्यनेकवर्त्मेव समाम्नातः पृथक्–पृथक्।।वाक्य०,ब्रह्मकाण्ड, 5

[166] ऋ० 4.58.3, पृ० 148

[167] चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः।त्रयो अस्य पादा इति सवनानि त्रीणि। द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये । सप्त हस्तासः सप्त छन्दांसि। त्रिधा बद्धस्त्रेधा बद्धो मन्त्रब्राह्मणकल्पैर्वृषभो रोरवीति। रोरवणमस्य सवनक्रमेण ऋग्भिर्यजुर्भिः सामभिर्यदेनमृग्भिः शंसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति। महो देव इत्येष हि महान् देवो यद्यज्ञः।मर्त्याँ आविवेशेत्येष हि मनुष्यानाविशति यजनाय।। नि०13.7

ही है तथा सभी मनुष्यों में समाविष्ट है।[168] भर्तृहरि ने इस महादेव की शब्दरूपता का वर्णन किया है। इनकी मान्यता है कि प्रयोक्ता के शरीर में अन्तः अवस्थित आत्मस्थानीय शब्दतत्व को कामों की वृष्टि करने के कारण परब्रह्मस्वरूप कहा गया है। मुमुक्षु लोग इस परब्रह्मस्वरूप से तादात्म्य की इच्छा करते हैं। क्योंकि परब्रह्म से तादात्म्य स्थापित होना ही परम पुरुषार्थ है। परम पुरुषार्थ मोक्ष है।[169]

आचार्य भर्तृहरि द्वारा शब्दतत्त्व के इस स्वरूप के व्याख्यान का आधार विवरणकार कात्यायन का 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' वार्तिक है। भर्तृहरि ने चार मतों पर विचार किया है। प्रथम मत से जातिस्फोट को नित्य शब्द कहा गया है। दूसरे मत से पद व्यक्ति स्फोट ही नित्य शब्द है। इसमें वर्णव्यक्ति स्फोट भी आ जाते हैं। तृतीय मत निरवयवस्फोट वादियों का है, जिनका मानना है कि एक ही अखण्ड शब्दात्मा वर्ण , पद तथा वाक्यात्मक क्रमिक अवयव रूप प्रतिबिम्बों में प्रकाशित होता है।[170]

चतुर्थ मत में कहा गया है कि शब्दव्यवहार का विच्छेद कभी नहीं होता। अनादि संसार में यह शब्दव्यवहार परम्परा से अवस्थित है। इनमें कूटस्थनित्यता नहीं है परन्तु प्रयोग के अविच्छेद से नित्यवाहिनी नदी के समान इनमें व्यवहार नित्यता देखी जाती है। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है कि शब्दों का प्रथम बार प्रयोग हो रहा है, सभी कालों में इनका प्रयोग होता रहा है, अतएव व्यवहार की नित्यता से शब्द नित्य है।[171]

कुछ लोग आकृत्ति की नित्यता से अर्थों की भी नित्यता मानते हैं। महाभाष्य में कहा गया है–सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे च – किसे पदार्थ मानकर यह विग्रह माना जाएगा ? आकृति रूप पदार्थ को मानकर यह विग्रह किया गया है। आकृतिवादी आकृति अथवा जाति को ही नित्य मानते हैं। कहा गया है कि बाह्य वस्तु में चाहे नित्यता हो अथवा अनित्यता , शब्द तथा उसका अभिधेय कभी अनित्य नहीं है, क्योंकि ऐसा नहीं है कि कोई शब्द किसी अर्थ में कभी पहले प्रवृत्त न हुआ हो।

---

[168] चत्वारि शृङ्गाणि। चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयो अस्य पादाः। त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः। द्वे शीर्षे। द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। सप्त हस्तासो अस्य। सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्धः। त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति। वृषभो वर्षणात्। रोरवीति शब्दं करोति। महो देवो मर्त्याँ आविवेशेति। महान् देवः शब्दः मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्तानाविवेश। पस्पशा०

[169] अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते।।वाक्य० 1.121

[170] केचित्तु प्रतिवर्णं प्रतिपदं प्रतिवाक्यं चैक एव शब्दात्मा क्रमोत्पन्नावयवरूपप्रत्यवभासः प्रकाशत इति मन्यते। वाक्य० 1.23 ,वृति में, पृ० 46

[171] अपर आहुः। पारम्पर्यविच्छेदान्नित्यप्रवृत्तेः प्रयोक्तृभिरुत्पत्तावलब्धप्राथम्या व्यवहारनित्यता नित्याः शब्दा इति। वाक्य०1.23, वृति में, पृ० 47

फिर शब्द तथा अर्थ का परस्पर सम्बन्ध भी नित्य ही है। यह सम्बन्ध किसी कर्त्ता अथवा वक्ता के द्वारा किसी बौद्धा अथवा श्रोता को लक्ष्य करके जो पूर्व में ज्ञात नहीं था, अज्ञात था , सर्वप्रथम प्रचलित किया गया हो ऐसा नहीं है। अतएव शब्दार्थ सम्बन्ध में उच्छिन्नता नहीं द्रष्टव्य है , वह अनादि एवं नित्य है। शब्द का अर्थ से अत्याग रूप सम्बन्ध है ।

भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ में दो प्रकार के सम्बन्ध का प्रतिपादन किया गया है। एक योग्यता और दूसरा कार्यकारण सम्बन्ध।[172]

1.4.1 योग्यतासम्बन्ध

पाणिनि ने तदर्हति[173] ,तदर्हम्[174] सूत्रों के द्वारा शब्द और अर्थ में योग्यता सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है। इसी के आधार पर पतञ्जलि, भर्तृहरि आदि आचार्यों ने शब्द और अर्थ में योग्यता सम्बन्ध का विवेचन किया है। जिस तरह चक्षु आदि इन्द्रियों में रूप आदि के ग्रहण करने तथा रूपादि विषयक ज्ञानोत्पत्ति की स्वाभाविक योग्यता देखी जाती है , उसी प्रकार शब्द में यह स्वाभाविक योग्यता है कि शब्द उच्चारण से अर्थ का बोध कराता है। यह योग्यता ही सम्बन्ध है। योग्यता सम्बन्ध शब्द की अर्थबोधकता शक्ति पर प्रकाश डालता है। इस योग्यता को प्रकाश्य–प्रकाशक भाव के रूप में देखना चाहिए। इस योग्यता का फल यह होता है कि जिस प्रकार चक्षु रूप का ही ग्रहण करती है और रसना रस का, उसी प्रकार प्रत्येक शब्द प्रत्येक अर्थ का बोध न कराकर विशेष शब्द विशेष अर्थ का ही बोध कराता है, जिस अर्थ में वह नियमित रूप से प्रसिद्ध है। श्रीवृषभ लिखते हैं दोनों के मेल से एक सम्बन्ध बनता है न कि पृथक् सम्बन्ध का कथन किया जाता है।[175]

चक्षु के द्वारा रूपदर्शन में चक्षु अपने स्वरूप का ज्ञान कराये बिना ही अपनी सत्तामात्र से रूप का दर्शन कराती है। परन्तु शब्द में अन्तर यह है कि शब्द सत्तामात्र से बोध नहीं कराता है। शब्द ज्ञापक है। जब शब्द सुन लिया जाता है, तब वह वस्तु का ज्ञान कराता है, इसमें स्वरूप के ज्ञान के बाद वस्तु का ज्ञान होता है। दोनों में समानता इस आधार पर है कि दोनों में यह योग्यता स्वाभाविक है।

---

[172] अपोद्धारपदार्थाः ये ये चार्थाः स्थितलक्षणाः।
अन्वाख्येयाश्च ये शब्दा ये चापि प्रतिपादकाः।
कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः।
धर्मे ये प्रत्यये चाङ्गं संबन्धाः साध्वसाधुषु।।वाक्य० 1.24–25, पृ० 52

[173] पा०सू० 5.1.63

[174] पा०सू० 5.1.117

[175] एतद् द्वयं संहत्यैकः सम्बन्धः, न पुनः प्रत्येकं शब्दार्थयोर्योग्यतथ्या पृथक् सम्बन्धाभिधानम्।।
वाक्य०, वृषभ, वृति में

जिस प्रकार चक्षु आदि रूप प्रकाशन की योग्यता के बावजूद बिना आलोक की सहायता के रूप प्रकाशन नहीं कर सकते।[176] उसी प्रकार शब्द अर्थ प्रकाशन की योग्यता रखते हुए भी समयोपाधि की अपेक्षा रखते हैं।[177] कवि कालिदास भी लिखते हैं कि कि आँख वाला मनुष्य भी बिना दीपक के कुछ देख नहीं पाता।[178]

1.4.2 कार्यकारण सम्बन्ध

भर्तृहरि का मानना है कि शब्द, अर्थ का कारण है अर्थात् श्रोता की बुद्धि में जिस अर्थ की विद्यमानता होती है, उसका कारण शब्द है। इससे ही श्रोता का बुद्धिगत अर्थ जाग्रत होता है। बुद्धिस्थ पूर्व विद्यमान अर्थ से ही शब्द का ज्ञान होता है, अतः शब्द, अर्थ का कारण है, क्योंकि अर्थ की बुद्धि में पूर्व उपस्थिति ही उसका ज्ञान कराती है।[179]

शब्द के द्वारा अर्थाकार बुद्धि की उत्पत्ति होती है। इसका नाम प्रत्यय है जो बाह्य घटादि अर्थों के समान रूप वाले होते हैं। इनका जब बाह्य अर्थों में आरोपण होता है तब सादृ श्यवश बुद्धिस्थ एवं बाह्यस्थ घट पटादि पदार्थों की एकात्मविषयक स्वीकृत्ति देखी जाती है। जिस प्रकार अर्थाकार प्रत्यय या बोद्धार्थ रूप कार्य का कारण शब्द है, उसीप्रकार बाह्यार्थ का भी बोद्धार्थ के साथ तादात्म्य से शब्द ही कारण उपपन्न होता है। बाह्यार्थ तथा बौद्धार्थ के मध्य एकता उसी तरह समझी जानी चाहिए, जिस तरह वास्तविक अक्षरों की स्मृति के निमित्तरूप लिपि के अक्षरों में वास्तविक अक्षर नहीं रहते हुए भी अक्षर व्यवहार तथा एकत्व का निश्चय। इस तरह शब्द–अर्थ का कारण–कार्य परम्परा से अविच्छिन्न एवं नित्य सम्बन्ध माना जाता है। श्रीवृषभ यहाँ भी समयरूपी उपाधि की बात करते हुए कहते हैं कि उसके सहकार से ही कार्योत्पत्ति की सम्भावना होती है।[180]

शब्द ही एकमात्र साधन है, जिससे अपने भावों को श्रोता तक पहुँचाया जा सकता है।

1.5 वेद में लोकों की अवधारणा एवं कालिदासीय सन्दर्भ

---

[176] इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरर्थे शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा।। वाक्य० 3, सम्बन्ध० 29

[177] इन्द्रियविषयवद् वा प्रकाश्यप्रकाशकभावेन समयोपाधिः योग्यता शब्दार्थयोः सम्बन्धः।। वाक्य०1.23, वृत्ति में, पृ0 49

[178] अर्थं सप्रतिबन्धं प्रभुरधिगन्तुं सहायवानेव।
दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि।।मा०वि० 1.9, पृ० 269

[179] शब्दः कारणमर्थस्य स हि तेनोपजन्यते।
तथा च बुद्धिविषयादर्थाच्छब्दः प्रतीयते।।वाक्य० 3.3.32

[180]अर्थसरूपप्रत्यवभासानां वा प्रत्ययानां बाह्येष्वर्थेषु प्रत्यस्तानामक्षरनिमित्तक्षरकल्पनावदर्थवदेवैक विषयत्वेऽभ्युपगम्यमाने नित्यमविच्छिन्नपारम्पर्यःकार्यकारणभावः शब्दार्थयोः सम्बन्धः।।वाक्य० 1.23, वृत्ति में, पृ० 49–50

कवि कालिदास ने रघुवंश में सात लोकों की चर्चा की है। वे हैं भू , भुवः , स्वः , मह , जन, तप और सत्यलोक। उन्होंने सप्तलोकैकसंश्रयम्[181] शब्द का प्रयोग परमात्मा के लिए किया है मल्लिनाथ व्याख्या में लिखते हैं सात लोकों भू, भुव, स्वर्ग आदि के जो परमात्मा एकमात्र आश्रय हैं।[182] कवि की इस स्वर्गादि लोकों की अवधारणा का शास्त्रीय स्रोत हमें ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में प्राप्त होता है। जहाँ वर्णन किया गया है कि विराट पुरुष की नाभि से अन्तरिक्ष, सिर से द्युलोक, दोनों पैरों से भूमि तथा कानों से दिशाएँ प्रकट हुईं।[183] इसी प्रकार अनेकानेक लोकों की सृष्टि हुई है। ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त में कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ। वह उत्पन्न सभी प्राणियों का एकमात्र अधिपति था। उसी ने पृथ्वी, द्युलोक तथा अन्य सभी को धारण किया।[184] अथर्ववेद में भी कहा गया है उस ईश्वर में, पृथ्वी, अन्तरिक्ष द्युलोक स्थित है तथा अग्नि, सूर्य, चन्द्र एवं वायु उसके आश्रय में रहते हैं।[185] ऋग्वेद के विष्णुसूक्त में समस्त लोक लोकान्तरो को धारण करने वाले परमात्मा का उल्लेख किया गया है और आचार्य सायण ने दाधार भुवनानि विश्वा का चौदह भुवन को धारण करने वाला परमात्मा अर्थ किया है। उन्होंने पृथिवीशब्द से पृथिवी के नीचे जो सातलोक अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, पाताल का ग्रहण किया है और द्युशब्द से पृथिवी से ऊपर के सात लोक भू, भुवः, स्व, मह ,जन, तप, सत्य का ग्रहण किया।[186] सांख्यकारिका में कहा गया है सत्त्वप्रधान सृष्टि उर्ध्वलोक अर्थात् स्वर्गादि लोक में, तमोगुण प्रधान सृष्टि अधोलोक में तथा राजस सृष्टि मध्यलोक अर्थात् मनुष्यलोक में रहती है। यही ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त सृष्टि की स्थिति है।[187]

तैत्तिरीयोपनिषद् भी कहता है जो कुछ भी जड़ चेतनमयी सृष्टि है उसको उत्पन्न करने वाला परमात्मा है।[188] वेदान्तसार में आचार्य सदानन्द ने पृथ्वी आदि सात उर्ध्वलोक ,

---

[181] र०वं० 10.21, पृ० 149

[182] सप्तानां लोकानां भूर्भुवःस्वरादीनामेकसंश्रयम् एवं भूतमाचख्युः।। र०व० 10.21 ,पृ० 149 मल्लिनाथ व्याख्या में वर्णित

[183] नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयन्।। ऋ० 10.90.14, पृ० 382

[184] हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेकासीत।
स दाधार पृथ्वीं द्यामुतेमां कस्मै देवायहविषा विधेम।।ऋ०10.121.1, पृ० 397

[185] यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।।अथर्व० 10.7.12, पृ० 119

[186] यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा।।ऋ० 1.154.4, पृ० 67

[187] उर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्वः।
मध्ये रजोविशालो, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः।।सां०का० 54

[188] इदं सर्वमसृजत यदिदं किञ्च।। तैत्ति०उप० 2.6.4

पाताल आदि सात अधोलोक इस प्रकार कुल चौदहभुवनों और उनसे निर्मित ब्रह्माण्ड की चर्चा की है।[189]

1.6 चतुर्वर्ण एवं कालिदासीय सन्दर्भ

भारतीय समाज की इस वर्णव्यवस्था का स्रोत हमें ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में प्राप्त होता है। विराटपुरुष के मुख से ब्राह्मण ,भुजाओं से क्षत्रिय , जंघाओं से वैश्य और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई है।[190] इस प्रकार यहाँ चारों वर्णों को परमपुरुष का अंग बतलाकर चारों के सामञ्जस्य का निर्देश किया गया है। किसी अंग के अभाव में पुरुष की सता नहीं हो सकती। चारों ही वर्णों का महत्त्व है। गीता मानती है कि चारों वर्णों की रचना करने वाला ईश्वर ही है।[191] श्रीमद्भगवद्गीता में गुण और कर्म के आधार पर चारों वर्णों का विवेचन किया गया है।[192] यदि हम दूसरे दृष्टिकोण से विचार करें तो विराटपुरुष राष्ट्र है और इस राष्ट्र को उन्नति के पथ पर ले जाने के लिए हमें बुद्धि, बल, धन और परिश्रम इन चारों की आवश्यकता होती है। इन चारों में से एक की भी कमी होने से हमारा उन्नति का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता। ब्राह्मण का बल उसके मुख में भाषण में वाक् शक्ति में ही होता है , क्योंकि उसकी सृष्टि मुख से हुई है। ऐसे अनूचान ब्राह्मण जिसने षडङ्गों के सहित वेदों का अध्ययन किया हो उसके वश में रहने पर ही राष्ट्र का मंगल होता है और राष्ट्र में वीर पैदा होते हैं।[193] कालिदास क्षत्रिय शब्द का अर्थ करते हुए लिखते हैं कि जो दूसरों को नष्ट होने से बचावे वह क्षत्रिय शब्द वाच्य है।[194] क्षत्रिय राष्ट्र का रक्षक है और वैश्य उसका वर्धक है, पैर से उत्पन्न होने के कारण चतुर्थवर्ण सेवाधर्म प्रधान धर्म है। डॉ राधाकृष्णन् के शब्दों में मानव समाज भिन्न प्रकार की श्रेणियों से बना है और उन में सबका अपना– अपना महत्त्व है। वे सभी एक सामान्य लक्ष्य को सिद्ध

---

[189]एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यो भूर्भुवः स्वर्महर्जनस्तपः सत्यमित्येतन्नामकानामुपर्युपरिविद्यमानानाम् अतलवितलसुतलरसातलतलातलमहातलपातालनामकानाम् अधोऽधोविद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्वर्तिचतुर्विधस्थूलशरीराणां तदुचितानामन्नपानादीनाञ्चोत्पत्तिर्भवति।।वे०सा०,स्थूलसृष्टिप्रक्रिया, पृ० 205

[190] ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत।।ऋ० 10.90.12, पृ० 382

[191] चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्।। गीता 4.13

[192] चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्।।गी० 4.13
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप। कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।
कृषिगौरक्ष्य वाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।गी०18.41–44

[193] तस्माद् ब्राह्मणो मुखेन वीर्यं करोति, मुखतो हि सृष्टः।।ताण्ड्यब्रा० 6.1.6, बलदेव उपाध्याय ,वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ०सं० 192 में उद्धृत
तद् यत्र ब्राह्मणः क्षत्रः वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तद्वीरवदाहास्मिन् वीरो जायते।। ऐत०ब्रा० 8.9 ,बलदेव उपाध्याय ,वैदिक साहित्य और संस्कृति, पृ०सं० 193 में उद्धृत

[194] क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ़ः।। र०वं० 2.53, पृ० 116

करने में लगे हुए हैं।[195] एक सुयोग्य राजा जो राष्ट्र के लिए समर्पित भाव से कार्य करता है उसके राष्ट्र में चारों वर्णों के लोग दूसरों को कष्ट देना ,दूसरों को ठगना इत्यादि अधर्मों से सर्वदा दूर रहते हैं तथा उनमें परस्पर में मैत्रीभाव होता है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यन्त एक सुयोग्य शासक है जो प्रजा की भलाई के लिए तत्पर है, इसीलिए उसके सुशासन में चारों वर्ण का व्यक्ति अधर्म का आचरण नहीं करता है।[196]

आपस्तम्बधर्मसूत्र में भी चारों वर्णो का उल्लेख किया गया है।[197] जो समाज में ज्ञान प्रदान करने वाले हैं उन्हें ब्राह्मण कहा गया है, जो पराक्रमी है उन्हें क्षत्रिय की संज्ञा दी गई है ,मनु ने क्षत्रिय का परम धर्म प्रजा का पालन करना कहा है।[198] जो पालन पोषण करने वाले एवं व्यापार में निष्णात हैं उन्हें वैश्य की संज्ञा दी गई है और जो सेवाभाव से युक्त है उन्हें शूद्र की संज्ञा दी गई है।

कवि कालिदास के समय में भी चतुर्वर्ण व्यवस्था रही है क्योंकि रघुवंश में उन्होंने चार वर्णों की बात कही है। इसके उदाहरण उनके ग्रन्थों में हमें प्राप्त होते हैं, उन्होंने चतुर्वर्णमयो लोकः[199] कहकर समाज में चार वर्गों की बात की है। राजा दुष्यन्त कहता है कि चारों वर्णों से जो कर मिलता है वह तो समाप्त हो जाता है किन्तु इन वनवासी ऋषियों से तप का जो छठा भाग कर के रूप में मिलता है वह अक्षय होता है।[200]

अभिज्ञानशाकुन्तल में जब दुष्यन्त शकुन्तला को देखता है कि यह क्षत्रिय कन्या है या ब्राह्मण कन्या[201] तो वह संशयग्रस्त हो जाता है। राजा शकुन्तला को ब्राह्मण कन्या समझकर ही संशयग्रस्त होता है। क्योंकि मनु के नियम के अनुसार राजा ब्राह्मणकन्या से विवाह नहीं कर सकता। मनु ने समान वर्ण वाली स्त्रियों के साथ ही पाणिग्रहण संस्कार का उपदेश किया है।[202]

---

[195] Society is an organism of different grades, and human activities differ in kind and significance. But each of them is of value so long as it serves the common end. Every type has its own nature which should be followed .No one can be at the same time a perfect saint, a perfect artist and a perfect philosopher. Every definite type is limited by boundaries which deprive it of other possibilities. Dr. Radhakrishnan,*Hindu View of Life*,George Allen & Unwin LTD, London,1964,Thirteenth Impression ,P.90

[196] महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते।। अ०शा० 5.10, पृ० 499

[197] चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः।।आप०ध०1.1.4

[198] क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्।।मनु० 7.144, पृ० 42

[199] र०वं० 10.22, पृ० 177

[200] यदुतिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम्।
तपः षड्भागम् अक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः।।अ०शा० 2.14, पृ० 454

[201] असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।।अ०शा० 1.20, पृ० 436
भव हृदयं साभिलाषं सम्प्रति सन्देहनिर्णयो जातः।
आशङ्कसे यदग्निं तदिदं स्पर्शक्षमरत्नम्।।अ०शा० 1.25, पृ० 442

[202] पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते।।मनु० 3.43, पृ० 227

कवि कालीन समाज में वेद शास्त्रादि का अध्ययन करने वाले विद्वानों का बड़ा आदर होता था। राजा श्रेष्ठ विद्वानों को धनादि दान करता था। अभिज्ञानशाकुन्तल में जब राजा के नाम से अङ्कित अंगूठी को लेकर मछुवारा आता है तो राजसेवक कहता है क्या ब्राह्मण जानकर राजा ने ये अंगूठी दान में दी है।[203] जब वह कहता है कि मैं धीवर(मछुवारा) हूँ तब राजपुरुष कहता है क्या हमने तुम से तुम्हारी जाति पूछी है इत्यादि।[204] इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि कवि कालिदास के समय में भी जातिगत वर्णव्यवस्था रही है।

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के आचार्य डॉ हरिराम मिश्र जी ने अपने व्याख्यानों में इस तथ्य को स्पष्ट किया कि कवि कालिदास सामाजिक समरसता के लिए अत्यन्त जागरूक थे क्योंकि उनके नाटक अभिज्ञान शाकुन्तलम् में उन्होंने शकुन्तला और दुष्यन्त को मिलाने का आधार एक धीवर को बनाया है।

1.7 कालिदास की रचनाओं में सूर्योपासना का शास्त्रीयमत

भारतीय परम्परा में भगवान् सूर्य की उपासना का विशेष महत्त्व है। प्रातःकाल जव भगवान् सूर्य उदित होते हैं तब सभी लोग अपने आरोग्य के लिए उन्हें अर्घ्य समपित करते है तथा सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम करते हैं। इसी प्रातःकालीन सूर्योपस्थान का विवेचन कवि ने विक्रमोर्वशीयम् में किया है।[205] याज्ञवल्क्य का मत है कि सूर्य का उपस्थान गायत्रीमन्त्र से प्रतिदिन करना चाहिए।[206]

वेदों में सूर्य को जगत की आत्मा कहा गया है।[207] समस्त चराचर जगत की आत्मा सूर्य ही है। सूर्य से ही इस पृथ्वी पर जीवन है, यह आज एक सर्वमान्य सत्य है। ऋग्वेद के देवताओं में सूर्य का महत्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में विराट पुरुष के नेत्र से सूर्य के प्राकट्य का वर्णन किया गया है।[208] ऋग्वेद में अन्धकार को दूर करने वाले सूर्य के तीन रूपों का वर्णन प्राप्त होता है 1. उद् 2. उत्तर 3. उत्तम जो क्रमशः माहात्म्य में बढ़कर है। सूर्य की उस ज्योति का नाम उत् है जो इस भुवन के भौतिक अन्धकार को दूर करने में समर्थ होती है। सूर्य की उस ज्योति का नाम उत्तर है जो देवों के मध्य में जो देवरूप में निवास करती है। इन दोनों से बढ़कर एक विशिष्ट ज्योति है जिसकी

---

[203] किं शोभनो ब्राह्मण इति कलयित्वा राज्ञा प्रतिग्रहो दत्तः।।अ०शा० 6, पृ० 97

[204] अहं शक्रावताराभ्यन्तरालवासी धीवरः।
किमस्माभिर्जातिः पृष्टा।। अ०शा०6, पृ० 97

[205] उदयोन्मुखस्य भगवतः सूर्यस्योपस्थापनं कुर्वः।। विक्र० 4, पृ० 528

[206] सूर्यस्य चाप्युपस्थानं गायत्र्याः प्रत्यहं जपः।।याज्ञ० 1.22

[207] सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।यजु० 7.42, पृ० 19

[208] चक्षोः सूर्यो अजायत।। ऋ० 10.90.13, पृ० 382

संज्ञा उत्तम है। अतः ये तीनों शब्द सूर्य के कार्यात्मक, कारणात्मक तथा कार्यकारण से अतीत अवस्था के द्योतक हैं। इस एक ही मन्त्र में सूर्य के आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक स्वरूपों का संक्तेत है।[209]

लघुव्यासस्मृति में कहा गया है विद्वानों को प्रातःकाल पूर्वमुखासीन होकर सविता के मण्डल में विराजमान गायत्री का जप करना चाहिए।[210] कवि ने सूर्य विषयक सुन्दर उपमा दी है जो गायत्री मन्त्र को द्योतित करती है, लव कुश के साथ सीता जी राम के पास जाते हुए ऐसी लगती है जैसे स्वर और संस्कार के साथ गायत्री सूर्य के पास जा रही हो।[211] ऋग्वेद और यजुर्वेद का प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र भी सविता भगवान् के ध्यान के लिए हमें प्रेरित करता है। हम उस वर्णनीय तेजस्वी स्वरूप भगवान् सूर्य का ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करते हैं।[212] यहाँ यह ध्यातव्य है कि यह मन्त्र ऋग्वेद और यजुर्वेद दोनों में प्राप्त होता है। अन्तर केवल इतना है कि ऋग्वेद के मन्त्र में तीन व्याहृतियों (भूः,भुवः, स्वः) नहीं पढ़ें गए हैं।[213] जबकि यजुर्वेद के मन्त्र में तीन व्याहृतियाँ पढ़ी गई हैं।

मनु कहते हैं प्रजापति ने तीनों वेदों से ही तत् इत्यादि इस सावित्री मन्त्र के प्रत्येक पाद का दोहन किया है। इसलिए वेदों को जानने वाले विद्वान् इस ओंकार अक्षर तथा तीनों व्याहृतियों का पूर्व में प्रयोग करके इस सावित्री मन्त्र को दोनों सन्ध्याओं में जपते हैं।[214] श्रीमद्भागवत में राजर्षि भरत प्रातःकाल सभी कर्मों के फलों को देने वाले एवं संसार की उत्पत्ति, पालन और प्रलय के हेतु भगवान् सूर्य के तेज का ध्यान करते हैं।[215] वस्तुतः सूर्योपासना के प्रति महाकवि का अत्यन्त प्रेम का आधार स्रोत हमारे वेद, रामायण आदि शास्त्र ही हैं, जिनमें सूर्य की महिमा का गान किया गया है।

---

[209] उद् वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।।ऋ० 1.50.10, पृ० 23

[210] सवितुर्मण्डलगतां गायत्रीं वै जपेद्बुधः।
प्राङ्मुखः प्रयतो विप्रः सन्ध्योपासनमाचरेत्।। ल०व्या० स्मृ० 1.26

[211] स्वरसंस्कारवत्याऽसौ पुत्राभ्यामथ सीतया।
ऋचेवोदर्चिषं सूर्यं रामं मुनिरुपस्थितः।। र०वं० 15.76, पृ० 225

[212] भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात्।। यजु० 36.3, पृ० 93

[213] तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्।।ऋ० 3.62.10, पृ० 125

[214] त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याः परमेष्ठी प्रजापतिः।।
एतदक्षरमेतां च जपन्व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते।। मनु० 2.77,78, पृ० 116

[215] परोरजः सवितुर्जातवेदो देवस्य भर्गो मनसेदं जजान।
सुरेतसादः पुनराविश्य चष्टे हंसं गृध्राणं नृषद्विङ्गरामिमः।। भा०पु० 5.7.14

कवि भगवान् सूर्य की ओर दृष्टि रखकर तप का विधान करते हैं। रघुवंश में सीता जी कहती हैं कि मै सूर्य में दृष्टि लगाकर तपस्या करुँगी ताकि श्रीराम ही अगले जन्म मेरे स्वामी हो।[216] कवि कश्यप ऋषि के प्रसंग में सूर्य की ओर स्थित होकर समाधि लगाने का वर्णन करते हैं।[217]

विक्रमोर्वशीयम् में कवि ने सूर्य के व्यूह का संकेत दिया है–अप्सरोवारपर्यायेणेह भगवतः सूर्यस्य पादमूलोपस्थाने वर्तत इति।[218] अभिज्ञानशाकुन्तल में कवि ने भगवान् सूर्य के स्वरूप उन बारह आदित्यों का उल्लेख किया है जो चैत्रादि बारहमहीनों में लोकों का व्यवहार ठीक–ठीक चलाने के लिए चक्कर लगाया करते हैं।[219] श्रीमद्भागवत महा पुराण में विस्तार से सूर्यव्यूह का वर्णन किया गया है। भगवान् सूर्यनारायण कालरूप धारण कर लोकहित के लिए अपने रथ पर विचरण करते हैं। उस समय प्रत्येक महीनें में अलग–अलग ऋषि, गन्धर्व, नाग, अप्सरा इत्यादि उनकी स्तुति का गान करते हैं।[220]

सूर्य आराधना का प्रसङ्ग वाल्मीकिरामायण के युद्धकाण्ड में वर्णित है, जहाँ अगस्त्य ने श्रीराम को शत्रुओं पर विजय प्राप्ति के लिए आदित्यहृदय स्तोत्र का उपदेश किया है।[221] विपत्ति में सूर्योपासना का विधान है। अगस्त्य श्रीराम से कहते हैं कि विपत्ति में, कष्ट में,

---

[216] साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः।।र०वं० 14.66, पृ० 216

[217] वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरसा संदष्टसर्पत्वचा
कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसम्पीडितः।
अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं बिभ्रज्जटामण्डलं
यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः।।अ०शा० 7.11, पृ० 545

[218] विक्र०, चतुर्थ अङ्क, पृ० 526

[219] प्राहुर्द्वादशधा स्थितस्य मुनयो यत्तेजसः कारणम् ।।अ०श० 7, पृ० 144

[220]अप्सरोवारपर्यायेण अप्सरसां वाराः सेवासमयाः। भगवन्तं सूर्यं व्यूह्य तिष्ठन्त ऋष्यप्सरो गन्धर्वादयः पर्यायेण तदुपस्थानं कुर्वन्तीति प्रसिद्धमेव। सूर्यव्यूहवर्णनं भागवते द्वादशस्कन्धे एकादशाध्याये यथा– "मध्वादिषु द्वादशसु भगवान्कालरूपधृक्। लोकतन्त्राय चरति पृथग्द्वादशभिर्गुणैः। धाता कृतस्थली हेतिर्वासुकी रथकृन्मुने।। पुलस्त्यस्तुम्बुरुरिति मधुमासं नयन्त्यमी ।अर्यमा पुलहोऽथौजाः प्रहेतिः पुञ्जकस्थली । नारदः कच्छनीरश्च नयन्त्येते स्म माधवम्। मित्रोऽत्रिः पौरुषेयोऽथ तक्षको मेनका हहाः। रथस्वनः इति ह्येते शुक्रमासं नयन्त्यमी। वसिष्ठो वरुणो रम्भा सहजन्या तथा हुहूः। शुक्रश्चित्रस्वनश्चौव शुचिमासं नयन्त्यमी। इन्द्रो विश्वावसुः श्रोता एलापत्रस्तथाङ्गिगरारू। प्रम्लोचा राक्षसो वर्यो नभोमासं नयन्त्यमी।। विवस्वान् उग्रसेनश्च व्याघ्र आसारणो भृगुः। अनुम्लोचा शङ्खपालो नभस्याख्यं नयन्त्यमी।। पूषा धनञ्जयो वातःसुषेणःसुरुचिस्तथा। घृताची गौतमश्चेति तपोमासं नयन्त्यमी।। क्रतुर्वर्चा भरद्वाजःपर्जन्यःसेनजित्तथा। विश्व ऐरावतश्चौव तपस्याख्यं नयन्त्यमी।। अथांशुःकश्यपस्तार्क्ष्य ऋतसेनस्तथोर्वशी। विद्युच्छत्रुर्महाशङ्खःसहोमासं नयन्त्यमी।। भगःस्फूर्जोऽरिष्टनेमिरूर्णआयुश्च पञ्चमः। कर्कोटकःपूर्वचित्तिःपुष्यमासं नयन्त्यमी।। त्वष्टा ऋचीकतनयःकम्बलश्च तिलोत्तमा। ब्रह्मापेतोऽथशतजिद्धृतराष्ट्र इषम्भराः।। विष्णुरश्वतरो रम्भासूर्यवर्चाश्च सत्यजित्। विश्वामित्रो मखापेतं ऊर्जमासं नयन्त्यमी।। एता भगवतो विष्णोःआदित्यस्य विभूतयः। स्मरतां सन्ध्ययोनृणां हरन्त्यंहो दिने दिने।। द्वादशस्वपि मासेषु देवोऽसौषड्भिरस्य वै। चरन्समन्तात्तनुते परत्रेह च सन्मतिम्।।सामर्ग्यजुर्भिस्तल्लिङ्गैःऋषयःसंस्तुवन्त्यमुम्। गन्धर्वास्तं प्रगायन्ति नृत्यन्त्यप्सरसोऽग्रतः।। उन्नह्यन्ति रथं नागाग्रामण्यो रथयोजकाः। चोदयन्ति रथं पृष्ठेनैर्ऋताबलशालिनः।। वालखिल्याःसहस्राणिषष्टिर्ब्रह्मर्षयोऽमलाः। पुरतोऽभिमुखं यान्तिस्तुवन्ति स्तुतिभिर्विभुम्।।भा०पु० 12.11.32–49

[221] आदित्यहृदयं पुण्यं सर्वशत्रुविनाशनम्।
जयावहं जपं नित्यमक्षयं परमं शिवम्।। वा०रा०, युद्धकाण्डम् 105.4

दुर्गम मार्ग में तथा और किसी भय के अवसर पर जो कोई इन सूर्यदेव का कीर्तन करता है, उसे दुःख नहीं भोगना पड़ता है।[222] मयूरभट्ट कवि जब शापग्रस्त हुए, तो उस शाप से मुक्ति के लिए उन्होंने भगवान् सूर्य की आराधना की। उन्होंने भगवान् सूर्य को प्रसन्न करने के लिए सूर्यशतक काव्य की रचना की है। इसी सूर्यशतक के प्रभाव से ही वे शाप से मुक्त हुए हैं, इस रोगमुक्त वाली घटना की ओर संकेत आचार्य मम्मट ने काव्यप्रयोजन बताते हुए अपने काव्यप्रकाश में किया है।[223] सूर्यशतक में मयूरभट्ट ने भगवान् भास्कर से प्रार्थना की है कि हे सूर्यदेव! आपकी जिन किरणों को अणिमादि अष्ट सिद्धियों से युक्त सिद्धों ने अर्घ्य प्रदान किया है, आपकी वे ही किरणें हमारे पापों को नष्ट करे।[224] ऋग्वेद के सवितृसूक्त में यह वर्णन किया गया है कि भगवान् सविता रोगों को नष्ट करने वाले हैं।[225]

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने सूर्य को अपना स्वरूप बताते हुए कहा है कि ज्योतियों में मैं किरणों वाला सूर्य हूँ।[226]

कवि कालिदास ने अपनी कृतियों में सूर्य के लिए सविता[227], सूर्य[228], रवि[229], भानु[230] , घर्मांशु[231], सप्तसप्ति[232], हरिदश्वदीधिति[233], दीधितिमान्[234], गभस्तिमान्[235], विवस्वान्[236]

---

[222] एनमापत्सु कृच्छ्रेषु कान्तारेषु भयेषु च।
कीर्तयन् पुरुषः कश्चिन्नावसीदति राघव।। वा०रा० 105.25

[223]आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्। का०प्र०, प्रथम उल्लास, कारिका–2, व्याख्या में विवेचित

[224] शीर्णघ्राणाङ्घ्रिपाणीन्द्रणिभिरपघनैर्घर्घराव्यक्तघोषान्।दीर्घाघ्रातानघौघः पुनरपि घटयत्येक उल्लाघयन् यः।
घर्मांशोस्तस्य वोऽन्तर्दिवगुणघनघृणानिघ्ननिर्विघ्नवृत्तेर्दत्तार्घाः सिद्धसङ्घैर्विदधतु घृणयः शीघ्रमंहोविघातम।।सू०श० 6
उभयमेव वदन्ति मनीषिणःसमयवर्षितया कृतकर्मणाम्।बलनिषूदनमर्थपतिञ्च तं श्रमनुदं मनुदण्डधरान्वयम्।।र०वं० 9.3,पृ० 166

[225] हिरण्यपाणिः सविता विचर्षणिरुभे द्यावापृथिवी अन्तरीयते।
अपामीवां बाधते वेति सूर्यमभि कृष्णेन रजसा द्यामृणोति।ऋ० 1.35.9 पृ० 17

[226] ज्योतिषां रविरशुंमान्।।भ०गी० 10.21

[227] हुताग्निकल्पैः सवितुर्गभस्तिभिः।।ऋ०स०1.16, पृ० 6
सविता बोधयति पङ्कजान्येव।। अ०शा० 5.28, पृ० 509
दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः।।र०वं० 4.1, पृ० 126
हुताग्नि–कल्पैः सवितुर्गभस्तिभिः कलापिनः क्लान्त–शरीर–चेतसः।।ऋ०सं०1.16, पृ० 4
नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम्।।मे०दू० 2.9, पृ० 37

[228] सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा।। र०वं० 5.13, पृ० 135
विषाग्नि–सूर्यातप–तापितः फणी न हन्ति मण्डूक–कुलं तृषाकुलम्।।ऋ०सं० 1.20, पृ० 4
प्रचण्ड–सूर्यः स्पृहणीय–चन्द्रमाः सदावगाह–क्षत–वारि–सञ्चयः।।ऋ०सं०1.1, पृ० 3
असह्य–वातोद्धत–रेणु–मण्डला प्रचण्ड–सूर्यातप–तापिता मही।।ऋ०सं०1.10, पृ० 3
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम्।। मे०दू० 2.20, पृ० 335
निद्रां प्रयाति मृदुसूर्यकराभितप्ता।। ऋ०सं० 4.15, पृ० 14

[229] खं प्रसुप्तमिव संस्थिते रवौ तेजसो महत ईदृशी गतिः।।कु०स० 8.43, पृ० 95
यूथानि सञ्चार्य रविप्रतप्तः।।अ०शा० 5.5, पृ० 498
रवेर्मयूखैरभितापितो भृशं विदह्यमानः पथि सप्त–पांसुभिः।।ऋ०सं०1.13, पृ० 4
रवेर्मयूखैरभितापितो भृशं वराह–यूथो विशतीव भूतलम्।।ऋ०सं०1.17, पृ० 4
रवि–प्रभोद्भिन्न–शिरोमणि–प्रभोर्विलोल–जिह्वाद्वय–लीढ–मारुतः।।ऋ०सं०1.20, पृ० 4
रविकिरणसहिष्णु स्वेदलेशैरभिन्नम्।।अ०शा० 2.4, पृ० 449

[230] भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव।। अ०शा० 5.4, पृ० 497

सहस्रकिरण[237], अर्क[238], दशरश्मिशत[239], अहर्पति[240], भास्कर[241], दिवाकर[242], उष्णतेज[243] अंशुमान्[244] तपन[245] दिनकर[246] आदित्य[247] इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है। कवि कहते हैं संसार को अपने प्रकाश से चैतन्यता प्रदान करने वाले भगवान् सूर्य ही हैं।[248] सूर्य के छिपते ही सारा आकाश सोया हुआ सा जान पड़ता है। तेजस्वियों की यही विशेषता होती है कि वे जहाँ निकलते हैं वहाँ उजाला हो जाता है और वे जहाँ छिपते हैं वहाँ अँधेरा छा जाता है।[249] यहाँ कवि के कहने का तात्पर्य है कि जब तक तेजस्वी पुरुषों, आचारशील लोगों का हमारे जीवन से सम्बन्ध रहता है तब तक हमारी उन्नति होती है किन्तु जब वे महापुरुष हम से अलग होते हैं तो हमारा जीवन अन्धकारमय हो जाता है। कवि सूर्य विषयक उपमा के माध्यम से लौकिक धर्म को दिखाने का प्रयास करते हैं। कवि कहते हैं कि जब सूर्य अस्ताचल को जाने लगे तो सन्ध्या उनके पीछे–पीछे चलने लगी। क्योंकि सूर्य के उदय के समय भी वह सूर्य के साथ थी फिर वह विपत्ति में सूर्य का साथ कैसे

करेण भानोर्बहुलावसाने संधुक्ष्यमाणेव शशाङ्करेखा।।कु०स० 7.8, पृ० 84
विशुष्क–कण्ठाहृत–सीकराम्भसो गभस्तिभिर्भानुमतोनुतापिताः।।ऋ०सं० 1.15, पृ० 4
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः।।मे०दू०1.34, पृ० 31
शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु।। मे०दू० 1.43, पृ० 32

[231] तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति।।अ०शा० 5.14, पृ० 501

[232] उच्छेतुं प्रभवति यन्न सप्तसप्तिस्तन्नैशं तिमितमपाकरोति चन्द्रः।। अ०शा० 6.30, पृ० 539

[233] पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेः।।र०वं० 3.22, पृ० 120

[234] प्रातर्दीधितिमानिव।।कु०स० 2.2, पृ० 52, तत्रावतीर्याच्युतदत्तहस्तः शरद्घनाद्दीधितिमानिवोक्षणः।।कु०स० 7.70, पृ० 89

[235] विभावसुः सारथिनेव वायुना घनव्यपायेन गभस्तिमानिव।।र०वं० 3.37, पृ० 122

[236] तेजांसीव विवस्वतः।।र०वं०10.30,पृ० 177

[237] किं वाऽभविष्यदरुणस्तमसां विभेत्ता
तं चेत् सहस्रकिरणो धुरि नाकरिष्यत्।। अ०शा० 7.4, पृ० 443
उपाददे तस्य सहस्रश्मिस्त्वष्ट्रा नवं निर्मितमातपत्रम्।।कु०स० 7.41, पृ० 87

[238] तनयमचिरात्प्राचीवार्कं प्रसूय च पावनं
मम विरहजं न त्वं वत्से शुचं गणयिष्यसि।। अ०शा० 4.19, पृ० 491
यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः।।अ०शा० 7.11, पृ० 545

[239] दशरश्मिशतोपमद्युति यशसा दिक्षु दशस्वपि श्रुतम्।।र०वं 8.29, पृ० 159

[240] द्यावापृथिव्योः प्रत्यग्रमहर्पतिरिवातपम्।।र०वं 10.54, पृ० 179

[241] रेजतुर्गतिवशात्प्रवर्तिनौ भास्करस्य मधुमाधवाविव।।र०वं० 11.7, पृ० 183

[242] लोकमन्धतमसात्क्रमोदितौ रश्मिभिः शशिदिवाकराविव।।र०व० 11.24,पृ० 125
दिवाकरादर्शनबद्धकोशे नक्षत्रनाथांशुरिवारविन्दे।।र०वं० 6.66, पृ० 148

[243] आरोप्य चक्रभ्रमणमुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति।।र०वं० 6.32, पृ० 144

[244] आदिष्टवर्त्मा मुनिभिः स गच्छंस्तपतां वरः। विरराज रथप्रष्ठैर्बालखिल्यैरिवांशुमान्।।र०वं० 15.10, पृ० 219

[245] यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।।र०वं० 4.12, पृ० 127

[246] दिनकर–परिताप–क्षीण–तोयाः समन्ताद्।।ऋ०सं० 1.22, पृ० 4
पत्रश्यामा दिनकरहयस्पर्धिनो यत्र वाहाः।।मे०दू० 2.13, पृ० 333

[247] अत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः।।मे०दू० 1.47,पृ० 327

[248] यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः।। र०वं० 5.4,पृ० 38

[249] खं प्रसुप्तमिव संस्थिते रवौ तेजसो महत ईदृशी गतिः।
तत्प्रकाशयति यावदुद्गतं मीलनाय खलु तावतश्च्युतम्।। कु०स० 8.43, पृ० 95

छोड़ सकती है अर्थात् कवि का भाव है कि हम यदि सम्पत्ति में साथ देते हैं तो विपत्ति में भी साथ देना चाहिए।[250] यह लौकिक शिक्षा कवि ने यहाँ दी है।

1.7.1 पाश्चात्य परम्परा में सूर्योपासना का विवेचन

सूर्य की उपासना का विधान केवल भारतीय परम्परा में ही नहीं है बल्कि विश्व के विभिन्न स्थानों में भिन्न–भिन्न नामों से उपासना की परम्परा रही है। गयाचरण त्रिपाठी जी ने अपनी पुस्तक में इसका उल्लेख किया है –लिथुआनियन धर्म में केवल साऊले (सूर्य) एवं मेनू (चन्द्रमा) ही नहीं अपितु ओस्वरा(उषस्) तथा ओस्रजीने और वकरीने (क्रमशः भोर एवं साँझ का तारा) भी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। प्राचीन जर्मन जाति के धर्म में भी सूर्य एवं चन्द्रमा की पूजा के अनेक प्रमाण पाये जाते हैं। याकोब ग्रिम ने लिखा है कि इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि हम लोगों के प्राचीनतम धार्मिक इतिहास में अनेक आकाशीय वस्तुओं की पर्याप्त उपासना होती थी, विशेषतः सूर्य एवं चन्द्रमा की। सुप्रसिद्ध ग्रीक इतिहास लेखक हेरोदोतस्, क्सेनोफोन तथा युर्नियस ने लिखा है कि प्राचीन ईरानियन सूर्य की पूजा करते थे। इनका ह्व र्ख्वर नाम से आह्वान किया जाता था। इनके लिए प्रायः प्रयुक्त होने वाला और्वतस्य (शीघ्रगामी अश्वों से युक्त) विशेषण सूचित करता है कि वे सूर्य की तीव्रगामी अश्वों द्वारा खींचे जाते हुए रथ में आकाश की परिक्रमा करने की कल्पना करते थे। ऋग्वेद में भी सूर्य को सात घोड़ो के रथ में आरूढ़ होकर आकाश में विचरण करते हुए वर्णित किया गया है। (इसलिए परवर्ती साहित्य में उनके लिए सप्तसप्तिः विशेषण प्राप्त होता है) ठीक इसी प्रकार ग्रीक देवशास्त्र में भी सूर्य (अपोलो) के रथ को पक्ष युक्त अश्वों द्वारा खींचा जाता हुआ बताया गया है। सूर्य की आकाश से सम्बन्धित देवता के नेत्र के रूप में परिकल्पना ग्रीक , जर्मन तथा ईरानियन देवशास्त्रों में भी प्राप्त होती है । सूर्य को सूचित करने वाले शब्द विभिन्न भाषाओं में संस्कृत– सूर्य, अवेस्ता –ह्वरध्ख्वर, ग्रीक– हेलियोस, लैटिन– सोल्, गाथिक– सोयल, वेल्श–ह्यू , प्रा०प्रशियन– साऊले, लिथुआनियन–साऊले, स्लेव०–सांल्जे।[251]

1.8 यज्ञ के ऋत्विज एवं कालिदासीय सन्दर्भ

यज्ञ को विधिपूर्वक सम्पन्न करने के लिए अलग–अलग ऋत्विज अपना–अपना कार्य सम्पन्न करते हैं। ऋग्वेद में ऋत्विजों के कार्यों का उल्लेख किया गया है, चारों वेदों के अनुसार यज्ञ में चार ऋत्विज होते हैं–होता, अध्वर्यु, उदगाता और ब्रह्मा। होता ऋग्वेद के

---

[250] संध्ययाप्यनुगतं रवेर्वपुर्वन्द्यमस्तशिखरे समर्पितम्।
येन पूर्वमुदये पुरस्कृता नानुयास्यति कथं तमापदि।। कु०स० 8.44, पृ० 95

[251] वैदिक देवता उद्भव और विकास , गयाचरण त्रिपाठी ,राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थान, नई दिल्ली , 2011, पृ० 25–26

मन्त्रों का पाठ करता है। अध्वर्यु यजुर्वेद का ऋत्विज है जो यज्ञ की प्रक्रिया करवाता है, कुमारसम्भव में शिव ने स्वयं सप्तर्षियों को विवाहयज्ञ में अध्वर्यु नियुक्त किया है।[252] उदगाता सामवेद का ऋत्विज है सामवेद के मन्त्रों का पाठ करता है। ब्रह्मा अथर्ववेद का ऋत्विज है वही यज्ञ का अधिष्ठाता है,वही यज्ञ का संचालन करता है। रघुवंश में महर्षि वसिष्ठ को अथर्ववेद का ज्ञाता कहा गया है।[253] ऋग्वेद के मन्त्र में इन चारों ऋत्विजों के कामों का वर्णन मिलता है। [254] अमरकोश में भी वेदों के ऋत्विजों अध्वर्यु, उद्गाता ,होता ,का वर्णन आया है।[255]

आचार्य यास्क ने निरुक्त में इस मन्त्र की व्याख्या में ऋत्विजों के नामों के व्युत्पत्यर्थ पर विचार किया है।[256] उन्होंने यज्ञ के पर्याय शब्द अध्वर की व्याख्या में कहा है कि जिस कर्म में हिंसा न हो वही अध्वर है।[257] अर्थात् हिंसा से जो रहित है वही यज्ञ कहा जाता है। आचार्य सायण ने भी अध्वर शब्द का अर्थ हिंसारहित ही किया है अध्वरं हिंसारहितम्।[258] कालिदास ने रघुवंश में यज्ञ के पर्याय अर्थ में ही अध्वर शब्द का प्रयोग किया है।[259] कवि ने यज्ञ के ऋत्विज अर्थात् याज्ञिक ऋषिशृङ्गी आदि की का विवेचन किया है जिन्होंने राजा दशरथ के पुत्रप्राप्ति के निमित्त यज्ञ किया था।[260] मल्लिनाथ ऋत्विजशब्द का अर्थ करते हैं –ऋतुमृतौ वा यजन्ति इति ऋत्विजः याज्ञिका।[261]

रघुवंश में राजा अतिथि ने यज्ञ किया, उस यज्ञ में उन्होंने ऋत्विजों को इतनी दक्षिणा दी कि लोग उन्हें दूसरा कुबेर कहने लगे।[262]

---

[252] विवाहयज्ञे विततेऽत्र यूयमध्वर्यवः पूर्ववृता मयेति।। कु०स० 7.47,पृ० 240

[253] अथाथर्वनिधेस्तस्य विजितारिपुरः पुरः।
अर्थ्यामर्थपतिर्वाचमाददे वदतां वरः।।र०वं० 1.59, पृ० 7

[254] ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्वः।।ऋ० 10.71.11, पृ० 372

[255] अध्वर्यूद्गातृहोतारो यजुः सामर्ग्विदः क्रमात्।।
आग्नीध्राद्या धनैर्वार्या ऋत्विजो याजकाश्च ते।। अ०को० 2, ब्रह्मवर्ग, 17

[256]ऋत्विक्कर्मणां विनियोगमाचष्टे। ऋचामेकः पोषमास्ते पुपुष्वान्। होता। ऋगर्चनी। गायत्रमेको गायति शक्वरीषु। उद्गाता। गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः। शक्वर्यः ऋचः। शक्नोतेः। तद्यदाभिर्वृत्रम् अशकद्धन्तुं तच्छक्वरीणां शक्वरीत्वम् इति विज्ञायते। ब्रह्मैको जाते जाते विद्यां वदति। ब्रह्मा। सर्वविद्यः। सर्वं वेदितुम् अर्हति। ब्रह्मा परिबृहं श्रुततः। ब्रह्म परिबृहं सर्वतः। यज्ञस्य मात्रां विमिमीत एकः। अध्वर्युः। अध्वरं युनक्ति। अध्वरस्य नेता। अध्वरं कामयत इति वा। अपि वाधीयाने युरुपबन्धः। अध्वरं इति यज्ञनाम। ध्वरतिर्हिंसाकर्मा। तत्प्रतिषेधः।। नि० 1.8

[257] ध्वरति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः।। नि० 1.8

[258] अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि ।
स इद् देवेषु गच्छति।।ऋ०1.4, सायणभाष्य

[259] तस्य दाक्षिण्यरूढ़ेन नाम्ना मगधवंशजा।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा।।र०वं० 1.31, पृ० 4

[260] ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः।
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः।।र०वं० 10.4, पृ० 91

[261] र०वं० 10.4, मल्लिनाथव्याख्या

[262] ऋत्विजः स तथानर्च दक्षिणाभिर्महाक्रतौ।
यथा साधारणीभूतं नामास्य धनदस्य च।।र०वं० 17.80,पृ० 167

1.9 कालिदासीय कृतियों में यज्ञाग्नि का स्वरूप एवं शास्त्रीय मत

अभिज्ञानशाकुन्तल में कालिदास ने कहा कि देवता यज्ञ के भाग को प्राप्त करने के लिए सदा उत्सुक रहते हैं।[263] अग्नि में दी हुई आहुति देवताओं को प्राप्त होती है और फिर वे देवता वृष्टि आदि के माध्यम से प्रजा पर अनुग्रह करते हैं। यज्ञ के समय इन्द्रादि देवताओं का यज्ञ भाग ग्रहण करने हेतु आह्वान किया जाता है। यज्ञ में सभी देवताओं की प्रतिष्ठा की जाती है और यह माना जाता है कि सभी देवता यज्ञ में उपस्थित होकर यज्ञ भाग ग्रहण करते हैं।[264] ऋग्वेद में अग्नि को देवताओं के साथ यज्ञ में बुलाने के लिए प्रार्थना की गई है। यहाँ अग्नि के लिए होमनिष्पादक, कीर्तिसम्पन्न, सत्यस्वरूप अर्थात् अनृतरहित अवश्य ही फल देने वाला ,ऋषियों के द्वारा स्तुत्य तथा देवताओं को यज्ञ में लाने में सहायक आदि विशेषण दिए गये हैं।[265]

यज्ञ से प्रसन्न देवता अनुग्रह करते हैं। ऋग्वेद के वाक् सूक्त में वागम्भृणी कहती है मैं शोभन हवि को देवताओं तक पहुँचाने वाले यजमान के लिए धन अर्थात् याग के फल को धारण करती हूँ।[266] कवि कालिदास का यह दृढ़ विश्वास था कि यज्ञ करने से देवता प्रसन्न और पुष्ट होते हैं, उन्होंने रघुवंश में वर्णन किया कि राजा दिलीप प्रजा से जो कर लेते हैं। उसे इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ में लगा देते हैं । उधर इन्द्र भी यज्ञ से प्रसन्न होकर आकाश का दोहनकर प्रजा के लिए अन्न के निमित्त जल बरसाता है।[267] कवि कहते हैं कि इन्द्र प्रजा के लिए भरपूर वर्षा करे और हम सैकड़ों वर्षों तक यज्ञ करते हुए उन्हें प्रसन्न करते रहें।[268] ऋग्वेद के अग्निसूक्त में कहा गया है कि जिस हिंसारहित यज्ञ के चारों ओर अग्नि व्याप्त हैं वह यज्ञ देवताओं में पहुँचता है।[269]

---

[263] यज्ञभागोत्सुका देवाः।।अ०शा० 6,पृ० 112

[264] क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणाम् अजस्रम् आहूतसहस्रनेत्रः।।र०वं० 6.23, , पृ० 50

[265] अग्निर्होता कविक्रतु सत्यश्चित्रश्रवस्तमः।
देवो देवेभिरागमत्।। ऋ०1.1.5, पृ० 5
अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः ईड्यो नूतनैरः उत।
स देवान् इह आ वक्षति।। ऋ० 1.1.2, पृ० 5

[266] अहम् दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राप्ये यजमानाय सुन्वते।।ऋ० 10.125.2, पृ० 398

[267] दुदोह गां स यज्ञाय सस्याय मघवा दिवम्।
सम्पद्विनिमयेनोभौ दधतुर्भुवनद्वयम्।। र०वं० 1.26, पृ० 4

[268] भवतु तव बिडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु ।
त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथाः।
गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यैः
नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः।। अ०शा० 7.34, पृ० 136
इन्द्राद् वृष्टिः।।र०वं० 17.81

[269] अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
स इद् देवेषु गच्छति।।ऋ०1.4, पृ० 5

परस्पर सहयोग की भावना के माध्यम से ही व्यक्ति समाज में उन्नति के पथ पर अग्रसर होता है।[270] श्रीमद्भगवद्गीता भी यही कहती है कि हम यज्ञ द्वारा देवताओं को उन्नत करें और वे देवता जलवृष्टि इत्यादि के द्वार हमें उन्नत करें। इस प्रकार दोनों ही एक दूसरे को उन्नत करते हुए परम श्रेय को प्राप्त करें।[271] यज्ञद्वारा संवर्धित देवता इष्ट भोगों को देते हैं।[272] अतः यज्ञ हम पर अनुग्रह करता है। क्यों कि यज्ञ करने से वर्षा होती है और उस वर्षा से अन्न पैदा होता है और उस अन्न से सभी प्राणी जीवित रहते हैं। अतः यज्ञ वर्षा में हेतु है।[273] कवि भी कहते हैं विधिपूर्वक अग्नि में दी गई आहुतियाँ वर्षा न होने से सूखे हुए धानादि के खेतों पर जलवृष्टि होकर बरसने लगती हैं।[274] समय की वर्षा से फले हुए धानों को देखकर संसार के सभी प्राणी प्रसन्न होते हैं।[275] मनु कहते हैं भलीप्रकार विधिविधान पूर्वक अग्नि में दी हुई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है। सूर्य से वर्षा उत्पन्न होती है। वर्षा से अन्न तथा उस अन्न से प्रजाएँ उत्पन होती हैं।[276] इसी बात को कवि ने कुमारसम्भव में कहा है।[277] भगवान् सूर्य प्रजा के जीवन के लिए हजारगुणा जल बरसाते हैं।[278] उस यज्ञ में विधिपूर्वक दी गई आहुति को देवताओं तक पहुँचाने वाले अग्नि हैं। भारतीय परम्परा में अग्नि देवताओं और मनुष्यों के बीच में मध्यस्थता का कार्य करते है। कवि लिखते हैं कि जब देवताओं को आहुति दी जाती है तब स्वाहा शब्द का उच्चारण किया जाता है। जब पितरों को तब स्वधा शब्द का उच्चारण किया जाता है क्योंकि अग्नि को इन देवता आदि का मुख कहा गया है।[279]

---

[270] त्वत्कार्यं वासवः कुर्यात्त्वं च तस्येष्टमाचरेः।
सूर्यः समेधयत्यग्निमग्निः सूर्यं च तेजसा।। विक्र० 5, पृ० 255

[271] देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।। गी० 3.11

[272] इष्टान्भोगन्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।। गी० 3.12

[273] अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।। गी० 3.14

[274] हविरावर्जितं होतस्त्वया विधिवदग्निषु।
वृष्टिर्भवति सस्यानामवग्रहविशोषिणाम्।।र०वं० 1.62, पृ० 7
अभिवृष्य मरुतसस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे।।र०वं०10.48, पृ० 95

[275] सुवृष्टियोगादिव जीवलोकः सस्येन सम्पत्तिफलोन्मुखेन।।र०वं० 18.2
हुतहुताशनदीप्ति वनश्रियः प्रतिनिधिः कनकाभरणस्य यत्।। र०वं० 9.40,पृ० 85

[276] अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।।मनु० 3.66, पृ० 240

[277] निधत्से हुतमर्काय स पर्जन्योऽभिवर्षति।
ततोऽन्नानि प्रजास्तेभ्यस्तेनासि जगतः पिता।।कु०स० 10.20, पृ० 267

[278] सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः।।र०वं० 1.18, पृ० 3

[279] प्रीतस्वाहास्वधाहन्तकारैः प्रीणयते स्वयम्।
देवान्पितॄन्मनुष्यांस्त्वमेकस्तेषां मुखं यतः।। कु०स० 10.17, पृ० 267

कवि कालिदास ने अपनी कृतियों में अनेक स्थलों पर यज्ञाग्नि की चर्चा की है।[280] कवि यह मानते हैं मन्त्र से संस्कृत हवि को प्राप्त करने वाले अग्निदेव हैं ।[281] वे यज्ञ में विधिपूर्वक दी हुई आहुति को देवताओं तक पहुँचाते हैं ।[282] ऋग्वेद में कहा गया है अग्नि देवताओं के लिए हवि का वहन करते हैं।[283] सामवेद के प्रथम मन्त्र में अग्नि का आह्वान किया गया है कि आप हमारे यज्ञ में आयें और देवताओं को हवि प्रदान करें।[284] यज्ञ के साथ अग्नि का अभिन्न सम्बन्ध है। उसे यज्ञ का ऋत्विक् कहा जाता है, वह पुरोहित और होता है, यह देवताओं का आह्वान करता है और यज्ञ भाग देवताओं तक पहुँचाता है।[285] कवि का मानना है कि यदि वेदमन्त्रों का शुद्ध उच्चारण और विधिविधान से यज्ञ किया जाय तो काम्यकर्मों का फल इस लोक में शीघ्र ही फलीभूत होता है। राजा दशरथ ने सन्तान न होने पर काम्यकर्म पुत्रकामेष्टि यज्ञ करवाया जिसके फलस्वरूप उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई है।[286]

भारतीय परम्परा में यज्ञ का अत्यन्त महत्त्व है ,यज्ञ को भगवान् विष्णु का स्वरूप माना गया है।[287] ऋषिलोग अपने गुरुकुलों में प्रतिदिन यज्ञ करते हैं। आसुरी प्रवृत्ति के लोग ऋषियों को यज्ञ करने से रोकते थे। किन्तु बार बार उनके अत्याचारों से पीड़ित होने के बाद भी ऋषियों ने अपनी वेद की परम्परा यज्ञ आदि का त्याग नहीं किया।[288] अपितु उन आसुरी प्रवृत्ति के लोगों से यज्ञ की रक्षा करने हेतु वे राजाओं को निमन्त्रित करते थे जिन्हें उन्होंने शस्त्रविद्या धनुर्वेद का अध्ययन कराया होता था। रघुवंश में विश्वामित्र श्रीराम और लक्ष्मण को यज्ञ की रक्षा के लिए अपने साथ लेकर जाते हैं।[289] पहले उन्हें

---

[280] हुताग्निकल्पैः सवितुर्गभस्तिभिः।। ऋ०सं० 1.16, पृ० 349

[281] ऋते कृशानोर्नहि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम् ।।कु०स० 1.51, पृ० 191
मुमूर्च्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम्।।र०वं० 10.79, पृ० 97
अत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः।।मे०दू० 1.47, पृ० 327

[282] वहति विधिहुतं या हविः अर्थात् या अग्निमूर्तिर्विधिविधानं श्रुतिस्मृत्युक्तं तेन हुतं दत्तं हविर्हवनीयद्रव्यजातं वहति ।।अ०शा०1.1, पृ० 3
यज्वभिः सम्भृतं हव्यं विततेष्वध्वरेषु सः। जातवेदोमुखान्मायी मिषतामाच्छिनत्ति नः।। कु०स० 2.46, पृ० 196
दिष्ट्या धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता।। अ०शा० 4, पृ० 396

[283] जातवेदो देवेभ्यो हव्यं वहतु।। ऋ०10.16.9, पृ० 345
जातानां वेदिता जातधनो वा प्रजानन् सर्वैर्विज्ञायमानोऽयम् अग्निः।। सायणाचार्यभाष्य
स नः पावक दीदिवोऽग्ने देवाँ इहा वह। उप यज्ञं हविश्च नः।।ऋ०1.12.10 , पृ० 8

[284] अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि ।।साम० 1.1, पृ० 1

[285] अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम् ।।ऋ० 1.1.1, पृ० 5

[286] अथ तस्य विशाम्पत्युरन्ते काम्यस्य कर्मणा।।र०वं०10.50, पृ० 95
पुत्रं तमोपहं लेभे नक्तं ज्योतिरिवौषधिः।।र०वं० 10.66, पृ० 96

[287] यज्ञो वै विष्णुः।।तै.सं. 1.7.4 , विष्णुर्वै यज्ञः ।। ऐ.ब्रा. 1.15, नारायणपरा मखाः।। श्रीमद्भा०।।2.5..15

[288] वीक्ष्य वेदिमथ रक्तबिन्दुभिर्बन्धुजीवपृथुभिः प्रदूषिताम्।
सम्भ्रमोऽभवपदपोढ़कर्मणामृत्विजां च्युतविकङ्कतस्रुचाम्।। र०वं० 11.25, पृ० 102

[289] कौशिकेन स किल क्षितिश्वरो राममध्वरविघातशान्तये।
काकपक्षधरमेत्य याचितस्तेजसां हि न वयः समीक्ष्यते।। र०वं० 11.1, पृ० 99

शस्त्रविद्या का ज्ञान प्रदान करते हैं।[290] तदनन्तर श्रीराम लक्ष्मण ने आसुरी प्रवृत्ति के यज्ञनाशक सुबाहु आदि का वध किया। तदनन्तर पुनः ऋत्विजों ने यज्ञ को पूर्ण किया।[291]

1.9.1 यज्ञाग्नि के तीन स्वरूप एवं शास्त्रीय सन्दर्भ

कालिदास ने दक्षिणाग्नि,गार्हपत्य और आहवनीय इन तीन अग्नियों के समान तेजस्वी भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न को बताया है।[292] रघुवंश में श्रीराम कहते हैं कि अगस्त्य ऋषि की तीन अग्नियों (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय) से हवनसामग्री की गन्ध से मिला हुये इस धूम को सूँघते ही मेरा आत्मा पवित्र हो गया है।[293]

कवि ने रघु और कौत्स प्रसंग में भी तीन अग्नियों का विवेचन किया है रघु कौत्स से कहते हैं कि हमारी यज्ञशाला में तीन पूज्य अग्नियाँ गार्हपत्य,दक्षिणाग्नि और आहवनीय स्थापित हैं। आप भी चौथी अग्नि के समान पूजनीय होकर दो तीन दिन ठहरिए।[294] कालिदास ने जो तीन प्रकार की अग्नियों की अवधारणा का विवेचन किया है उसका स्रोत ऋग्वेद में दृष्टिगोचर होता है। वहाँ कहा गया है कि अग्नि के तीन प्रकार के अन्न घृत ,ओषधि और सोम तथा तीन प्रकार के निवास पृथ्वी ,अन्तरिक्ष और द्यु हैं। तीन जिह्वायें गार्हपत्य ,आहवनीय और दक्षिणाग्नि हैं। अग्नि के तीन शरीर पवमान ,पावक और शुचि जो देवताओं के लिए भी अभिलषित है। ऐसे अग्नि प्रमादरहित होकर हमारी वाणी की रक्षा करे।[295]

श्रौत अग्नि वह है जिसमें श्रौतसूत्रों के द्वारा प्रतिपादित यागानुष्ठान विहित है। ये संख्या में तीन हैं आहवनीय ,गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि, इनकी स्थापना एक ही दिन में की जाती है। प्रत्येक अग्नि का कुण्ड भिन्न–भिन्न आकार का होता है। आहवनीय का कुण्ड चौकोर होता है गार्हपत्य का गोलाकार और दक्षिणाग्नि का अर्धचन्द्राकार होता है। इनमें मुख्य अग्निकुण्ड आहवनीय है जिसमेंदेवताओं के उद्देश्य से आहुति प्रदान की जाती है। गार्हपत्य अग्नि साधरणतया हवि के पाक के लिए व्यवहृत होती है। दक्षिणाग्नि में पितृकर्म की साधारणतः व्यवस्था मान्य है। श्रोतकर्म के लिए श्रोताग्नि की आवश्यकता होती है और

तत्र दीक्षितमृषिं ररक्षतुर्विघ्नतो दशरथात्मजैः शरैः।। र०वं० 11.24, पृ० 101

[290] नैऋतघ्नमथ मन्त्रवन्मुनेः प्रापदस्त्रमवदानतोषितात्।।र०व० 11.21, पृ० 101

[291] ऋत्विजः कुलपतेर्यथाक्रमं वाग्यतस्य निरवर्तयन्क्रिया ।। र०वं० 11.30, पृ०102

[292] इतरेऽपि रघोर्वंश्यास्त्रयस्त्रेताऽग्नितेजसः।। र०वं० 15.35, पृ० 143

[293] त्रेताग्निधूमाग्रमनिन्द्यकीर्तेस्तस्येदमाक्रान्तविमानमार्गम्।
घ्रात्वा गविर्गन्धि रजोविमुक्तः समश्नुते मे लघिमानमात्मा।।र०वं० 13.37,पृ०413

[294] स त्वं प्रशस्ते महिते महिते मदीये वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे।
द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन्यावद्यते साधयितुं त्वदर्थम्।।र०वं० 5.25, पृ० 40

[295] अग्ने त्री ते वाजिना त्री षधस्था तिस्रस्ते जिह्वा ऋतजात पूर्वी।
तिस्र उ ते तन्वो देववातास्ताभिर्नः पाहि गिरो अप्रयुच्छन्।। ऋ०3.20.2, पृ० 267

स्मार्त कर्म के लिए एकमात्र गृह्याग्नि की आवश्यकता होती है। इस गृह्याग्नि में गृह्यसूत्रों के द्वारा विहित कर्म जैसे होम आदि का अनुष्ठान विहित होता है।[296]

यज्ञ वेदी के चारों ओर गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि स्थापित की जाती है। पश्चिम भाग में गार्हपत्य, दक्षिण पश्चिम में दक्षिणाग्नि और वेदी के पूर्व भाग में आहवनीय अग्नि होती है। कोई भी याग अग्नि के बिना सम्भव नहीं है। "गार्हपत्याग्नि" सदैव प्रज्वलित रहती है। शेष दोनों अग्नियों को प्रज्वलित किए बिना याग नहीं हो सकता। ये अग्नियाँ यज्ञ की असुरों से रक्षा करती हैं। उनका समिधाओं से युक्त होना इस बात का सूचक है कि वे अभी भी प्रज्वलित हो रही हैं। कुशा घास शुभ और पवित्र मानी गई है अतः यज्ञवेदी पर बिछाई जाती है।

भारतीय परम्परा में प्रदक्षिणा का अत्यन्त महत्त्व है,यज्ञाग्नि हमें पावन बनायें इसलिए प्रदक्षिणा की जाती है। कुमारसम्भव में पार्वती और शंकर दोनों विवाह के अवसर पर अग्नि की तीन प्रदक्षिणा करते हैं।[297] आज भी यह परम्परा भारतीय समाज में है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कण्व ने शकुन्तला को ऋग्वैदिक छन्द में आशीर्वाद देते हुए कहा कि वेदी के चारों ओर स्थापित, समिधाओं से युक्त, किनारे पर बिछी हुई कुशा से युक्त ये यज्ञ की अग्नियाँ हव्य पदार्थों की सुगन्ध से पाप को नष्ट करती हुई तुम्हें पवित्र करें।[298] आचार्य पाणिनि के कर्त्तरि चर्षिदेवतयोः[299] सूत्र में पू धातु से ऋषि को कहना हो तो करण कारक में तथा देवता को कहना हो तो कर्त्ता अर्थ में इत्र प्रत्यय होता है। काशिका में देवता को कहने में अग्नि देवता के मन्त्र को उद्धृत किया गया है जिस मन्त्र में अग्नि देवता से पावन बनाने हेतु प्रार्थना की गई है–अग्निः पवित्रं स मा पुनातु।[300] करण अर्थ में पवित्रोऽयम् ऋषिः अर्थात् जिसके द्वारा पवित्र किया जाये वह मन्त्र यहाँ ऋषिपद वाच्य है। वैदिक छन्द त्रिष्टुप का प्रयोग करते हुए कण्व ऋषि सबसे पहले शकुन्तला से उन अग्नियों की प्रदक्षिणा करने को कहते हैं जिन्हें कुछ समय पूर्व ही प्रज्वलित किया गया है और जो हव्य पदार्थों से युक्त हैं। कण्व कहते हैं धूम से न दिखाई पड़ने के बाद भी यजमान की आहुति अग्नि में ही पड़ी है। जैसे योग्य शिष्य को विद्या देने से मन में दुःख नहीं होता वैसे ही तुझे भी योग्य पति के हाथ में देते हुए मुझे

---

[296] वैदिक साहित्य और संस्कृति, बलदेव उपाध्याय , शारदा संस्थान, वाराणसी, 2015, पृ० 517

[297] तौ दम्पती त्रिः परिणीय वह्निम्।। कु०स० 7.80,पृ० 244

[298] अमी वेदिं परितः क्लृप्तधिष्ण्याः समिद्वन्तः प्रान्तसंस्तीर्णदर्भाः।
अपघ्नन्तो दुरितं हव्यगन्धैः वैतानास्त्वां वह्नयः पावयन्तु।।अ०शा० 4.8, पृ० 63

[299] पा०सू० 3.2.186

[300] पा०सू० 3.2.186 काशिका

भी दुःख नहीं है। अभी–अभी अग्नि में हवन हुआ है तुम इस यज्ञाग्नि की प्रदक्षिणा कर लो।[301]

1.9.2 निरुक्तशास्त्र में प्रतिपादित अग्नि का स्वरूप

आचार्य यास्क का मानना है कि किसी न किसी वृत्ति से शब्दों के अर्थ की नित्य परीक्षा करनी चाहिए।[302] उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया कि जो वेदों का अध्ययन करने के बाद भी वेदमन्त्रों के अर्थ को नहीं जानते वे वस्तुतः भार ढ़ोने वाले लोग ही हैं। किन्तु जो अर्थ को समझकर वेदों का अध्ययन करता है उसे सम्पूर्ण फल की प्राप्ति होती है।[303] इसलिए वे निरुक्त में वेदप्रतिपादित शब्दों के विभिन्न धातुओं के माध्यम से निर्वचन कर अनेक अर्थों की चर्चा करते हैं, उन्होंने अग्नि शब्द पर भी विचार किया है। अग्नि पृथ्वी स्थानीय देवता है।[304] इनका पृथ्वी लोक में प्रमुख स्थान है। ऋग्वेद में स्वतन्त्र रूप से अग्नि का 200 सूक्तों में स्तवन किया गया है। ऋग्वेद का प्रारम्भ ही अग्निसूक्त से होता है। इस में अग्नि की महिमा का गान किया गया है। अग्नि शब्द "अगि गतौ"[305] धातु से बना है। गति के तीन अर्थ हैं–ज्ञान, गमन और प्राप्ति। इस प्रकार विश्व में जहाँ भी ज्ञान, गति, ज्योति, प्रकाश, प्रगति और प्राप्ति है वह सब अग्नि का ही प्रताप है। अग्नि में सभी देवताओं का वास होता है[306] अर्थात् अग्नि के साथ सभी देवताओं का सम्बन्ध है। शतपथब्राह्मण में कहा गया है अग्नि सभी देवताओं की आत्मा है।[307] आचार्य यास्क ने अग्नि की पाँच प्रकार से व्युत्पत्ति की है। अग्रणीर्भवतीति अग्निः–मनुष्यों के सभी कार्यों में अग्नि अग्रणी होता है । अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते–यज्ञ में सर्वप्रथम अग्निदेव का ही आह्वान किया जाता है। अङ्गं नयति सन्नममानः–अग्नि में पड़ने वाली सभी वस्तुओं को यह अपना अंग बना लेता है।

अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः। न क्नोपयति न स्नेहयति निरुक्तकार स्थौलाष्ठीवि का मानना है कि यह रूक्ष(शुष्क) करने वाली होती है, अतः उसे अग्नि कहते हैं।

---

[301] दृष्ट्वा धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्य पावक एवाहुतिः पतिता।वत्से! सुशिष्यपरिदत्ता विधेवाशोचनीयासि संवृत्ता।।अ०शा०, 4,पृ० 63

[302] अर्थनित्यः परीक्षेत। केनचिद् वृत्तिसामान्येन।।नि० 2.1

[303] स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।। नि०1.18

[304] नि० 7.14

[305] धा०सं० 146,पृ० 215

[306] ऐत०ब्रा०1.1

[307] अग्निर्वै सर्वेषां देवानाम् आत्मा।।श०ब्रा०1.4.4.10

त्रिभ्य आख्यातेभ्यो जायत इति शाकपूणिः, इताद् अक्ताद् दग्धाद्वा नीतात् । शाकपुणि आचार्य का मानना है कि अग्नि शब्द इण्, अञ्जू या दह् और णीञ् धातु से बना है । इण् से "अ", अञ्जू या दह् से "ग" और णीञ् से "नी" लेकर बना है।[308]

अग्नि दो अरणियों के संघर्षण से उत्पन्न होता है।[309] कवि ने कुमारसम्भव में कर्मकाण्ड की उस विधि की चर्चा की है जिसमें दो अरणियों को रखकर यज्ञ के लिए अग्नि उत्पन्न की जाती है इस प्रक्रिया को अरणिमन्थन कहा जाता है।[310] अरणि से उत्पन्न अग्नि का विवेचन ऋग्वेद में प्राप्त होता है।[311] भागवतपुराण में भी लकड़ियों के घर्षण से अग्नि प्रकट होने का विवेचन प्राप्त होता है।[312] मल्लिनाथ व्याख्या में लिखते हैं हविर्भोक्तुम् अग्नेरुत्पत्तयेऽरणिम् अग्निमन्थनदारुविशेषम् इव। कवि ने वर्णन किया कि शमी वृक्ष के अन्दर अग्नि होती है।[313] यह वृक्ष यज्ञ के काम आता है।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में अग्नि की उत्पत्ति विराट्–पुरुष के मुख से बताई गई है।[314] ऋग्वेद में अग्नि का मानव जीवन के साथ सम्बन्ध के विषय में कहा गया है कि अग्नि मनुष्य का रक्षक पिता है।[315] उसे गृहपति कहा जाता है। अग्नि रोग शोक, पाप–दुर्भाव, दुर्विचार और शाप तथा पराजय का नाश करता है। जिसके हृदय में सत्त्व और विवेकरूपी अग्नि प्रज्वलित हो जाती है, उसके हृदय से दुर्भाव, दुर्विचार नष्ट हो जाते हैं ,वह व्यक्ति पराजित नहीं होता।[316] अग्निरूप आत्मा शरीर में अतिथि के तुल्य रहता है और सत्यनिष्ठा से रक्षा करता है। इसका अभिप्राय यह है कि जो व्यक्ति सत्य का आचरण, सत्यनिष्ठ और सत्यवादी है, वह उसकी रक्षा करता है। यह अतिथि के समान इस शरीर में विराजमान है, जब इसकी इच्छा होती है, प्रस्थान कर जाता है।[317] संसार नश्वर है, इसमें अग्नि ही अजर अमर है, यह अग्नि ज्ञानी को अमृत प्रदान करती है।

---

[308] नि०7.14,पृ० 215

[309] यूपाग्रं तर्म निर्मन्थ्यदारुणि त्वरणिर्द्वयोः।
दक्षिणाग्निर्गार्हपत्याहवनीयौ त्रयोऽग्नयः।।
अग्नित्रयमिदं त्रेता प्रणीतः संस्कृतोऽनलः।
समूह्यः परिचाय्योपचाय्यावग्नौ प्रयोगिणः।।
यो गार्हपत्यादानीय दक्षिणाग्निः प्रणीयते।
तस्मिन्नानाय्योऽथाग्नायी स्वाहा च हुतभुक्प्रिया।। अ०को०, द्वितीयकाण्ड,ब्रह्मवर्ग,19–21

[310] उत्पत्तये हविर्भोक्तुं यजमान इवारणिम् ।।कु०स० 6.28, पृ० 229

[311] अग्ने देवाँ वह जज्ञानो वृक्तबर्हिषे । असि होता न ईड्यः।।ऋ० 1.12.3, पृ० 8

[312] श्रीमद्भा० 10.53.3,पृ० 717

[313] अवेहि तनयां ब्रह्मन् अग्निगर्भां शमीमिव।। अ०शा० 4.4, पृ० 58

[314] मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च।। ऋ०10.90.13, पृ० 382

[315] स नः पितेव सूनवे।। ऋ०1.1.9, पृ० 5

[316] देवम् अमीवचातनम्।।ऋ० 1.12.7, पृ० 8
प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः।। यजु० 1.7, पृ० 3

[317] अतिथिं मानुषाणाम्।।ऋ०1.127.8, पृ० 56

अग्नि रूप परमात्मा मानव हृदय में विद्यमान अमृत तत्त्व है ,जो साधक और ज्ञानी हैं, उन्हें इस अमृतत्व आत्मा का दर्शन होता है।[318]

1.9.3 कठोपनिषद् में यज्ञाग्नि का विवेचन

कठोपनिषद् में नचिकेता ने यम से स्वर्ग प्राप्त करने वाले अग्नि के विषय में पूछा। अग्नि से प्राप्त होने वाला वह स्वर्ग भूख, प्यास, जरा आदि से रहित है। यम स्वर्ग प्राप्त कराने वाले अग्नि का ज्ञान नचिकेता को देता है उसे यह भी वर देता है कि आज से यह अग्नि तुम्हारे नाम से जाना जायेगा–त्रिनाचिकेतस अग्नि।[319]

1.9.3 विभिन्न देशों की परम्परा में अग्निदेवता की शास्त्रीयविधि से उपासना

जिस प्रकार भारतीय परम्परा में अग्नि देवता का महत्त्व है उसी प्रकार अन्य देशों में भी अग्नि की देवता के रूप में पूजा अर्चना की जाती थी। गयाचरण त्रिपाठी जी ने अपनी पुस्तक में इस बात का उल्लेख किया है–लिथुआनियन जाति में यह विशेष रूप से आदर तथा पूजा की पात्र थी। इसे उग्निस् स्जेवेन्ता (पवित्र अग्नि) तथा स्जेवेन्ता पोनिके (पवित्र स्वामिनी) कहा जाता था। पूरे वर्ष भर इसकी उपासना होती थी और इसे घरों में बनी हुई वेदियों में सदा प्रज्ज्वलित रखा जाता था। वेदी से सम्बन्धित एक अन्य देवी भी लिथुआनियन धर्म में मानी जाती थी, जिसका नाम अस्पेलने था (पेलेन अग्नि की वेदी को कहते हैं। अस्पेलने का अर्थ –वेदी के पीछे। इसी प्रकार रोम में भी वेदी की देवी " वेस्ता " की एक विशेष प्रकार के गोल मन्दिरों में धूमधाम से पूजा होती थी। ये मन्दिर विशेष रूप से इसी अग्नि की देवी के लिए बनाए जाते थे। यदि मन्दिर में स्थापित की गई अग्नि बुझ जाती थी तो उसे दो लकड़ियों की सहायता से ठीक उसी भाँति प्रज्वलित किया जाता था जैसे भारत में। ग्रीक अग्नि देवी हेस्तिया रोमन वेस्ता का ठीक प्रतिरूप है । वह भी घर की वेदी में स्थित अग्नि की अधिष्ठात्री ह। उसी कल्पना एक ऐसी कुमारी देवी के रूप में की गई है, जो प्रत्येक गार्हस्थिक कर्म पर स्वामित्व रखती है। ग्रीस के बड़े–बड़े नगरों में नागरिकों के जमा होने के एक मण्डप के नीचे जिसे प्रितानियुम् कहते थे। पवित्र अग्नि सदा प्रज्वलित रखी जाती थी। इधर–उधर के ग्रामों या नगरों से आने

---

[318] स्तविष्यामि त्वामहं विश्वस्यामृत भोजन।
अग्ने त्रातारममृतं मियेध्य यजिष्ठं हव्यवाहन।।ऋ० 1.44.5, पृ० 21

[319] स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।। .
स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वं श्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण।। कठो० 1.1.12, 13, पृ० 28,29
तम्प्रब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा वर तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवेव नाम्ना भवितायमग्निः।। त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद् ।।कठो० 1.1.16,17

वाले यात्री ऐसे प्रितानियुम् से अपने–अपने नगरों के लिए इस पवित्र अग्नि को ले जाते थे। हेरोदोतस् ने अपने इतिहास में लिखा है कि सीथियन जाति में भी इस्तिया नाम की अग्नि देवी की पूजा होती थी और इनका उनके देवमण्डल में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। पारसी या जरथुस्त्र धर्म में अग्नि देव अतर का महत्त्व किसी से छिपा नहीं है। अग्नि की पूजा पारसी कर्मकाण्ड की इतनी महत्त्वपूर्ण वस्तु है कि उसके बिना पारसी धर्म के वर्तमान स्वरूप की कल्पना नहीं की जा सकती। अग्नि पृथ्वी पर अहुरमज्दा की शक्ति एवं तेज का सर्वोत्कृष्ट प्रतीक है उसे मुख की अशुद्ध वायु से फूकना भयंकर पाप है। प्राचीन ईरान में भी ग्रीस एवं रोम की भांति मन्दिरों में एक ऊँची वेदी पर प्रस्थापित अग्नि की अत्यन्त समारम्भ के साथ पूजा की जाती थी। अग्नि के भौतिक तत्त्व से उत्पन्न होने वाले देवों में निश्चित रूप से महत्त्व की दृष्टि से वैदिक अग्नि का स्थान सर्वोच्च है। ऋग्वेद के सर्वप्रथम मन्त्र में ही अग्नि की स्तुति की गई है और उन्हें यज्ञ का पुरोहित बताया गया है। पृथ्वी स्थानीय देवों में अग्नि को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है और ऋग्वेद के लगभग 1000 सूक्तों में अग्नि के लिए प्रायः 200 सूक्त कहे गए हैं।[320]

1.9.4 अश्वमेधयज्ञ एवं कालिदासीय सन्दर्भ

अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख हमें ऋग्वेद में प्राप्त होता है।[321] तैत्तिरीयब्राह्मण में अश्वमेध यज्ञ को यज्ञों में श्रेष्ठ कहा गया है।[322] अश्वमेध यज्ञ का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में आया है ।[323] शतपथ–बाह्मण के अनुसार राष्ट्र ही अश्वमेध है अर्थात् राष्ट्र की सर्वविध उन्नति करना ही अश्वमेध है।[324] जिन लोगों को स्वर्ग के राज्य की कामना होती थी वे अश्वमेध यज्ञ करते थे। इसमें नियम यह है कि एक घोडा छोड़ दिया जाता था वह घोड़ा जिस जिस राजा की राज्य सीमा से होकर जाता था उस उस राजा को या तो युद्ध करना पड़ता था या फिर उस राजा की अधीनता स्वीकार करनी पड़ती थी। फिर घोड़ा उसके राज्य से दूसरे राज्यों में प्रवेश करता था और जब वह चारों ओर से घूमकर आता था तो

---

[320] *वैदिकदेवता उद्भव और विकास,* गयाचरण त्रिपाठी, राष्ट्रियसंस्कृत संस्थान, नई दिल्ली, 2011 ,पृ० 31–32

[321] यद्धविष्यमृतुशो देवयानं त्रिर्मानुषाः पर्यश्वं नयन्ति।
अत्रा पूष्णः प्रथमो भाग एति यज्ञं देवेभ्यः प्रतिवेदयन्नजः
होताध्वर्युरावया अग्निमिन्धो ग्रावग्राभ उत शंस्ता सुविप्रः।
तेन यज्ञेन स्वरंकृतेन स्विष्टेन वक्षणा आपृणध्वम्।।ऋ०1.162.4–5, पृ० 69
यदा हविषे हितमग्निं स्वे स्वे काले देवान् प्रति गन्तारं ऋत्विजः त्रिः अश्वं परि नयन्ति । तत उदङ् नीयमानस्याश्वस्य अग्रतः पूष्णः भागः गच्छति स्वकीयेन शब्देन यज्ञम् देवेभ्यः अश्वमेधं निवेदयन् अज।।ऋ०1.162.4,वेकङ्कटभाष्य

[322] ऋषभ एष यज्ञानाम्। यदश्वमेधः।। तैत्ति०ब्रा० 3.8.3

[323] आशु सुप्तिरिति। अश्व एव जवन्दधाति तस्मात्पुराश्वः सर्त्ता जज्ञे।।श०ब्रा० 13 नवम ब्राह्मण 5

[324]राष्ट्रं वा अश्वमेधः।। श०ब्रा० 13.1.6.3

फिर उस घोड़े का पूजन किया जाता था। इस यज्ञ का बड़ा माहात्म्य समझा जाता था। इस यज्ञ के घोड़े श्यामकर्ण अर्थात् काले कान वाले होते थे।

कवि ने अश्वमेध यज्ञ का वर्णन विभिन्न स्थलों पर किया है। राजा दिलीप ने यज्ञ के घोडे की रक्षा का भार रघु और सेना पर छोड़कर निन्यानवें अश्वमेध यज्ञ बिना बाधा के पूर्ण किए ।[325] राजा दिलीप ने निन्यानवें यज्ञ सम्पन्न कर जीवन समाप्ति के अनन्तर स्वर्ग जाने के लिए मानों निन्यानवें सीढ़ीयाँ ही बना दी। निन्यानवें अश्वमेध यज्ञ करके राजा दिलीप इसलिए चुप हो गये कहीं सौ यज्ञ पूर्ण करने में इन्द्र को कष्ट न हो।[326] सौ यज्ञ जो सम्पन्न करता है उसे शतक्रतु कहा गया है वही इन्द्र पद पर आसीन होने का अधिकारी होता है । इसी डर से इन्द्र विघ्न उत्पन्न करते हैं।[327]

कालिदास ने रघुवंश में पाण्ड्य नरेश के द्वारा सम्पादित अश्वमेध यज्ञ का विवेचन किया है।[328] सफल अश्वमेधयज्ञ के पश्चात् राजाओं के साम्राज्य के विस्तार की चर्चा कवि कालिदास ने की है।[329]

संतान की कामना के लिए भी अश्वमेध यज्ञ किया जाता था ऐसा वर्णन हमें शास्त्रों में प्राप्त होता है। संतान की प्राप्ति के लिए जो यज्ञ किया जाता था उस यज्ञ को कालिदास ने पुत्रेष्टियज्ञ एवं काम्यकर्म कहा है क्योंकि यह यज्ञ कामना को पूर्ण करने वाला है।[330] महाराज दशरथ को सन्तान न होने पर उन्होंने सन्तान प्राप्ति के निमित पुत्रकामेष्टि यज्ञ करवाया था।[331] श्रीमद्भागवत में नारद और अंगिरा ऋषि ने चित्रकेतु राजा का पुत्र न होने पर उससे पुत्रेष्टि यज्ञ करवाया था ,उससे उसे पुत्र की प्राप्ति हुई थी।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि कालिदास ने अपनी कृतियों में पुत्र कामना के लिए अश्वमेध यज्ञ का विधान नहीं किया है।इससे यह बात सिद्ध होती है कि कालिदास पुत्रेष्टियज्ञ को और अश्वमेध यज्ञ को पृथक्–पृथक् मानते हैं जबकि वहीं वाल्मीकि ने संतान की प्राप्ति हेतु

---

[325] नियुज्य तं होमतुरङ्गरक्षणे धनुर्धरं राजसुतैरनुद्रुतम्।
अपूर्णमेकेन शतक्रतूपमः शतः क्रतूनामपविघ्नमाप।।र०व० 3.38 ,पृ० 25
ततः पर तेन मखाय यज्वना तुरङ्गमुत्सृष्टमनर्गलं पुनः।
धनुर्भृतामग्रत एव रक्षिणां जहार शक्रः किल गूढ़विग्रहः।।र०वं 3.39, पृ० 25

[326] अतिष्ठदेकोनशतक्रतुत्वे शक्राभ्यसूयाविनिवृत्तये यः।।र०वं० 6.74., पृ० 57

[327] हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्रयम्बक एव नापरः।
तथा विदुर्मा मुनयः शतक्रतुं द्वितीयगामी नहि शब्द एष नः।।र०वं० 3.49, पृ० 27

[328] प्रीत्याश्वमेधावभृताद्रमूर्तेः सौस्नातिको यस्य भवत्यगस्त्यः।। र०वं० 6.61, पृ० 55

[329] एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वम्।।र०वं० 2.47,पृ०17 आसमुद्रक्षितीशानाम्।।र०वं० 1.5, पृ०1 स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम्।।र०वं०1.30, पृ० 4 अनन्यशासनमुर्वीम्।।र०वं०1.30, , पृ० 4 अनाकरथवर्मनाम्।।र०वं०1.5 , पृ० 1 दिगन्तविश्रान्तरथः।।र०वं० 3.4, पृ० 21 जयति वसुधामप्रतिरथः।। अ०शा०7.33, पृ० 135

[330] अथ तस्य विशाम्पत्युरन्ते काम्यस्य कर्मणः।
पुरुषः प्रबभूवाग्नेविस्मयेन सहर्त्विजाम्।।र०वं० 10.50, पृ० 95

[331] ऋष्यशृङ्गादयस्तस्य सन्तः सन्तानकाङ्क्षिणः ।
आरेभिरे जितात्मानः पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः।।र०वं० 10.4, पृ० 91

अश्वमेध यज्ञ को करने का विवेचन किया है। वाल्मीकि रामायण में सन्तान प्राप्ति के निमित दशरथ के द्वारा अश्वमेध यज्ञ करने का वर्णन किया गया है। दशरथ सन्तान न होने से अत्यन्त दुःखी हुए और अपने गुरुजनों वसिष्ठ आदि के मार्ग दर्शन से अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय करते हैं। वसिष्ठ आदि ऋषियों ने दशरथ से कहा कि तुम यज्ञसामग्री का संग्रह करो, भ्रमण के लिये अश्व छोड़ा जायेगा और सरयू के तट पर यज्ञभूमि बनायी जायेगी। तुम यज्ञ द्वारा सर्वथा अपनी इच्छा के अनुरूप पुत्र को प्राप्त कर लोगे।[332] ऋग्वेद में भी अश्वमेध यज्ञ से पुत्रादि की कामना का वर्णन प्राप्त होता है ।[333] भगवान् श्रीराम ने अश्वमेध यज्ञ के लिए ऋषियों को निमन्त्रण दिया था। उस समय न केवल पृथ्वी के ऋषि ही नहीं अपितु सप्तर्षि मण्डल के ऋषि भी उस यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए उपस्थित हुए।[334]

महर्षि वेदव्यास और कवि कालिदास की कृतियों में विवेचित अश्वमेध यज्ञ के विवेचन में हमें कुछ समानतायें दृष्टिगोचर होती है। उसका संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत है। रघुवंश में इन्द्र अश्व का हरण करता है तो नन्दिनी के प्रभाव से दिलीप के पुत्र रघु इन्द्र को देखने में समर्थ होता है। दोनों का युद्ध होता है बाद में इन्द्र रघु के युद्ध से सन्तुष्ट होकर वरदान माँगने को कहता है किन्तु अश्व देने से इनकार कर देता है फिर रघु कहते हैं कि मेरे पिता को अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त हो जाय और इस घटना की सूचना आप ही मेरे पिता को प्रदान करें। दिलीप ने घटना सुनकर अपनी अशक्ति से नहीं बल्कि इन्द्र की असूया को दूर करने के लिए निन्यानवे ही यज्ञ रहने दिए।[335]

---

[332] तस्य त्वेवं प्रभावस्य धर्मज्ञस्य महात्मनः।
सुतार्थं तप्यमानस्य नासीद्वंशकरस्सुतः।।वा०रा०1.8.1।।
सुतार्थं हयमेधेन किमर्थं न यजाम्यहम्।।वा०रा० 1.8.2
मम लालप्यमानस्य पुत्रार्थन्नास्ति वै सुखम्।
तदर्थं हयमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम।। वा०रा०1.8.8
सर्वथा प्राप्स्यसे पुत्रानभिप्रेतांश्च पार्थिव।
यस्य ते धार्मिकी बुद्धिरियं पुत्रार्थमागता।। वा०रा० 1.8.12
सम्भारास्सम्भ्रियन्तां मे गुरूणां वचनादिह।
समर्थाधिष्ठितश्चाश्वस्सोपाध्यायो विमुच्यताम्।।वा०रा०1.8.14
सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम्।
शान्तयश्चाभिवर्धन्तां यथाकल्पं यथाविधि।वा०रा०।1.8.15

[333] सुगव्यं नो वाणी स्वश्व्यं पुंसः पुत्राँ उत विश्वापुषं रयिम्।
अनागास्त्वं नो अदितिः कृणोतु क्षत्रं नो अश्वो वन्तां हविष्मान् ।।ऋ०1.162.22, पृ० 70

[334] तमध्वराय मुक्ताश्वं रक्षःकपिनरेश्वराः।
मेघाः सस्यमिवाम्भोभिरभ्यवर्षन्नुपायनैः।।
दिग्भ्यो निमन्त्रिताश्चैनमभिजग्मुर्महर्षयः।
न भौमान्येव धिष्यानि हित्वा ज्योतिर्मयान्यपि।।र०वं० 15.58–59 ,पृ० 145

[335] अतिष्ठदेकोनशतक्रतुत्वे शक्राभ्यासूयाविनिवृत्तये यः।।र०वं० 6.75,पृ० 97

वेदव्यास ने श्रीमद्भागवत के चतुर्थस्कन्ध के उन्नीसवें अध्याय में महाराज पृथु के अश्वमेध यज्ञ का वर्णन किया है। वहाँ भी इन्द्र घोड़ा चुराकर ले जाता है, पृथु का पुत्र विजिताश्व अत्रि ऋषि के प्रभाव से देखकर इन्द्र का पीछा करता है , इन्द्र घोड़ा वहीं छोड़कर चला जाता है। बार बार इन्द्र के इसीप्रकार आचरण करने पर पृथु को क्रोध आ जाता है। वह इन्द्र को मारने के लिए अभिचारण यज्ञ प्रारम्भ कर देता है ब्रह्मा ने पृथु को अभिचारण यज्ञ को रोकने को कहा । पृथु ने भी निन्यानवें यज्ञ ही रहने दिया।

कवि ने रघुवंश में अश्वमेध यज्ञ करने वाले महाराज सगर का उल्लेख किया है। भगवान् श्रीराम सीता से अपने पूर्वज महाराज सगर के अश्वमेध यज्ञ के विषय, में वर्णन करते हैं।[336]

जिनकी अश्वमेध यज्ञ करने की कथा विस्तार से श्रीमद्भागवत के नवमस्कन्ध के आठवें अध्याय में वर्णित है।[337]

इस विवेचन से लगता है कवि कहीं न कहीं इस प्रसंग में वेदव्यास से प्रभावित रहे हैं।

1.9.5 विश्वजितयज्ञ एवं कालिदासीय सन्दर्भ

वह यज्ञ जिसमें सब कुछ दक्षिणा में दे दिया जाता है। दिग्विजय से लोटकर रघु ने विश्वजित नामक यज्ञ किया जिसमें उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति दान में दे दी। केवल मिट्टी के पात्र मात्र उनके पास बचे रहे।[338] जैसे बादल पृथ्वी से जल लेकर फिर पृथ्वी पर बरसा देते हैं। उसी प्रकार महात्मा लोग भी धन को दान करने के लिए इकट्ठ करते हैं।[339]

इस विश्वजित् यज्ञ का वर्णन तैत्तिरीयब्राह्मण और कठोपनिषद् में प्राप्त होता है। वाजश्रवा ऋषि ने अपना सब कुछ दान कर दिया। वाजश्रवा ऋषि की दान में अत्यधिक श्रद्धा हो गयी । सोचने लगे अपने पुत्र को भी दक्षिणा के रूप में दान करना चाहिए।[340] पिता के

---

[336] गुरोर्यियक्षोः कपिलेन मेध्ये रसातलं सङ्क्रमिते तुरङ्गे।
तदर्थमुर्वीमवदारयद्भिः पूर्वैः किलायं परिवर्धितो नः।।13.3, पृ०120

[337] अतोऽयमश्वः कपिलानुकारिणा पितुस्त्वदीयस्य मयापहारितः।
अलं प्रयत्नेन तवात्र मा निधाः पदं पदव्यां सगरस्य सन्ततेः।। र०वं०3.50, पृ० 27

[338] पुत्रो रघुस्तस्य पदं प्रशास्ति महाक्रतोर्विश्वजितः प्रयोक्ता।
चतुर्दिगावर्जितसम्भृतां यो मृत्पात्रशेषामकरोद्विभूतिम्।। र०वं० 6.76, पृ० 57
तमध्वरे विश्वजिति क्षितीशं निःशेषविश्राणितकोषजातम्।।र०वं० 5.1, पृ० 38

[339] इति जित्वा दिशो जिष्णुर्न्यवर्तत रथोद्धतम्।
रजो विश्रामयन् राज्ञां छत्त्रशून्येषु मौलिषु।।
स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम्।
आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।।र०वं० 4.86, पृ० 37

[340] अथं तं कुमारमेव बालकमेव सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु दक्षिणानयनकाले पितुः श्रद्धा दानाभिनिवेशो विवेश प्राप, श्रद्धातिशयेन पुत्रमपि दक्षिणात्वेन देयम् अमन्यत। अथ विदिताभिप्रायः पुत्र उवाच पितरं हे तात ! कस्मै मां दास्यसि।। तैत्ति०ब्रा० 3.11.8 के भट्टभास्कर भाष्य में विवेचित

भाव को जानकर नचिकेता ने कहा मुझे किसे देगें। दो तीन बार पूछने पर वाजश्रवा ने कहा मैं तूझे मृत्यु को देता हूँ।[341]

विश्वजित् यज्ञ में दान का महत्त्व वर्णित है, बृहदारण्यकोपनिषद् में मनुष्यों के लिए प्रजापति ने दान का उपदेश किया है। प्रजापति के सम्मुख देवता असुर और मनुष्य तीनों ने ही ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास किया। उस समय प्रजापति ने द अक्षर कहकर के ही सभी को उपदेश प्रदान किया । असुर द अक्षर से समझ गये कि हमें प्राणी मात्र पर दया करनी चाहिए। देवता द अक्षर से समझ गये कि हमें इन्द्रियों का दमन करना चाहिए तथा मनुष्य द अक्षर से समझ गये कि हमें दान करना चाहिए।[342]

इस प्रकार विश्वजित् यज्ञ वह है जिसमें सर्वस्व अर्पण किया जाता है। इस यज्ञ में अपना स्व ,अपनी अहंता, ममता के त्याग का प्राधान्य है।

1.10 कालिदास की परमपद की अवधारणा और शास्त्रीय सन्दर्भ

कवि कालिदास लिखते हैं कि सर्वान्तर्यामी ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय में विराजमान है। उनका परमपद जन्ममरण के बन्धन से मुक्ति देने वाला है।[343] कवि कालिदास ने परमेश्वर के लिए क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनम्[344] शब्द का प्रयोग किया है, क्षेत्र[345] शब्द का अर्थ है शरीर, जो परमात्मा इस क्षेत्र में अन्तर्यामी रूप से विराजमान है और जीवों को स्मृति ,ज्ञान प्रदान कर रहा है।[346] जो सभी प्राणियों की अन्तरात्मा है सभी के शुभ अशुभ कर्मों का साक्षी है।[347] वह ईश्वर उन वीतरागी प्राणियों की गति है जो जन्ममृत्यु के बन्धन से मुक्ति की कामना करने वाले हैं, जिन्होंने उस ईश्वर में ही अपना चित्त लगाया हुआ है तथा अपने सभी कर्मों को उसे समर्पित कर दिया है।[348] गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से इसी अनन्य

---

[341] उशन् ह वै वाजश्रवसस्सर्ववेदसं ददौ। तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस। तं ह कुमारं सन्तम्। दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धा विवेश। स होवाच। तत कस्मै मां दास्यसीति। द्वितीयं तृतीयम्। तं ह परीत उवाच। मृत्यवे त्वा ददामीति।। तैति०ब्रा० 3.11.8

[342] त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यभूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्याज्ञासिष्टा 3 इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति । स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत् त्रयं शिक्षेद् दमं दानं दयामिति।।बृहदा० 5.2

[343] योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्त्तिनम्।
अनावृत्तिमयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः।। कु०स० 6.77, पृ० 233

[344] क्षेत्राभ्यन्तरवर्त्तिनम् ।कु०स० 6.77, पृ० 233

[345] इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।।गी० 13.1

[346] सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टोमत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्योवेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।। गी० 15.15
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारुढानि मायया।।गी० 18.61

[347] एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।।श्वेता० 6.11

[348] त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्समर्पितकर्मणाम्।

समर्पण भाव के विषय में प्रतिज्ञा की है कि तुम मुझ ईश्वर में अपना मन लगा दो निश्चित ही तुम्हें मेरी प्राप्ति होगी।[349] वेद में कहा गया है कि विद्वान् लोग उसी एक ईश्वर की स्तुतिभरी वाणियों से भक्ति करते हैं।[350] उस को जानकर ही व्यक्ति जन्म मरण के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करता है इसके अलावा दूसरा कोई साधन नहीं है ।[351] जीव को उस ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिए। जो स्थावर जंगम सबका स्वामी है , बुद्धि का प्रेरक है ,रक्षा करने वाला है।[352] जिस अखिल ऐश्वर्य सम्पन्न परमेश्वर के तुल्य द्यौलोक और पृथ्वी पर न कोई हुआ है और न होगा।[353] जब जिज्ञासु ईश्वर का साक्षात्कार कर लेता है तब वह समस्त भुवनों का साक्षात्कार कर लेता है। क्योंकि वह ईश्वर सूक्ष्मातिसूक्ष्म है।[354] उस सर्वव्यापक परमेश्वर का जो स्थान परमोत्कृष्ट है जहाँ अमृत का क्षरण होता है, उस परम पद में भूख, प्यास, जरा, मरण, पुनरावृति आदि का भय नहीं है । ऐसे स्थान को प्राप्त करने के बाद इस संसार में लोटना नहीं पड़ता।[355] गीता भी कहती हैं जहाँ पहुँचने के बाद फिर इस जन्म मृत्यु के संसार सागर में लोटकर नहीं आना पड़ता वही परमेश्वर का परम धाम है।[356]

1.11 ऋग्वेद में सरस्वती का स्वरूप एवं कालिदासीय सन्दर्भ

ऋग्वेद में हमें सरस्वती के दो स्वरूपों की चर्चा प्राप्त होती है। एक सरस्वती का विग्रहवती देवता रूप और एक सरस्वती का नदी रूप। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के तृतीयसूक्त में दो ऋचाओं से विग्रहवती सरस्वती की स्तुति की गई है जो सरस्वती सत्य की प्रेरणा देने वाली, सुबुद्धि पुरुषो को शिक्षा देने वाली है वही विग्रहवती देवी हमारे यज्ञ को धारण किए हुए है अर्थात् मन्त्रलक्षण यज्ञ वाणी के ही अधीन है। वह पतितपावनी , अन्नयुक्त और धनदात्री सरस्वती धन के साथ हमारे यज्ञ को वहन करने करने वाली

गतिस्त्वं वीतरागाणामभूयः संनिवृतये।। र०व० 10.27, पृ० 93

[349] मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।गी० 18.65

[350] ब्रह्माणं ब्रह्मवाहसं गीर्भिः सखायमृग्मियम्। गां न दोहसे हुवे।।ऋ० 6.45.7, पृ० 196
रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवाऽग्रे तदब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवाऽअसन्वशे।।यजु० 31.21, पृ० 87

[351] तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।।यजु० 31.18, पृ० 87

[352] तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषा नो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये।। यजु० 25.18, पृ० 74

[353] न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।। यजु० 27.36, पृ० 78

[354] यत्र लोकांश्च कोशाश्चापो ब्रह्म जना विदुः।
असच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः।। अथर्व० 10.7.10, पृ० 119

[355] विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः।। ऋ० 1.154.5, पृ० 67

[356] यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।। गी०15.6

हो।[357] नदीरूपा सरस्वती ने प्रवाहित होकर जलराशि उत्पन्न की है और विग्रहवती सरस्वती ने समस्त अनुष्ठाताओं के ज्ञान विज्ञान को जाग्रत किया है।[358]

कवि कालिदास ने इन दोनों रूपों की चर्चा की है। सरस्वती के जल के पान से कवि ने आन्तरिक शुद्धि का विवेचन किया है।[359] कवि ने अपनी कृतियों में विभिन्न स्थलों पर वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती का स्मरण किया है।[360] कवि कालिदास की वेदों के अध्ययन में अपार श्रद्धा है, इसलिए वे प्रार्थना करते है कि जिन लोगों ने वेदादि शास्त्रों का अध्ययन किया है ,उनकी सरस्वती निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो।[361] रघुवंश में देवताओं की स्तुति के अनन्तर जब भगवान् विष्णु ने कहना प्रारम्भ किया, उस समय उनके कण्ठ , तालु , दाँत ,ओठ आदि उच्चारण के स्थानों से भलीभाँति जब वाणी निकली तब मानों सरस्वती ने अपने जन्म लेने का फल पा लिया।[362] कुमारसम्भव में शिवपार्वती के विवाह प्रसंग में सरस्वती ने शास्त्रव्युत्पत्ति से परिष्कृत , प्रकृतिप्रत्यय के विभाग से परिष्कृत संस्कृतभाषा में शिव की प्रशंसा की तथा सरलता से समझ में आने वाली प्राकृतभाषा में पार्वती की प्रशंसा की है।[363] आचार्य मल्लिनाथ ने इस प्रंसग में स्पष्ट रूप से दोनों भाषाओं संस्कृतभाषा और प्राकृतभाषा के नाम का उल्लेख किया है। कवि कालिदास सज्जनों के कल्याण के लिए सरस्वती और लक्ष्मी का एक स्थान पर निवास हेतु प्रार्थना करते हैं।[364]

1.12 कालिदासीय रचनाओं में हिमालय एवं शास्त्रीय सन्दर्भ

कालिदास ने कुमारसम्भव के प्रारम्भ में कहा है कि भारत के उत्तरी भाग में हिमालय पर्वत है, जो पूर्व और पश्चिम के समुद्र तक फैला हुआ है।[365] कवि ने हिमालय के लिए अचल

---

[357] पावकानःसरस्वतीवाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टुधियावसुः।।
चोदयित्रीसूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती।।ऋ० 1.3.10–11, पृ० 5

[358] महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना।
धियो विश्वा वि राजति।।ऋ० 1.3.12, पृ० 5

[359] कृत्वा तासामभिगममपां सौम्य सारस्वतीनां।
अन्तः शुद्धस्त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः।।मे०दू०1.53, पृ० 328

[360] स्तुत्यं स्तुतिभिरर्थ्याभिरुपतस्थे सरस्वती।।र०वं० 4.5, पृ० 30
मयि तस्य सुवृत्त वर्तते लघुसन्देशपदा सरस्वती।।र०वं० 8.77, पृ० 76

[361] सरस्वती श्रुतमहतां महीयसाम् ।। अ०शा० 7.35, पृ० 136

[362] पुराणस्य कवेस्तस्य वर्णस्थानसमीरिता।
बभूव कृतसंस्कारा चरितार्थैव भारती।।र०वं० 10.36, पृ० 94

[363] द्विधा प्रयुक्तेन च वाङ्मयेन सरस्वती तन्मिथुनं नुनाव।
संस्कारपूतेन वरं वरेण्यं वधूं सुखग्राहुयनिबन्धनेन।।कु०स० 7.90, पृ० 245

[364] परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम्।
सङ्गतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम्।।विक्र० 5.24, पृ० 236
निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन्द्वयं श्रीश्च सरस्वती च।। र०वं० 6.29, पृ० 51

[365] अस्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।। कु०स०1.1, पृ० 185

पदार्थों का विष्णु कहा है।[366] यहाँ कवि ने गीता के ही वचन को उद्धृत किया है , जहाँ कृष्ण ने हिमालय को अपना स्वरूप बताया है।[367] कालिदास लिखते हैं गंगा आदि नदियों की धारा इसी पर्वतराज हिमालय से निसृत होती हैं।[368] रघुवंश में नन्दिनी दिलीप को हिमालय की उस गुफा में ले गई जहां गङ्गा की धारा गिर रही थी।[369] रघुवंश में रघु को जब हिमालय के राजाओं ने रत्न भेंट किये तो रघु ने हिमालय के ऐश्वर्य को जाना और हिमालय ने रघु के पराक्रम को जाना।[370]

मल्लिनाथ ने ब्रह्माण्ड पुराण के श्लोक में कैलाश और हिमालय का उल्लेख किया है।[371] श्रुति भी कहती है–यावन्मात्रा पृथिवी तावन्मात्रो हिमालयः। यावन्मात्रो हिमालयस्तावन्मात्रा पृथिवी।[372] ऋग्वेद के मन्त्र में हमें हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र, दिशाएँ और पृथिवी इन सभी का विवेचन एकत्र प्राप्त होता है।[373] अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त में पृथिवी से प्रार्थना की गई है कि तुम्हारी पहाड़ियाँ हिमाच्छादित पर्वत तथा तुम्हारे जंगल हमारे लिए सुखकर हों।[374]

1.13 विक्रमोर्वशीयम् नाटक का शास्त्रीयतत्त्व

महाकवि कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् नाटक का शास्त्रीय तत्त्व हमें ऋग्वेद के दशममण्डल के 95वें सूक्त में प्राप्त होता है, इस सूक्त के 18 मन्त्रों में पुरुरवा और उर्वशी उपाख्यान का विवेचन वैदिक शैली में किया गया है। कवि ने विक्रमोर्वशीयम् में उर्वशी और पुरुरवा के पुत्र आयु का वर्णन किया है।[375] इसी आयु का विवेचन हमें ऋग्वेद में भी प्राप्त होता है।[376] एक और जहाँ पुरुरवा सन्तान प्राप्ति से अत्यन्त प्रसन्न थे वहीं दूसरी और उर्वशी अत्यन्त दुःखी होकर रोने लगी, पुरुरवा के रोने के कारण पूँछने पर उसने बताया कि भरत मुनि ने लक्ष्मीस्वयंवर नाटक मे मुझें शाप दिया है कि तुमने मेरे

---

[366] स्थाने त्वां स्थावरात्मानं विष्णुमाहुस्तथा हि ते।
चराचराणां भूतानां कुक्षिराधारताङ्गतः।।कु०स० 6.67, पृ० 232

[367] स्थावराणां हिमालयः।।गी० 10.25

[368] सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः।।र०वं० 6.60 ,पृ० 94

[369] गङ्गाप्रपातान्तविरूढ़शष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश।। र०वं० 2.26, पृ० 26

[370] राज्ञा हिमवतः सारो राज्ञः सारो हिमाद्रिणा।।र०वं० 4.79, पृ० 138

[371] कैलासो हिमवांश्चौव दक्षिणे वर्षपर्वतौ।
पूर्वपश्चिमगावेतावर्णवान्तरुपस्थितौ ।। कु०स०1.1, पृ० 2 मल्लिनाथकृत श्लोकव्याख्या में

[372] कुमारसम्भव, एम.आर. कैले,प्रथमसर्गटिप्पणी, पृ० 224

[373] यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम।। ऋ०10.121.4

[374] गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्ये ते पृथिवि स्योनमस्तु।।अथर्व०12.1.9

[375] एष दीर्घायुरायुर्जातमात्र एव उर्वश्या किमपि निमित्तमवेक्ष्य मम हस्ते न्यासीकृतः।। विक्र० 5,पृ० 556
सर्वाङ्गीणः स्पर्शः सुतस्य किल तेन मामुपगते।
आह्लादयस्व तावच्चन्द्रकरश्चन्द्रकान्तमिव।। विक्र०,5.11,पृ० 557

[376] विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती मे अप्या काम्या।
जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशीं तिरत दीर्घमायुः।। ऋग्वेद,10.95.10

उपदेश के अनुसार अभिनय नहीं किया। अतः तुम्हें स्वर्ग में निवास का सुख नहीं मिल सकेगा। बाद में इन्द्र ने मुझ से कहा कि जब तक राजा पुरुरवा अपनी सन्तान का मुख नहीं देख लेते। तब तक तुम वहीं रहो।[377] ऋग्वेद में भी इसी प्रकार विवेचन हमें इस मन्त्र में परिलक्षित होता है।[378] ऋग्वेदीय पुरुरवा उर्वशी उपाख्यान एवं कालिदासीय विक्रमोर्वशीयम् दोनों उपाख्यानों के कथानक में अन्तर आता है, कालिदासीय उपाख्यान में पुरुरवा उस समय विलाप करता है, जिस समय उर्वशी लता रूप में परिणत हो जाती है, दूसरा पुरुरवा उर्वशी के वियोग के डर से उस समय अत्यन्त दुखी होता है, जब उर्वशी भरतमुनि के शाप और इन्द्र की आज्ञा को पुरुरवा से कहती है। कालिदास ने नाटक को सुखान्त बनाया है। उन्होंने इन्द्र के माध्यम से पुरुरवा के जीवनकाल पर्यन्त उर्वशी को उनके साथ रहने की आज्ञा दी है। किन्तु ऋग्वेदानुसार उर्वशी चली जाती है, उस समय राजा पुरुरवा उसे रोकने का प्रयास करते हैं। उर्वशी को रोकने का विवेचन कालिदास ने अपने ग्रन्थ में नहीं किया है। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से पुरुरवा उर्वशी को रोकने का प्रयास करते है, दोनों के मध्य वार्तालाप हुआ है–

हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै न।
नु नो मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन् परतरे चनाहन्।।[379]
पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन्।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता।।[380]

ऋग्वेदानुसार पुरुरवा उपाख्यान का विवेचन हमें श्रीमद्भागवत महापुराण में भी प्राप्त होता है।[381] इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि कालिदास निश्चित ही वैदिकोपाख्यान को दृष्टि में रखकर ही ग्रन्थों की रचना में प्रवृत्त हुए है। कवि की विशेषता है कि वह तत्कालीन देश, काल परिस्थिति को ध्यान में रखकर ही रचना करता है। कवि का लक्ष्य केवल मनोरञ्जन करना ही नहीं होता, अपितु समाज के लिए अपने ग्रन्थों के माध्यम से शिक्षा देना भी होता है। इसीलिए कालिदास वैदिक उपाख्यानों को, पौराणिक उपाख्यानों

---

[377] येन ममोपदेशस्त्वया लङ्घितस्तेन न ते दिव्यं स्थानं भविष्यति इति उपाध्यायस्य शापः। महेन्द्रेण पुनः प्रेक्षणावसाने लज्जावनतमुखी सा एवं भणिता यस्मिंस्त्वं बद्धभावासि तस्य मे रणसहायस्य राजर्षेः प्रियमत्र करणीयम्। तत्तावत्त्वं यथाकामं पुरुरवसमुपतिष्ठस्व यावत्स त्वयि दृष्टसन्तानो भेवेदिति। विक्र०, तृतीय अङ्क,पृ०सं० 508

[378] जज्ञिष इत्था गोपीथ्याय हि दधाथ तत् पुरूरवो म ओजः।
अशासं त्वा विदुषी सस्मिन्नहन् न म आशृणोः किमभुग्वदासि।। ऋ०10.95.11

[379] ऋ० 10.95.1

[380] ऋ० 10.95.15

[381] अहो जाये तिष्ठ तिष्ठ घोरे न त्यक्तुमर्हसि।
मां त्वमद्याप्यनिर्वृत्य वचांसि कृणवावहै।।श्रीमद्भा०पु० 9.14.34

को अपनी नई शैली में लिखते हैं। विक्रमोर्वशीयम् नाटक को सुखान्त बनाने के लिए उन्होंने स्वयं कल्पना की है ।

1.14 ऋग्वेदीय रथ एवं कालिदासीय सन्दर्भ

अभिज्ञानशाकुन्तल में कवि ने इन्द्र के सर्वत्र गमनशील रथ का विवेचन किया है। यह रथ पृथ्वी, आकाश, स्वर्गादि लोकों में सर्वत्र विचरण करने का सामर्थ्यवाला है।[382] ऋग्वेद में हमें इसी प्रकार के सर्वत्र गामी रथ का विवेचन प्राप्त होता है, ऋभु नाम के देवताओं ने अश्विनीकुमारों को प्रसन्न करने के लिए एक रथ का निर्माण किया, जो सर्वत्र गमनशील एवं सुखपूर्वक बैठने योग्य था। इन्हीं ऋभु नाम के देवताओं ने अपने संकल्प से इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए रथ में संयोजित किए जाने वाले हरी नाम के घोड़ों को उत्पन्न किया।[383]

1.15 उपसंहार

प्रथम अध्याय में विवेचित उनके वैदिक सन्दर्भों को देखने से हम उनके वेदों के प्रति उनकी निष्ठा का और वेदों के गहन अध्ययन का अनुमान लगा सकते हैं। वे वेदपरम्परा के अत्यन्त पोषक और समर्थक रहें हैं। उन्होंने स्मृति आदि ग्रन्थों की अपेक्षा वेदों को अत्यन्त प्रमाण माना है। उनका स्पष्ट कथन था कि स्मृतियाँ तो श्रुति का ही अनुसरण करती है।[384] इससे उनका यह मत भी ध्वनित होता है, कि यदि श्रुति और स्मृति में कहीं विरोध हो तो श्रुति ही प्रबल होती है। इस प्रकार वेदों को प्रथम प्रमाण के रूप में स्वीकार कर वे भारतीयपरम्परा का ही अनुसरण करते हैं। वेदों के प्रति निष्ठा के कारण ही उनकी कृतियों में अनेक स्थलों में पग–पग पर वैदिक सिद्धान्तों का दिगदर्शन होता है। कालिदास यह मानते हैं कि वेदमन्त्रों का पाठ व्यक्ति को निःश्रेयस प्रदान करने वाला है इसीलिए उन्होंने पुरोहितो द्वारा राजा अतिथि को विजय प्रदान करने वाले अथर्ववेद के मन्त्रों से उनके अभिषेक का विवेचन किया है।[385] कुछ लोग जहाँ कालिदास को शृङ्गाररस तक ही सीमित कर देते हैं वस्तुतः वे कालिदास के वैदिक ज्ञान से परिचित

---

[382] अयमरविवरेभ्यश्चातकैर्निष्पतद्भिर्हरिभिरचिरभाषां तेजसा चानुलिप्तैः।
गतमुपरि घनानां वारिगर्भोदराणां पिशुनयति रथस्ते सीकरक्लिन्ननेमिः।। अ०शा०7.7
उपोढशब्दा न रथाङ्गनेमयः प्रवर्तमानं न च दृश्यते रजः।
अभूतलस्पर्शतयानिरुद्धतस्तवावतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते ।। अ०शा० 7.10

[383] तक्षन्नासत्याभ्यां परिज्मानं सुखं रथम्।। ऋ० 1.20.3
य इन्द्राय वचोयुजा ततक्षुर्मनसा हरी।। ऋ० 1.20.2

[384] श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्।।र०वं० 2.2,पृ० 112

[385] पुरोहितपुरोगास्तं जिष्णुं जैत्रैरथर्वभिः।
उपचक्रमिरे पूर्वमभिषेकं द्विजातयः।।र०वं० 17.13, पृ० 237
तस्य सन्मन्त्रपूताभिःस्नानमद्भिः प्रतीच्छतः।
ववृधे वैद्युतस्याग्नेर्वृष्टिसेकादिवद्युतिः।।र०वं० 17.16, पृ० 237

ही नहीं है, कालिदास ने प्रातःकाल वसिष्ठ ऋषि के आश्रम में वेदमन्त्रों के पाठ का सुन्दर विवेचन[386], उदात्तादि स्वरों का कथन[387] वैदिक कर्मकाण्डीय यज्ञ पद्धति का विवेचन, वेद में सूर्योपासना, अग्नि का स्वरूप, चतुर्वर्णव्यवस्था, चतुर आश्रमव्यवस्था इत्यादि का सूत्र रूप में प्रतिपादन विभिन्न स्थलों में किया है। इस विवेचन से निश्चित ही कालिदास का वेदविषयक ज्ञान अत्यन्त गम्भीर था यह बात सिद्ध होती है।

[386] तच्छिष्याध्ययननिवेदितावसानाम्(तस्य वसिष्ठस्य शिष्याणाम् अध्ययनेन अपररात्रे वेदपाठेन निवेदितम् अवसानं यस्यास्तां निशां निनाय)।। र०वं०1.95, मल्लिनाथव्याख्या, पृ० 21

[387] उद्घातः प्रणवो यासां न्यायैस्त्रिभिरुदीरणम्।
कर्म यज्ञः फलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम्।।कु०स० 2.12, पृ० 53
प्रणवश्छन्दसामिव।।र०वं० 1.11, पृ० 104

द्वितीय अध्याय

कालिदासीय कृतियों मे दर्शनशास्त्र प्रकरण

2.1 दर्शनशास्त्र

दर्शन शब्द का अर्थ है देखना।[388] दृशिर् प्रेक्षणे धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर दर्शन शब्द निष्पन्न होता है, जिसके द्वारा देखा जाता है वही दर्शन है–दृश्यते अनेन इति दर्शनम् । दर्शनशास्त्र के द्वारा हम सत्य को देखने का प्रयास करते है। इसीलिए हमारे आचार्यों ने अपने–अपने दृष्टिकोण से अपने–अपने अनुभवों से सत्य को समझने का प्रयास किया है, और उन्होंने अपने–अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किए है। भारतीय परम्परा में दार्शनिक सिद्धान्त यद्यपि अनेक हैं, किन्तु षड् दर्शनों का अलग ही अपना एक वैशिष्ट्य है। इन षड् दर्शनों में सांख्यदर्शन के प्रवर्त्तक आचार्य कपिलमुनि, योगदर्शन के महर्षि पतञ्जलि, पूर्वमीमांसा के महर्षि जैमिनि, उत्तरमीमांसा (वेदान्तदर्शन) के महर्षि वेदव्यास, न्यायदर्शन के महर्षि गौतम तथा वैशेषिकदर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि कणाद हैं। महाकवि कालिदास दर्शनशास्त्र से अत्यन्त प्रभावित रहे हैं। इसलिए इनकी कृतियों में दर्शनशास्त्र के सिद्धान्तों को अन्वेषण करने का यथामति प्रयत्न किया गया है।

2.2. सांख्यदर्शन

साङ्ख्यदर्शन भारतीय दर्शन के प्राचीनतम सम्प्रदायों में से एक सम्प्रदाय है। जिसके प्रवर्त्तक भगवान् कपिल माने जाते हैं। व्युत्पत्ति के आधार पर साङ्ख्यशब्द सम् उपसर्ग पूर्वक चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि ।अयं दर्शनेऽपि ।[389] धातु से अङ् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। सम्यक् ख्याति अर्थात् सम्यक् दर्शन या सम्यक् ज्ञान सांख्यशब्द का व्युत्पत्त्यर्थ होता है। सम्यक् ख्यानं संख्या, संख्यैव सांख्यं प्रकृतिपुरुषविवेकात्मकं विशिष्टं ज्ञानम् सम्यक् प्रकार से ज्ञान अर्थात् प्रकृति–पुरुष महत् आदि पच्चीस तत्त्वों का यथार्थ विवेकपूर्ण ज्ञान सांख्य है।[390] सांख्यदर्शन का आज उपलब्ध सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका है। सांख्यकारिका पर वाचस्पतिमिश्र ने तत्त्वकौमुदी नामक महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है। इसके प्रारम्भ में उन्होंने महर्षि कपिल, शिष्य आसुरि और पंचशिख नाम के आचार्यों की वन्दना की है। सांख्यकारिका पर लिखी गई अन्य टीकाओं में अज्ञात लेखक

---

[388] निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम् ।अ०को०सङ्कीर्णवर्ग 31,पृ० 253

[389] धातुसंख्या–1017,पृष्ठसंख्या– 391

[390] सम्यक्प्रकारेण ख्यानं संख्या सा यत्र विचार्यते वर्त्तते वेति सांख्यम् । चक्षिङ् ख्याञ्धातोः संख्याशब्दस्योपपत्तिरति तस्य प्रतिपाद्यो भवति विषयतत्त्वग्राम–विनिर्णयः. तस्य याथातथ्येन तेन गणनानिरूपणं साङ्गोपाङ्गञ्च मूलभूतानां सृष्टि–स्थिति–लय–निरूपक–तत्त्वानान्निरूपणमित्येषः । इत्थं साङ्ख्यशब्दस्य मुख्यरूपेण भवत्यर्थः यत् सर्वप्रकारकं तत्त्वज्ञानं साङ्ख्यम् । बदरीनारायण, श्रीमद्भागवतीयं साङ्ख्यम्,1986.

कृत युक्तिदीपिका, गौडपाद का भाष्य, माठरवृत्ति, जयमंगला टीका और नारायण स्वामी कृत सांख्यचन्द्रिका इत्यादि ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

2.2.1 सांख्यदर्शनानुसार कालिदास की प्रकृति और पुरुष विषयक अवधारणा

जगत् की प्रकृति के विषय में कालिदास सांख्य–योग के सिद्धान्तों को मान्यता देते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। सांख्यदर्शन द्वैतवादी है, इसके दो परम तत्त्व हैं प्रकृति और पुरुष। गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। यह अवस्था प्रकृति की प्रलयकाल में होती है। प्रकृति का वास्तविक स्वरूप प्रलयकाल ही है। सृष्टि की संरचना तो प्रकृति की विकृति है। सारी सृष्टि प्रकृति के गर्भ में अव्यक्तरूप में विद्यमान है, सृष्टि रचनाकाल में वह कार्यरूप में व्यक्त होती है। सृष्टिसंरचना कार्यसमूह का आविर्भाव और प्रलय उसका तिरोभाव मात्र है। सृष्टि रचना का मूलकारण प्रकृति है। सांख्यदर्शन का अनुसरण करते हुए कवि ने इसे अव्यक्त कहा है जो व्यक्त संसार का कारण है।[391] प्रकृति नियमबद्ध जगत् का सृजन करती है प्रकृति पुरुष के लिए काम करती है।[392] अब यहाँ प्रश्न है कि प्रकृति यदि जड़ है तो फिर किसी कार्य में चेतन की तरह उसकी प्रवृत्ति कैसे होती है। इसके उत्तर में सांख्यदर्शन का कहना है कि विना चेतन की सहायता पाये भी बहुत सारे अचेतन पदार्थ सांसारिक कार्य करने में संलग्न पाये जाते हैं। उदाहरणस्वरूप अबोध शिशु के जीवन रक्षार्थ माता के वक्षस्थल में भी अबोध बच्चों के पालन–पोषण हेतु दूध का भर आना , दूध तो अचेतन है , फिर भी अबोध बच्चों के पालन–पोषण हेतु सक्रिय बन जाता है। जड़ वृक्ष भी पुरुषों के भोग के लिए फल देते हैं। इसी तरह् अचेतन प्रकृति भी चेतन पुरुष के भोग और मोक्ष के लिए कार्य में प्रवृत्त होती है।[393] प्रकृति ही सब कार्य करने वाली है, पुरुष तो केवल द्रष्टा मात्र है। कालिदास इस विचार से सहमत प्रतीत होते हैं – तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः।[394] यहाँ कवि ने पुरुष के लिए उदासीन शब्द का प्रयोग किया है। वही शब्द कपिल विरचित सांख्यसूत्र में वर्णित है– औदासीन्यञ्चेति ।[395] पुरुष या आत्मा सृष्टि के निर्माण में भाग नहीं लेता। वह निष्क्रिय है द्रष्टा मात्र है, कैवल्य प्राप्ति के लिए की जाने वाली चेष्टाओं से यही सिद्ध होता है कि बुद्धि आदि से भिन्न कोई अन्य चेतन तत्त्व है जो कैवल्य प्राप्ति के लिए अपने स्वरूप की उपलब्धि के लिए प्रयत्नशील हैं। सांख्यदर्शन उस तत्त्व को पुरुष संज्ञा से अभिहित करता है। प्रकृति

---

[391] अव्यक्तो व्यक्तकारणम् ।। रघु०वं० 10.18
[392] त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्त्तिनीम् ।। कु०स० 2.13
[393] वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य।।सां०का० 57
[394] कु०स० 2.13
[395] सां०सू० 163

और पुरुष अन्धे एवं पङ्गु के समान है।[396] सृष्टि के लिए दोनों का सहयोग आवश्यक है। प्रकृति और पुरुष ये दोनों ही तत्त्व एक दूसरे के विरोधी हैं। प्रकृति सक्रिय होकर भी अचेतन है और पुरुष निष्क्रिय होकर भी चेतन है। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और पुरुष निस्त्रैगुण्य। प्रकृति सावयव और पुरुष निरवयव। प्रकृति भोग्या और पुरुष भोक्ता। प्रकृति परिणामिनी पुरुष अपरिणामी। प्रकृति अज्ञानस्वरूपा जड़ है और पुरुष ज्ञानस्वरूप चेतन है। प्रकृति संसार की प्रसवित्री है और पुरुष असंसारी है। इस तरह विचार करने पर दोनों ही तत्त्व विरुद्धधर्म वाले है। प्रकृति दृश्य तो पुरुष द्रष्टा। प्रकृति पुरुष की इच्छा या अर्थ की पूर्ति करने वाली कही जाती है। कालिदास के द्वारा प्रकृति के लिए प्रयुक्त पुरुषार्थप्रवर्त्तितनीम् की संज्ञा सांख्य दर्शन से सम्बद्ध है।[397]

2.2.2 सांख्यदर्शनानुसार सृष्टिक्रम एवं कालिदासीय सन्दर्भ

सृष्टिक्रम में सर्वप्रथम आविर्भूत तत्त्व महत् है। सभी वस्तुओं का केवल अव्यक्त से व्यक्त अवस्था में प्रादुर्भाव होता है। कालिदास व्यक्त और व्यक्तेत्तर अर्थात् अव्यक्त इन दोनों की चर्चा करते हैं।[398] सांख्यदर्शन के अनुसार अव्यक्त प्रकृति से महतत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ ।[399] महत् बुद्धितत्त्व है। कवि कालिदास भी अव्यक्त प्रकृति से बुद्धि तत्त्व का प्रादुर्भाव स्वीकार करते हैं।[400] प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण बुद्धि भी अचेतन है। यह तत्त्व स्वच्छ दर्पण की तरह स्वयं में प्रतिबिम्बित कर लेता है। इसमें अचेतन बुद्धि चेतन की तरह प्रतीत होती है। निर्गुण पुरुष सीमित,साकार, ज्ञाता और भोक्ता जीव के रूप में प्रतीत होता है । सांख्यदर्शन में अध्यवसाय बुद्धि का लक्षण किया गया है।[401] अध्यवसाय का अर्थ है निश्चय अर्थात् निश्चय करने वाली शक्ति ही बुद्धि है। यह घट है यह पट है इत्यादि। बुद्धि के सात्त्विक तामस भेद से आठरूप माने गए हैं। सात्विक बुद्धि के चार प्रकार–धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य। धर्म के अन्तर्गत दया, दान, यम[402] , नियम[403] आते हैं। ज्ञान का पर्याय प्रकाश, अवगम, भान इत्यादि। सांख्य के अनुसार ज्ञान के दो भेद माने गए हैं–बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्यज्ञान के अन्तर्गत वेद वेदाङ्ग

---

[396] पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्गवन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ।। सां०का० 21

[397] सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ।।सां०का० 17

[398] व्यक्तो व्यक्तेतरश्चासि ।। कु०स० 2.11

[399] प्रकृतेर्महान् सां०का० 22

[400] बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति ।।रघु०वं० 13.60

[401] अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्ययस्तम् ।। सां०का० 23

[402] अंहिसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमः ।। यो०सू० 2.30

[403] शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।।यो०सू० 2.32

(शिक्षा,कल्प,व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष, पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र आते हैं और आभ्यन्तर ज्ञान के अन्तर्गत प्रकृतिपुरुष के स्वरूप का ज्ञान। बाह्यज्ञान से लोकानुराग प्राप्त होता है जबकि आभ्यन्तर ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है। वैराग्य भी दो प्रकार का है बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य वैराग्य का अर्थ है सांसारिक वस्तुओं के अर्जन, रक्षण, क्षय इत्यादि को देखकर वैराग्य होना। स्वप्न में इन्द्रजाल सदृश प्रकृति से भी वैराग्य हो जाना आभ्यन्तर वैराग्य है। जिसे मोक्ष के इच्छुक पुरुष चाहा करते हैं।

ऐश्वर्य का अर्थ है ईश्वर का भाव वह आठ प्रकार का है, अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, औशित्व, वशित्व, कामावसायित्व। कवि ने कुमारसम्भवम् में इन अणिमादि सिद्धियों से युक्त भगवान् शङ्कर को बताया है।[404] कवि की योगसिद्धियों पर अत्यन्त श्रद्धा है। वे वर्णन करते हैं कि अयोध्या की अधिष्ठात्री देवी योगसिद्धि के बल पर ही कपाट लगे होने के बाद भी कुश के समक्ष उपस्थित होकर अपने दुःख का बखान करती हैं।[405]

अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कण्वऋषि के प्रभाव से वृक्षों ने शकुन्तला के लिए आभूषणादि समर्पित किए।[406] कवि ने महर्षि वसिष्ठ के लिए कहा है कि वे अपने तप के द्वारा ही राजाओं के उपभोग योग्य सामग्री राजा दिलीप के लिए सम्पादन करने का सामर्थ्य रखते हैं किन्तु दिलीप के व्रत नियम को देखकर उन्होंने उन तप से प्राप्त सिद्धियों का प्रयोग नहीं किया।[407] कालिदास मानते हैं कि सिद्धियाँ यम नियमादि का पालन करने वाले योगी को स्वतः ही प्राप्त हो जाती हैं।[408] ये चार धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य बुद्धि के सात्त्विकरूप हैं। जब सत्त्वगुण से रजोगुण, तमोगुण अभिभूत होते हैं ,तब पुरुष बुद्धि के इन सात्त्विक गुण धर्म, ज्ञान,वैराग्य और ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। बुद्धि के तामसरूप इन्हीं के विपरीत है अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य है। जो पुरुष को पतन की ओर ले जाते हैं।

---

[404] अणिमादिगुणोपेतमस्पृष्टपुरुषान्तरम् ।
शब्दमीश्वर इत्युच्चैः सार्धचन्द्रं बिभर्ति यः।।कु०स० 6.75

[405] लब्धान्तरा सावरणेऽपि गेहे योगप्रभावो न च लक्ष्यते ते।
बिभर्षि चाकारमनिर्वृतानां मृणालिनी हैममिवोपरागम् ।।र०वं० 16.7

[406] क्षौमं केनचिदिन्दुपाण्डुतरुणा मालङ्ल्यमाविष्कृतम्
निष्च्यूतश्चरणोपभोगसुलभो लाक्षारसः केनचित् ।
अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थितैः
दत्तान्याभरणानि तत्किसलयोद्भेदप्रतिद्विन्दिभिः।।अ०शा० 4.5

[407] सत्यामपि तपःसिद्धौ नियमापेक्षया मुनिः।
कल्पवित्कल्पयामास वन्यामेवास्य संविधाम्।।र०वं० 2.94

[408] स्वसिद्धिं नियमैरिव ।। र०वं० 15.74

महत्तत्त्व बुद्धि से अहंकार का प्रादुर्भाव होता है और यह सात्त्विक राजस तामस भेद से तीन प्रकार का है। सात्विक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ तथा तामस अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ और उन्हीं पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूतों का प्रादुर्भाव हुआ है।[409] सांख्यदर्शन इन्द्रियों को दो वर्गों में विभक्त करता है। बाह्येन्द्रिय और भीतरी अन्तःकरण। बाह्येन्द्रिय दो प्रकार की हैं ज्ञानेन्द्रियाँ(कर्ण, चक्षु, त्वचा, जिह्वा और नासिका) और कर्मेन्द्रियाँ(वाक् हस्त,पाद,पायु तथा उपस्थ)।[410] ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से केवल वर्तमान काल के विषयों का ही अनुभव होता है।जबकि आभ्यन्तर करण से त्रिकाल की वस्तुओं का अनुभव होता है। सांख्यसूत्र में इन्हीं पञ्चविंशति तत्त्वों का विवेचन किया गया है ।[411]

2.2.3 सांख्यदर्शन में प्रमाण एवं कालिदासीय सन्दर्भ

सांख्यदर्शन का अनुसरण करते हुए कालिदास तीन प्रमाणों अर्थात् सत्ताधारी सारी वस्तुओं की प्रकृति के यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के साधनों का वर्णन करते हैं।[412] सभी दर्शन अपने तत्त्वों और सिद्धान्तों को प्रमाणित करने के लिए कुछ प्रमाण मानते हैं। प्रमेय(25) तत्त्वों की सिद्धि और ज्ञान प्रमाणों से ही हो सकता है। अतः प्रमेय(पदार्थों) के साधन के लिए इस दर्शन में तीन ही प्रमाण माने गए हैं।[413] प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तवाक्य या शब्द । सांख्य,योग और वेदान्त के अनुसार वृत्ति ही प्रमाण है, जिसके द्वारा यथार्थज्ञान अर्थात् प्रमा की प्राप्ति होती है, वह प्रमाण है, इस व्युत्पत्ति के द्वारा यह ज्ञात होता है कि प्रमाण यथार्थ ज्ञान का करण अर्थात् मुख्य साधन है। वह प्रमाण सन्देहरहित, सत्य तथा पहले से अज्ञात विषय से सम्बद्ध चित्त का व्यापार है। यही गौणप्रमा है। इस चित्त के व्यापार से पुरुष में उत्पन्न होने वाला बोध प्रमा है। यही मुख्यप्रमा है तथा ज्ञान प्रक्रिया का फल है, इस मुख्यप्रमा का साधन ही प्रमाणभूत गौणप्रमा है।[414]

---

[409] ततोऽहङ्कारः तस्माद्गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ।। सां०का० 22
अभिमानोऽहङ्कारस्तस्मात् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकञ्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकस्यैव ।। सां०का० 24
सात्त्विक एकादशकः प्रवर्त्तते वैकृतादहङ्कारात् ।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ।। सां०का० 25

[410] बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनकानि ।
वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः।।सां०का० 26

[411] सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान् महतो ऽहङ्कारः, अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि, उभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः,स्थूलभूतानि पुरुषः इति पञ्चविंशतिर्गणः ।। सांख्यसूत्र–1.61

[412] प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव ।
आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा।। र०वं० 10.28
ब्राह्मं सरः कारणमाप्तवाचः।। र०वं० 13.60

[413] दृष्टमनुमानमाप्तवचनञ्च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।
त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ।। सां०का० 4

[414] प्रमीयतेऽनेनेति निर्वचनात् प्रमां प्रति करणत्वमवगम्यते। तच्चासन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्तिः । या चित्तवृत्तिः सा प्रमा । बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणमिति । सा मुख्या प्रमेत्यर्थः।। श्रीरामनाथ झा, सांख्यदर्शन, पृष्ठसंख्या–61

2.2.4 सांख्यदर्शनानुसार प्रत्यक्ष प्रमाण एवं कालिदासीय सन्दर्भ

कवि कालिदास प्रत्यक्षप्रमाण का विवेचन करते हैं–प्रत्यक्षोऽप्यपरिच्छेद्यो मह्यादिर्महिमा तव।[415] पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन से जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। घट, पट, शब्द, सुख आदि पदार्थों से चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों का संनिकर्ष होने से जो बुद्धि की वृत्ति (निश्चयात्मिका) होती है वही प्रत्यक्ष प्रमाण है।[416] क्योंकि बुद्धि तत्त्व सत्त्व, रज आदि तीन गुणों से युक्त है, अतः उसमें तमोगुण भी है और तमोगुण का स्वभाव आवरण है, जिसके कारण घट आदि विषयों का ज्ञान नहीं होता। जब इन्द्रियों का विषय घट आदि से संनिकर्ष होता है। तब उससे बुद्धितत्त्व में तमोगुण का अभिभव हो जाता है और सत्त्वगुण की वृद्धि हो जाती है तब बुद्धि की अध्यवसायात्मिका या निश्चयात्मिका (घटादि का निश्चय कराने वाली) वृत्ति होती है। वृत्ति ही प्रत्यक्षप्रमा का करण होने से प्रत्यक्षप्रमाण कहलाती है। बुद्धि की वृत्तियाँ और स्वयं बुद्धि तत्त्व भी प्रकृति जड़ का कार्य होने से जड़ है, उस बुद्धि में बुद्धि की दर्पण तुल्य अत्यन्त स्वच्छता के कारण ही पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है। पुरुष के उस प्रतिबिम्ब के प्रभाव से ही वह जड़ बुद्धि भी चैतन्य की तरह मालूम होती है और विषयाकार वृत्ति से युक्त बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष को जो घटादि विषयों का ज्ञान होता है। वह ज्ञान यद्यपि बुद्धि का ही है , परन्तु पुरुष भी बुद्धि में प्रतिबिम्बित है और तादात्म्यभावापन्न है। अतः वह ज्ञान पुरुष का कहलाता है । वस्तुतः पुरुष सुखादि विषय भोग से रहित है।[417] विषयसंनिकृष्टेन्द्रियजन्यबुद्धिवृत्तिरूप व्यापारजन्य जो पुरुष का ज्ञान (घटम् अहं जानामि इत्यादि रूप बोध) है, वही प्रत्यक्ष प्रमा कहलाता है और वही बोध मुख्य है। क्योंकि वही बोध प्रमाणरूप व्यापार का फलस्वरूप है और फल ही मुख्य होता है। विषयाकार वृत्ति वाली बुद्धि के सम्पर्क होने से पुरुष स्वच्छ होते हुए भी उसके साथ तादात्म्यभावापन्न होने से ही पुरुष अपने को कर्त्ता, भोक्ता आदि समझता है, वस्तुतः पुरुष न तो कर्त्ता है और न वह उसके फल का भोक्ता है।

---

[415] र०वं० 10.28

[416] प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम् ।। सां०का० 5

अवयवार्थस्तु–विसिन्वन्ति विषयिणमनुबध्नन्ति स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्ति । (अर्थात् घटादयो विषया हीन्द्रियसन्निकर्षादिना विषयिणं चित्तं स्वाकारेण उपरञ्जयति, यदिदम् उपरञ्जनम् विषयिणि चित्ते विषयाणां स्वाकारार्पणम् एतदेव स्वेन रूपेण निरूपणीयत्वमिति तत्त्वम्)।। सा०का० 5, वाचस्पतिमिश्र, सांख्यतत्त्वकौमुदी

[417]उपात्तविषयाणामिन्द्रियाणां वृतौ सत्यां बुद्धेस्तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः, सोऽध्यवसाय इति, वृत्तिरिति, ज्ञानमिति चाख्यायते ।इदं तावत् प्रमाणम्।अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहः, तत् फलं, प्रमा बोध इति। बुद्धितत्त्वं हि प्राकृतत्वादचेतनमिति तदीयोऽध्यवसायोऽप्यचेतनो घटादिवत् । एवं बुद्धितत्त्वस्य सुखादयोऽपि परिणामभेदा अचेतनाः, पुरुषस्तु सुखाद्यननुषङ्गी चेतनः। सोऽयं बुद्धितत्त्ववर्तिना तत्प्रतिबिम्बितस्तच्छायापत्त्या ज्ञानसुखादिमानिव भवति चेतनुऽनुगृह्यते। चितिच्छायापत्त्या चाऽचेतनाऽपि बुद्धिस्तदध्यवसायोऽप्यचेतनश्चेतनवद् भवति।। सां०का० 5 सांख्यतत्त्वकौमुदी व्याख्या में विवेचित।

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनवदिव लिङ्गम्। गुणकर्तृत्वे च तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः।। सां०का० 20

नैयायिकों के सिद्धान्त में चक्षु आदि इन्द्रियाँ ही प्रत्यक्षप्रमाण कहलाती हैं और उनसे आत्मा को ज्ञान होता है, अतः वही ज्ञान प्रत्यक्षप्रमा कहलाता है। यही सांख्यदर्शन के मत से नैयायिकों के मत में भेद है, अतः सांख्यमत में इन्द्रियों का प्रत्यक्षप्रमाण कहलाना गौण ही है, मुख्यप्रमाण तो बुद्धिवृत्ति ही है। इन्द्रियों के द्वारा ही वह घटादि विषयाकारा बुद्धि की वृत्ति होती है, अतः परम्परया तो इन्द्रियाँ भी सांख्यमत में भी प्रमाण कही जा सकती है। योगसूत्र भी सांख्य के मत को ही पुष्ट करता है।[418]

2.2.5 सांख्यदर्शनानुसार अनुमान प्रमाण एवं कालिदासीय सन्दर्भ

कवि कालिदास अनुमान प्रमाण का विवेचन करते है–आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा।[419] सांख्य दर्शन में व्याप्ति के ज्ञान से व्याप्त, वस्तु को देखकर जो व्यापक का ज्ञान होता है, उसे अनुमान प्रमाण कहा गया है। लिंग (हेतु) से लिंगी का ज्ञान अनुमान कहलाता है।[420] जैसे धूम से अग्नि का अनुमान लगाया जाता है। अग्नि का व्याप्य धूम है और धूम का व्यापक अग्नि है। यह व्याप्य–व्यापकभाव व्याप्ति का ज्ञान ही अनुमिति का जनक है। अतः व्याप्तिज्ञान या परामर्शात्मक ज्ञान(बुद्धिवृत्तिविशेष) ही अनुमान है। इस चित्त की वृत्ति (अग्न्याकारा बुद्धिवृत्ति) से जो पुरुष को बोध होता है वही अनुमितिरूप प्रमा है। वही मुख्य फल है। उसका जनक परामर्श या व्याप्तिज्ञान (तदाकारा चित्तवृत्ति) है ,अतः बुद्धिवृत्ति विशेष ही अनुमान है। यही सांख्य का मत है। आचार्य गोडपाद ने अनुमान के तीन भेद माने हैं पूर्ववत् ,शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट। पूर्ववत् अनुमान– पूर्वमस्यास्तीति पूर्ववत् अर्थात् काले मेघों को देखकर व्यक्ति वर्षा का अनुमान लगाता है। क्योंकि पहले भी ऐसा देखा गया है कि काले मेघों के आने पर वर्षा हुई थी । शेषवत् अनुमान – समुद्र का लवणयुक्त जल पीने पर व्यक्ति यह अनुमान लगाता है कि शेष समुद्र का जल भी नमकीन ही है । सामान्यतोदृष्ट अनुमान– प्रातः पूर्व दिशा में देखी हुए सूर्य को सांयकाल में पश्चिमदिशा में देखकर व्यक्ति सूर्य की गति का अनुमान लगाता है। लिङ्ग को देखकर लिङ्गी का अनुमान किया जाता है।[421]

2.2.6 सांख्यदर्शनानुसार शब्द प्रमाण एवं कालिदासीय सन्दर्भ

---

[418]चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापतौ स्वबुद्धिसंवेदनम्।।यो०सू० 4.22

[419] र०वं० 10.28

[420] तल्लिङ्गलिङ्गीपूर्वकम् ।।सां०का० 5

[421] त्रिविधम् अनुमानम् आख्यातम् , पूर्ववत् , शेषवत् , सामान्यतोदृष्टम् , पूर्वमस्यस्तीति पूर्ववत् यथा मेघोन्नत्या वृष्टिः साधयति पूर्वदृष्टत्वात् । शेषवत् यथा समुद्रादेकं जलपललवणमासाद्य शेषस्याप्यस्ति लवणभाव इति । सामान्यतोदृष्टम्– देशान्तराद्देशान्तरप्राप्त दृष्टं गतिमच्चन्द्रतारकं चौत्रवत् । यथा चैत्रनामान देशान्तराद्देशान्तरं प्राप्तमवलोक्य गतिमान् अयम् इति । तद्वच्चन्द्रतारकमिति । तथा पुष्पिताम्रदर्शनादन्यत्र पुष्पिता आम्रा इति । सामान्यतोदृष्टेन साधयति । एतत् सामान्यतोदृष्टम् । तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमिति तदनुमानं लिङ्गपूर्वकं यत्र लिङ्गेन लिङ्गी अनुमीयते यथा दण्डेन यतिः। सा०का० 5, गोडपादभाष्य

कवि कालिदास शब्दप्रमाण के लिए आप्त शब्द का प्रयोग करते हैं–आप्तवागनुमानाभ्यां साध्यं त्वां प्रति का कथा।[422] सांख्यकारिका एवं भाष्यकार गौडपाद कहते हैं कि प्रत्यक्ष और अनुमान से जिसका ग्रहण नहीं होता है उस वस्तु का ग्रहण आप्तवाक्य से करना चाहिए । जैसे इन्द्र देवराज है , स्वर्ग में कल्पवृक्ष इत्यादि।[423] आप्तवाक्य वेदों के वचन है तथा आप्त उस व्यक्ति को भी कहा जाता है जिसके वाक्य यथार्थ है[424], आचार्य गोडपाद ने अपने भाष्य में आप्त व्यक्ति का लक्षण किया है, जो राग, द्वेष से रहित है, जिसके सभी दोष नष्ट हो गये हैं ऐसा सत्कर्म में व्यापृत व्यक्ति ही आप्त कहा जाता है।[425]

शाब्दबोध रूप प्रमा ज्ञान का जनक आप्त शब्द है, अतः शाब्दबोध रूप चित्तवृत्ति के प्रति वही करण है। शाब्दबोध का करण होने से वह आप्तवाक्य ही शब्दप्रमाण है और पुरुषगत शाब्दबोधरूप फल ही जब प्रमा है, तब तदाकारा चित्तवृत्ति ही शब्दप्रमाण है।वेद और आचार्य के वचन ही इस प्रमाण के अन्तर्गत आते हैं।

2.2.7 अन्तःकरण एवं कालिदासीय सन्दर्भ

सांख्यदर्शन के अनुसार आभ्यन्तर करण मन, बुद्धि और अहंकार हैं। ये आन्तरिक ज्ञान के साधन हैं। इनके द्वारा त्रिकाल की वस्तुओं का बोध होता है।[426] वेदान्तदर्शन के अनुसार मन, बुद्धि , चित्त और अहंकार ये चार अन्तःकरण कहे गये हैं। मन के द्वारा संकल्प , बुद्धि द्वारा निश्चय ,चित्त द्वारा स्मरण तथा अहंकार द्वारा अभिमान किया जाता है ।[427] अन्तःकरण ज्ञान तथा दुःखानुभव को एक जन्म से दूसरे जन्म तक ले जाता है। कालिदास अन्तःकरण के विषय में कहते हैं जहाँ सज्जन व्यक्तियों को सन्देह हो जाय वहाँ उनका अन्तकरण ही प्रमाण है।[428] यहाँ मानस प्रत्यक्ष है क्योंकि अन्तःकरण में विद्यमान जो अदृष्ट है वही यहाँ दृढ़ निश्चय करा देता है। वेद के वेताओं और साधु आचरण वाले लोगों की अपनी संतुष्टि ही धर्म में मूल है। मनु अपनी संतुष्टि को भी धर्म

---

[422] र०वं० 10.28

[423] तस्मादपि चासिद्धं परोक्षमाप्तागमनात् सिद्धम् ।।सां०का० 6
प्रत्यक्षेणानुमानेन वा योऽर्थो न गृह्यते । स आप्तवचनात् ग्राह्यः। यथेन्द्रो देवराजः , उत्तराः कुरवः, स्वर्गेऽप्सरस इत्यादि ।।सां०का० 4, गौडपादभाष्य

[424] आप्तश्रुतिराप्तवचनञ्च । आप्ताः आचार्या ब्रह्मादयः। श्रुतिर्वेदः , आप्ताश्च श्रुतिश्च आप्तश्रुतिः तदुक्तमाप्तवचनमिति ।। सां०का० 5,गोडपादभाष्य

[425] आगमो ह्याप्तवचनमाप्तो दोषक्षयाद्विदुः।
क्षीणदोषोऽनृतं वाक्यं न ब्रूयाद्धेत्वसम्भवात्।।
स्वकर्मण्यभियुक्तो यः सङ्गद्वेषविवर्जितः।
पूजितस्तद्विधैर्नित्यमाप्तो ज्ञेयः स तादृशः।। सां०का० 4, गौडपादभाष्य

[426] अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ।।सां०का० 33

[427] मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्येनान्तरिन्द्रियचतुष्केण क्रमात्सङ्कल्पनिश्चयाहङ्कार्यचैत्तांश्च।। वे०सा०, स्थूलसृष्टिप्रक्रिया , पृ० 206

[428] सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ।। अ०शा० 1.20

में प्रमाण मानते हैं।[429] मनुस्मृति के व्याख्याकार कुल्लूकभट्ट ने गर्गाचार्य का मत उद्धृत किया है जिसमें गर्गाचार्य ने भी आत्मतुष्टि को प्रमाण स्वीकार किया है।[430]

रघुवंश में राजा दिलीप अत्यन्त दयालु है इस बात को हरिणियों के अन्तःकरण ने उन्हें बता दिया। वे बिल्कुल भी राजा दिलीप को देखकर भयभीत नही हुयी।[431] यह अन्तःकरण प्रमाण है जो सज्जन, दुर्जन , सही , गलत की हमें पहचान कराता है।

जब दुष्यन्त मातलि से सुनता है कि मै इस समय उसी मार्ग से जा रहा हूँ जिसे वामन भगवान् ने अपने दूसरे चरण से नाप कर पवित्र कर दिया। जिसमें गङ्गा बहती है और परिवह नामक पवन चलता है[432] तब दुष्यन्त कहता है कि यही कारण है कि मेरी बाह्य और आन्तरिक दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ अन्तरात्मा के साथ प्रसन्न हो उठी हैं।[433]

रघुवंश में जब राजा रघु की सेना अश्वमेध के घोड़े को देखने में समर्थ नहीं हुई तब अकस्मात् उपस्थित नन्दिनी के गोमूत्र को जैसे ही रघु ने अपने नेत्रों में लगाया उन्हें अतीन्द्रिय वस्तुओं का भी दर्शन होने लगा।[434]

माता सीता की जब दाहिनी आँख फड़कने लगी तो कुछ विपत्ति आने वाली है ऐसी आशङ्का से मन ही मन मनाने लगी कि भाइयों के साथ श्रीराम सकुशल सुखपूर्वक रहें।[435] यहाँ कवि ने करणैरबाह्यैः के द्वारा अन्तरिन्द्रिय का ही वर्णन किया है।[436]

कवि ने इन्दुमती के स्वयंवर प्रसंग में राजाओं की स्थिति के विषय में अन्तःकरण का उल्लेख किया है।[437] यहाँ कवि ने अन्तःकरण के विवेचन के माध्यम से सांख्यादि दर्शनों के मत को ही प्रस्तुत किया है।

2.2.8 कालिदास की कृतियों में प्रयुक्त गुणत्रय एवं उनका प्रभाव

प्रकृति के तीन तत्त्वों सत्त्व, रजस् और तमस् का विवेचन कवि कालिदास ने अपनी कृतियों में किया है–गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे।[438] रघुरप्यजयद्गुणत्रयं प्रकृतिस्थं

---

[429] आत्मनस्तुष्टिरेव च ।।मनु० 2.6
श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
सम्यक् सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं सताम्।।श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी, कालिदासप्रणीतम्अभिज्ञानशाकुन्तलम्,पृष्ठसंख्या–41

[430] वैकल्पिके आत्मतुष्टिः प्रमाणम् इति गर्गः।। मनु० 2.6 कुल्लूकभट्ट व्याख्या में

[431] धनुर्भतोऽप्यस्य दयार्द्रभावमाख्यातमन्तःकरणैर्विशङ्कैः ।
विलोकयन्त्यो वपुरापुरक्षणां प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः ।।र०वं० 2.11,पृ० 12

[432] त्रस्रोतसं वहति यो गगनप्रतिष्ठां ज्योतींषि वर्तयति च प्रविभक्तरश्मिः।
तस्य द्वितीयहरिविक्रमनिस्तमस्कं वायोरिमं परिवहस्य वदन्ति मार्गम्।। अ०शा० 7.6

[433] अतः खलु सबाह्यान्तकरणो ममान्तरात्मा प्रसीदति।। अ०शा०7, पृ० 130

[434] तदङ्गनिस्यन्दजलेन लोचने प्रमृज्य पुण्येन पुरस्कृतः सताम् ।
अतीन्द्रियेष्वप्युपपन्नदर्शनो बभूव भावेषु दिलीपनन्दनः।।र०वं० 3.41, पृ० 64

[435] र०वं० 14.50

[436] राज्ञः शिवं सावरजस्य भूयादित्याशशंसे करणैरबाह्यैः ।। र०वं० 14.50

[437] निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्रा देहैः स्थिताः केवलमासनेषु ।।र०वं० 6.11

समलोष्ठकाञ्चनः।[439] सांख्यदर्शन में विस्तार से इन गुणों पर चर्चा की गई है, क्योंकि तीनों गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति कही जाती है और प्रकृति से ही महतत्त्व, अहंकार आदि तत्त्वों का आविर्भाव होता है। इन तीनों गुणों का अपना–अपना स्वभाव है। सांख्यदर्शन के अनुसार सत्त्व, रज और तम ये तीन प्रकृति के उपादान तत्त्व हैं। इनसे पृथक् प्रकृति की कोई सता नहीं है। ये तीनों गुण रस्सी के रेशों की तरह परस्पर मिलकर पुरुष के लिए बन्धन का काम करते हैं। सांख्यदर्शन में प्रकृति को त्रिगुणात्मिका कहा गया है। गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है।[440] ये तीनो गुण अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अतीन्द्रिय है। जैसे प्रकृति का प्रत्यक्ष नहीं होता वैसे गुणों का भी प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। ये गुणत्रय भी अनुभूतिगम्य माने गए हैं । यहाँ सत्त्वगुण का सुख , रजोगुण का दुःख तथा तमोगुण का कार्य मोह है। यहाँ यह विचारणीय है कि सांख्ययोग के गुण और न्याय वैशेषिक के गुणों में पर्याप्त अन्तर है। ये प्रकृतिरूपी द्रव्य के गुण या धर्म नहीं हैं । अतः यहाँ प्रकृति तथा गुणों में द्रव्य गुण सम्बन्ध नहीं है। ये सत्त्व रज तम तीन गुण तो स्वयं द्रव्यरूप ही हैं । ये वे तत्त्व हैं जिनसे प्रकृति बनती है , ये प्रकृति के संघटक तत्त्व हैं । गुण या धर्म द्रव्य के ही होते हैं । धर्म के अर्थ में गुण के गुण नहीं होते। किन्तु सांख्यदर्शन में त्रिगुणों के भी गुणों की चर्चा होती है। प्रकाशत्व चलत्व लघुत्व एव गुरुत्व इत्यादि ये गुणों के भी गुण है। अतः यह स्पष्ट होता है कि ये गुण द्रव्यरूप हैं। ये तीनों ही प्रकृति के निर्माणक तत्त्व हैं। अपने सम्मिलित रूप में ये तीनों ही गुण प्रकृति है। डोरी के अर्थ में ये गुण तीन अलग–अलग डोरियाँ हैं, जिन्हें मिलाकर प्रकृतिरूपी मजबूत रस्सी बनती है, इसी रस्सी से पुरुषपशु बन्धन को प्राप्त होता है। सांख्यदर्शन के अनुसार सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण हैं। परस्पर इनके स्वभाव भी भिन्न–भिन्न है। सृष्टि के समय ये तीनों गुण एक साथ मिलकर सृष्टिकार्य सञ्चालित करते हैं। स्वभाव भिन्न होते हुए भी ये सृष्टि सञ्चालनरूपी कार्य सम्मिलित रूप से करते हैं। प्रलयकाल में भी ये एक ही साथ बीजरुप में प्रकृति में लीन हो जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों ही गुण (सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण) इस अविनाशी जीव को शरीर में बाँधते हैं। सत्त्वगुण सुख में लगाता है, रजोगुण कर्म में प्रवृत्त करता है और तमोगुण ज्ञान का आच्छादन कर प्रमाद में लगाता है।[441]

---

[438] कु०स० 2.4
[439] र०वं० 8.21
[440] सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।। सां०सू०1.61
[441] सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।।गी० 14.5

2.2.8.1 सत्त्वगुण का स्वभाव

सतोगुण शुद्धता, शुचिता और स्वच्छता का प्रतीक है। इसका स्वरूप प्रदीप्त, प्रकाशक एवं लघु है। इसी लघुगुण के कारण वस्तुओं में हल्कापन आता है तथा विषय उर्ध्वगमन करते हैं। सतोगुण से सुख उत्पन्न होता है।[442] सुख के अन्तर्गत सरलता, शुचिता, स्नेह, श्रद्धा, सन्तोष, दया दाक्षिण्य, दान तथा ज्ञान और विवेक, सहयोग और प्राणियों के प्रति प्रेम जैसे सुखद भावों की सरल तरल अनुभूतियों से आत्मानन्द का विस्तार होता है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाश करने वाला, सुख और ज्ञान की आसक्ति से जीव को बाँधता है।[443]

2.2.8.2 रजोगुण का स्वभाव

रजोगुण उत्तेजकता, चञ्चलता का प्रतीक है। यह स्वयं तो चञ्चल है ही अपनी सता के कारण दूसरे गुणों को भी गतिशील बनाए रखता है। यह सक्रिय तथा उपष्टम्भक अर्थात् संश्लेषजनक होता है।[444] समस्त मानवीय क्रियाएँ एवं प्रवृत्तियाँ इसी रजोगुण के प्रभाव में होती हैं। यह दुःख उत्पन्न करता है। यह स्वयं क्रियाशील तो है ही अन्य गुणों को भी क्रियाशील बनाता है। इसी के कारण इन्द्रियों में विषयों की और दौड़ने की प्रवृत्ति जगती है। यह दुःख का उत्पादन कर्त्ता है। दुःख के अन्तर्गत मान, मद, मोह, मत्सर, मृगतृष्णा, द्वेष, क्रोध और अहङ्कार। यह रजोगुण रक्तवर्णीय है ।

शोक, दुःख का कारण रजोगुण ही है, जब तक मन में रजोगुण आसन जमाये बैठा रहता है तब तक दुःख का अन्त नहीं होता। कवि कालिदास लिखते हैं कि श्रीराम ने सीता के कारण उत्पन्न शोक का निग्रह कर रजोगुण से शून्य मन को बनाकर राज्य का शासन किया।[445] श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार रजोगुण राग का प्रतीक है जो तृष्णा और आसक्ति से उत्पन्न होता है। यह कर्म और कर्मफल की आसक्ति से जीवात्मा को बाँधता है।[446]

2.2.8.3 तमोगुण का स्वभाव

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ।।गी०14.9

[442] सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टम्।।सां०का०13

[443] तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।।गी० 14.6

[444] उपष्टम्भकं चलञ्च रजः।।सां०का०13

[445] निगृह्यशोकं स्वयमेव धीमान्वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः।
स भ्रातृसाधारणभोगमृद्धं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास ।।र०वं० 14.85

[446] रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ।।गी० 14.7

तमोगुण मलीमस (Darkness) का प्रतीक है, यह अन्धकार या अज्ञान से आच्छन्न है। यह गुरु(भारी) आवरणक, आच्छादक या अवरोधक है ,क्योंकि यह अवरोध, आवरण उत्पन्न करता है।[447] यह प्रकाश और क्रिया का तथा सुख और दुःख का अवरोध करता है। इसका स्वभाव जड़ता और निष्क्रियता है। अज्ञान का सूचक और मोह का यह जनक है। मोह के कारण ही मनुष्य में तन्द्रा, निन्द्रा, प्रमाद, आलस्य, मूर्च्छा, अज्ञान, अकर्मण्यता और उदासीनता के भाव उत्पन्न होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है। यह प्रमाद अर्थात् व्यर्थचेष्टा, आलस्य तथा निद्रा के द्वारा जीवात्मा को बाँधता है।[448]

2.2.8.4 गुणों का पारस्परिक सम्बन्ध

सभी सद्वृत्तियों, प्रवृत्तियों, अनुभूतियों वासनाओं तथा कामनाओं के साथ मानव जीवन और सभी प्रकार के कर्म तीन गुणों से उत्पन्न माने जाते हैं। कालिदास लिखते हैं लोकचरित तीनो गुणों से ही उत्पन्न हुआ है।[449] ये गुण द्रव्य का निर्माण करते हैं और सारी विशेषताएँ उत्पन्न करते हैं। इन तीनों गुणों की एक विशेषता यह है कि ये एक–दूसरे को अभिभूत करके ही अपने स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। सतोगुण अपना कार्य रजोगुण तमोगुण को दबाकर करता है। रजोगुण भी सतोगुण तमोगुण को दबाकर तथा तमोगुण सत्त्वगुण रजोगुण को दबाकर अपना कार्य करता है। ये एक दूसरे का आश्रय भी लेते हैं। सतोगुण प्रवृत्तिनियम का आश्रय लेकर अपने प्रकाश के द्वारा रज एवं तम का उपकार करता है। इसीप्रकार रजोगुण प्रकाश एवं नियम को आश्रितकर प्रवृत्ति से लाभ पहुँचाता है और तमोगुण प्रकाश तथा प्रवृत्ति को आश्रित कर अवरोधन का काम करता है। इसे आश्रयवृत्ति कहते है।[450] कवि कालिदास उपमा के माध्यम से गुणविषयक इस सिद्धान्त को विष्णु और देवताओं के संवाद प्रसंग में स्पष्ट करते हैं जैसे संसार के जीवों के सतोगुण और रजोगुण को उनका तमोगुण दबा देता है वैसे ही आपके तेज और बल को रावण दबा बैठा है।[451] सांख्यदर्शन के अनुसार ये तीनों गुण परस्पर एक दूसरे के विरोधी हैं। एक स्वरूप प्रकाश है तो दूसरे का स्वरूप अन्धकार। सतोगुण जहाँ सुखद तो रजोगुण

---

[447] गुरुवरणकमेव तमः।।सां०का०13

[448] तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।। गी०14.8

[449] त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितम् ।। माल०1.4

[450] प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः ।
अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ।।सां०का०12

[451] जाने वो रक्षसाक्रान्तावनुभावपराक्रमौ ।
अङ्गिनां तमसेवोभौ गुणौ प्रथममध्यमौ।।र०वं०10.38

दुःखद । पहला गतिहीन है तो दूसरा गतिशील। ये तीनों गुण परस्पर में इतने विरोधी हैं तो सृष्टि सञ्चालन का कार्य कैसे करते हैं इसके उत्तर में कहा गया है कि इन तीनों परस्पर विरोधी गुणों का प्रयोजन तो एक ही है। अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए एक दूसरे का सहचारी बनकर ही अपने लक्ष्य तक पहुँचने की बाध्यता है। सांख्यकारिका में एकरूपक द्वारा इसे समझाया गया है। जैसे तेल, बत्ती और दीप का स्वभाव भिन्न–भिन्न होते हुए भी तीनों मिलकर ही प्रकाश उत्पन्न करने में सक्षम हो पाते हैं, इसी तरह इन तीनों गुणों के स्वभाव भी यद्यपि परस्पर विरोधी है, पर संसार के सभी पदार्थों को उत्पन्न करने का प्रयोजन या उद्देश्य समान है। अतः विरोधी स्वभाव के होते हुए भी ये मिलकर काम करते हैं।[452] इन तीनों का कार्य सम्पादन समान महत्त्व का है। किसी एक के अभाव में सृष्टिकार्य का सम्पादन असम्भव हैं।

2.3 योगदर्शन

योगदर्शन का हमारे जीवन में अत्यन्त प्रभाव है। मन की चिकित्सा के लिए योग दर्शन का आश्रय लिया जाता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम , धारणा , ध्यान , समाधि इन अष्टाङ्गों का इस दर्शन में विशेष रूप से विवेचन किया गया है। भारतीय षड्दर्शनों में योगदर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके प्रणेता पतञ्जलि मुनि हैं। योग शब्द संस्कृत के युज धातु से बना है। पाणिनि के धातु पाठ में इसे तीन जगह प्रयुक्त किया गया है–1.युज समाधौ[453], 2–युजिर् योग[454], 3–युज संयमने।[455] इन तीन धातुओं से योग शब्द के तीन अर्थ सामने आते हैं–पहले युज् धातु का अर्थ समाधि से है अर्थात योग का अर्थ समाधि हुआ। दूसरे प्रयोग में युज धातु का अर्थ जोड़ने से है, यहां योग का अर्थ जोड़ना हुआ। तीसरे और अंतिम प्रयोग में युज धातु का अर्थ संयम से है जिसके अनुसार योग का अर्थ संयम हुआ। लगभग सभी शास्त्रों में योग का अर्थ इन्हीं तीन सन्दर्भों में किया जाता है । चित्तवृत्तियों का निरोध करना ही योग है।[456] यहाँ चित्त का अर्थ है अन्तःकरण। बुद्धि, अहंकार और मन इनसे मिलकर चित्त का निर्माण होता है। जब चित्त इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य विषयों के सम्पर्क में आता है, वह विषय का आकार ग्रहण कर लेता है। इस आकार को वृत्ति कहते हैं। पुरुष चैतन्य के प्रकाश से यह चित्तवृत्ति प्रकाशित होती है। प्रकृति, पुरुष के स्वरुप के साथ ईश्वर के अस्तित्व को मिलाकर मनुष्य जीवन की

---

[452] प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः।।सां०का०13
[453] धातुसंख्या,1177,पृ० 404
[454] धातुसंख्या–1445, पृ० 413
[455] धातुसंख्या,1807, पृ० 422
[456] योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।।यो०सू०1.2

आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक उन्नति के लिये दर्शन का एक बड़ा व्यावहारिक और मनोवैज्ञानिक रुप योगदर्शन में प्रस्तुत किया गया है। इसका प्रारम्भ पतञ्जलि मुनि के योगसूत्रों से होता है। योगसूत्रों की सर्वोत्तम व्याख्या व्यास मुनि द्वारा लिखित व्यासभाष्य में प्राप्त होती है। इसमें बताया गया है कि किस प्रकार मनुष्य अपने मन (चित) की वृत्तियों पर नियन्त्रण रखकर जीवन में सफल हो सकता है और अपने अन्तिम लक्ष्य निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। तत्त्व साक्षात्कार या आत्म साक्षात्कार के लिए योग साधना की आवश्यकता और महत्ता प्रायः सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं।

2.3.1 कालिदासीय कृतियों में योगदर्शन के सन्दर्भ

2.3.2 कालिदासानुसार चित्तवृत्तिनिरोध के उपाय

महाकवि कालिदास भी योगदर्शन से प्रभावित हुए विना नहीं रहे, इसका प्रमाण हमें उन्हीं के ग्रन्थों का परिशीलन करने पर प्राप्त होता है। कालिदास का मानना है कि इन्द्रियाँ इतनी बलवान् हैं कि इनको विषयभोगों से अलग करना बड़ा कठिन होता है।[457] इन्हीं के कारण संसार के पदार्थों को देखकर राग आदि से रहित मुनियों का चित्त भी वशीभूत हो जाता है।[458] कवि इन इन्द्रियों के भोगों में आसक्त चित्त को वश में करने का उपाय अभ्यास को बताते हैं। उनका कहना है कि योगी लोग अभ्यास से ही अपने मन को वश में करके फिर हृदय में विराजमान ज्योतिर्मयतत्त्व को ढूढ़ते हैं।[459] कठोपनिषद् में कहा गया है कि कोई धीर पुरुष ही आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है।[460] योगदर्शन मे चित्तवृत्तियों को रोकने के दो उपाय बताए गए हैं, अभ्यास और वैराग्य ।[461]

2.3.2.1 अभ्यास का स्वरूप

चित्त की स्थिरता के लिए जो प्रयत्न किया जाता है उसे ही अभ्यास कहते हैं।[462] इस चञ्चल चित्त की स्थिरता के लिए यम, नियम आदि योगाङ्गों का अनुष्ठान करना ही अभ्यास कहलाता है। अभ्यास तब ही दृढ़ होता है जब दीर्घकाल तक प्रयास किया जाए तथा उसमें निरन्तरता भी बनी रहे।[463] व्युत्थान के संस्कार मनुष्य को बहिर्मुख करते हैं

---

[457] स्वादुभिस्तु विषयैर्हृतसतो दुःखमिन्द्रियगणो निवार्यते ।।र०वं० 19.49

[458] चित्तं मुनेरपि हरन्ति निवृत्तरागम् ।।ऋ०सं० 6.25, पृ०368
मदजनितविलासैर्दृष्टिपातैर्मुनीन्द्रान्स्तनभरनतनार्यः कामयन्ति प्रशान्तान् ।। ऋ०सं० 6.32, पृ० 369

[459] अभ्यासनिगृहीतेन मनसा हृदयाश्रयम् ।
ज्योतिर्मयं विचिन्वन्ति योगिनस्त्वां विमुक्तये।।र०वं०10.23

[460] पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।कठो० 2.1.1

[461] अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।।यो०सू०1.12

[462] तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।।यो०सू०1.13

[463] स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसंस्कारासेवितो दृढ़भूमिः।।यो०सू०1.14

और अभ्यास अन्तर्मुख करता है। अभ्यास तब ही दृढ़ होता है जब दीर्घकाल तक सेवन किया जाए। नहीं तो किया हुआ अभ्यास भी कुछ काल में नष्ट हो जाता है, और इस पर भी निरन्तरता बनी रहे। निरन्तरता तोड़ने से विक्षेप बने ही रहते हैं। दीर्घकालिक अभ्यास, निरन्तरता और सत्कारसेवित (तप, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धा के साथ सेवन) जब ये तीनों मिलते हैं तब ही अभ्यास दृढ़भूमि वाला होता है। फिर उसको व्युत्थान के संस्कार नहीं दबा सकते।

2.3.2.2 वैराग्य का स्वरूप

दृष्ट और आनुश्रविक विषयों में जिसकी तृष्णा नहीं रहती, उसका वैराग्य वशीकारसंज्ञक अपर वैराग्य कहलाता है।[464] विषय दो प्रकार के हैं दृष्ट और आनुश्रविक। दृष्ट वे हैं जो इसी लोक में सभी जीवों के लिए हैं जैसे–रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, माला, फूल, चन्दन, अन्नपानादि। आनुश्रविक विषय वे हैं जिनको हम वेदादि शास्त्रों की माध्यम से जानते हैं स्वर्गादि की प्राप्ति। इस प्रकार दृष्ट और श्रुत विषयों में आसक्ति का अभाव होना अपर वैराग्य कहलाता है। कवि ने लिखा है कि सच्चे धीर वैरागी उन्हें ही समझना चाहिए। जिनका मन विकार उत्पन्न करने वाली वस्तुओं के बीच में रहकर भी विकृत नहीं होता। कवि कालिदास कहते हैं ऐसे वैरागी भगवान् शिव है जो विकारहेतु के उपस्थित होने पर भी अपने स्वरूप में स्थित हैं।[465] चित्त की ऐसी अवस्था ही वशीकार संज्ञा वैराग्य है। इसी को अपर वैराग्य कहा गया है। पहले साधक दृष्ट आनुश्रविक विषयों में दोष देखकर उन से विरक्त होता है, तब उसका चित्त विषयों में नहीं भटकता, फिर एकाग्र हो जाता है ,यही सम्प्रज्ञात समाधि है, वह इस अवस्था में चित्त और आत्मा के भेद को साक्षात् करता है। यही सत्वपुरुषान्यताख्याति है, इस ख्याति में पुरुष का जैसे–जैसे अभ्यास बढ़ता है, वैसे–वैसे आत्मा की शुद्धि उत्तमोतम प्रतीत होती है, वह इस में तृप्त हुआ सारे गुणों से विरक्त होता है। वह एक बार इस विवेक ख्याति को भी परे हटाकर अपने स्वरूप में स्थिति चाहता है। यही पर वैराग्य है। इस के उदय होने पर पुरुष चाहता है कि मैने जो पाना था वह पा लिया है। जो क्लेश काटने थे वे काट दिए हैं अब संसार का वह संक्रम टूट गया है जिसके टूटे विना मनुष्य जन्म लेकर मरता है और मर कर पुनः जन्म लेता है। यह ज्ञान की पराकाष्ठा ही परवैराग्य है। इसी का ही अवश्यम्भावि फल कैवल्य

---

[464] दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।। यो०सू० 1.15

[465] प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने ।
विकारहेतो सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।।कु०स०1.59

मुक्ति है।[466] बार बार जन्म लेना बार बार मरना यही दुःख का कारण है। जब तक यह जन्म मृत्यु का चक्र नहीं टूटता तब तक इस भवाटवी में भ्रमण करना ही पड़ेगा। इसीलिए महाकवि कालिदास परवैराग्य की ही कामना करते हुए कहते हैं कि हे नीललोहित! अब मेरे इस भवाटवी के भ्रमण को आप रोक दीजिए।[467]

2.3.2.3 श्रीमद्भगवद्गीता में अभ्यास और वैराग्य

श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से यही प्रश्न करते है कि हे कृष्ण! ये मन बड़ा ही चञ्चल बलवान् है, इसको वश में करना उसी प्रकार कठिन है जैसे कोई वायु को वश में नहीं कर सकता है।[468] इस प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा मन को वश में करना कठिन है, किन्तु अभ्यास और वैराग्य ये दो साधन ऐसे हैं जिनसे यह वश में हो जाता है।[469] जिस ने अपने मन को वश में नहीं किया है ऐसे साधक को योग प्राप्त ही नहीं हो सकता।[470] यदि चित्त मुझ में स्थिर करने में समर्थ न हो तो अभ्यासयोग का आश्रय ग्रहण करो।[471] अभ्यास और वैराग्यपूर्वक चित्तवृत्ति का निरोध करना ही यथार्थ मोक्षप्रापक योग है। चित्तवृत्ति–निरोध का अर्थ है सम्प्रज्ञात(मन में एक ही ज्ञान को उदित रखकर अन्य सभी ज्ञानों का निरोध। अथवा असम्प्रज्ञात(सभी व्यवहारिकज्ञानों का निरोध)। अभ्यास का अर्थ है बारम्बार चेष्टा करना, अत एव बारम्बार चेष्टा वा इच्छापूर्वका जो चित्तवृतिनिरोध है वही योग कहलाता है।

2.3.2.4 चित्तवृत्तियाँ

योगदर्शन में अभ्यास और वैराग्य से जिन चित्तवृत्तियाँ को रोकने के लिए कहा गया है वे क्लिष्ट(राग, द्वेष आदि क्लेशों की हेतु) और अक्लिष्ट (राग द्वेष आदि क्लेशों का नाश करने वाली) भेद से पाँच प्रकार की हैं प्रमाण,विपर्यय,विकल्प,निद्रा,स्मृति।[472] ये वृत्तियाँ जब राग, द्वेष आदि क्लेशों को उत्पन्न करती हैं, तब ये क्लिष्ट होती हैं। जब मनुष्य किसी वस्तु को जानकर उस से सुख उठाता है तो इसमें उसका राग हो जाता है जब दुःख उठाता है तो द्वेष होता है। इस राग द्वेष के अधीन होकर उनको प्राप्त करने और हटाने के लिए शुभ अशुभ कर्म करता रहता है। इस प्रकार क्लिष्ट वृत्तियों से वह बन्धन में

---

[466] तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणावैतृष्ण्यम्।।यो०सू 1.16
[467] ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः।।अ०शा०7.35
[468] चञ्चलं हि मनः कृष्णः प्रमाथिबलवद्दृढ़म् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायुरिव सुदुष्करम् ।। गी० 6.34
[469] असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।। गी० 6.35
[470] असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मति ।। गी० 6.36
[471] अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।।गी०12.9
[472] प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।।यो०सू०1.6

पढ़ता है। अक्लिष्ट वृत्तियों वे हैं जो क्लेशों का नाश करने वाली हैं। जब पुरुष अभ्यास और वैराग्य से अन्तर्मुख होता है। तब ये वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। यद्यपि क्लिष्टवृत्तियों के संस्कार बड़े गहरे जमे होते हैं, तथापि जिस समय शास्त्र, अनुमान और आचार्यों के उपदेश से अभ्यास और वैराग्य उत्पन्न हो जाते हैं। उस समय अक्लिष्ट वृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, और फिर इनके भी संस्कार जम जाते हैं। वत्तियों का यह स्वभाव है कि वे अपने सदृश संस्कारों को उत्पन्न करती हैं, क्लिष्ट वृत्तियाँ क्लिष्ट संस्कारों को और अक्लिष्ट वृत्तियाँ अक्लिष्ट संस्कारों को। तदनन्तर उन संस्कारों से वैसे ही वृत्तियाँ आगे उत्पन्न होती हैं। इसलिए इस स्थिति में दोनों वृत्तियों में युद्ध होता है। हर एक वृत्ति दूसरी को दबाकर अपना उदय चाहती है। यदि यहाँ पहुँचकर पुरुष शास्त्र का अभ्यास और वैराग्य का आश्रय ग्रहण करता है तो अक्लिष्ट वृत्तियाँ जीत जाती हैं, वे क्लिष्ट संस्कारों को नष्ट कर देती हैं।

2.3.2.4.1 प्रमाणवृत्ति का स्वरूप

मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं यह अनुमान से जानता हूँ। मैं यह शास्त्र से जानता हूँ, इस प्रकार के ज्ञान का नाम बोध है। यह बोध यदि यथार्थ हो तो प्रमा कहलाता है और अयथार्थ हो तो अप्रमा। जिस वृत्ति से यथार्थ बोध(प्रमा) उत्पन्न होती है, उसका नाम प्रमाण है। योगदर्शन तीन ही प्रमाण स्वीकार करता है प्रत्यक्ष, अनुमान औरा आगम।[473] यह तीन प्रकार की प्रमाण वृत्ति है। इनके अलावा जितने अन्य प्रमाण माने गए हैं उन सबका इन्हीं तीन प्रमाणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

2.3.2.4.1.1 प्रत्यक्षवृत्ति

जब ऑख से किसी पदार्थ को देखते हैं, तो उस समय जो चित्त की वृत्ति(चित्त का आकार) होती है, इसका नाम प्रत्यक्ष प्रमाण है। फिर आत्मा (द्रष्टा) इस वृत्ति को देखता है , और जानता है कि मैं इस पदार्थ को देख रहा हूँ। यही उस प्रमाण का फल है। इसी का नाम प्रत्यक्षबोध या प्रत्यक्षप्रमा है , इसीप्रकार कान से सुनने ,रसना से रस लेने, घ्राण से सूँघने, त्वचा से स्पर्श करने और मन से सुख दुःख के जानने में चित्त की वृत्ति प्रत्यक्षप्रमाण है और पौरुषेय (आत्मा का बोध) प्रत्यक्षप्रमा है। जिन प्रत्यक्ष दर्शनों से संसार के पदार्थों की क्षणभङ्गुरता का निश्चय होकर या सब प्रकार से उनमें दुःख की प्रतीति होकर मनुष्य को सांसारिक पदार्थों से वैराग्य हो जाता है।[474] जो चित्त की वृत्तियों को रोकने में सहायक हैं, जिन से मनुष्य की योग साधन में श्रद्धा और उत्साह बढ़ते हैं, उनसे

---

[473] प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। ।यो०सू०1.7

[474] परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। ।यो०सू०2.15

होने वाली प्रमाणवृत्ति तो अक्लिष्ट है, तथा जिन प्रत्यक्षदर्शनों से मनुष्य को सांसारिक पदार्थ नित्य और सुखरुप लगते हैं, भोगों में आसक्ति हो जाती है, जो वैराग्य के विरोधी भावों को बढ़ाने वाले हैं । उनसे होने वाली प्रमाणवृत्ति क्लिष्ट है।

2.3.2.4.1.2 अनुमानवृत्ति

किसी चिह्न के सहारे जो किसी पदार्थ का अन्वेषण करना अनुमान है। जैसे नदी की बाढ़ और मटियाला पानी देखकर यह अनुमान लगाना कि ऊपर कहीं वृष्टि हुई है। यहाँ भी अनुमान करने में जो चित्त की वृत्ति है, वह अनुमान है और उस से आत्मा में जो बोध होता है वह उसका फलप्रमा है। अनुमान की प्रमा को अनुमिति कहते है और जिस पदार्थ का अनुमान होता है उसे अनुमेय कहते हैं। इन में भी जिन अनुमानों में से मनुष्य को संसार के पदार्थों की अनित्यता, दुःखरूपता आदि दोषों का ज्ञान होकर उन में वैराग्य होता है और योग के साधनों में श्रद्धा बढ़ती है, जो आत्मज्ञान में सहायक हैं, वे सब वृत्तियाँ तो अक्लिष्ट हैं, और उनके विपरीत वृत्तियाँ क्लिष्ट हैं।

2.3.2.4.1.3 आगमवृत्ति

वेदशास्त्र और आप्त (यथार्थ वक्ता) पुरुषों के वचन को "आगम" कहते हैं। जो पदार्थ मनुष्य के अन्तःकरण और इन्द्रियों के प्रत्यक्ष नहीं है, उसके स्वरूप का ज्ञान वेद,शास्त्र और महापुरुषों के वचनों से होता है। वह आगम से होने वाली प्रमाण वृत्ति है। जिस आगम प्रमाण से मनुष्य का भोगों से वैराग्य होता है, और योगसाधना में श्रद्धा उत्साह बढ़ते हैं वह तो अक्लिष्ट हैं।[475] जिस आगमप्रमाण से भोगों में प्रवृत्ति और योगसाधन में अरुचि हो, जैसे स्वर्गलोक के भोगों की बड़ाई सुनकर उन में और उनके साधनरूप सकाम कर्मों में आसक्ति और प्रवृत्ति होती है वह क्लिष्ट है।

2.3.2.4.2 विपर्ययवृत्ति का स्वरूप

विपर्यय मिथ्या ज्ञान जो वस्तु के वास्तविक स्वरूप को प्रकाशित नहीं करता है।[476] सीप को सीप समझना ही यथार्थ ज्ञान है, और यही ज्ञान प्रमाण है। सीप को चाँदी समझना ही मिथ्याज्ञान है यही विपर्यय है। विपर्यय ही अविद्या है यही सारे दुःख का बीज है। अविद्या का नाश विद्या के उदय होने पर ही सम्भव है। सीप को चाँदी तब तक समझता है जब तक उसका यथार्थज्ञान नहीं हो जाता है। तब उसका सीप को चाँदी समझने का मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार जब तक मनुष्य शरीर, इन्द्रिय, मन को आत्मा

---

[475] ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।गी० 5.22

[476] विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।। यो०सू० 1.8

समझता है, तब तक अविद्या है। जब आत्मा को आत्मा समझता है तब यह अविद्या दूर हो जाती है। अविद्या पाँच प्रकार की कही गई है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँचों क्लेश के हेतु हैं।

2.3.2.4.3 विकल्पवृत्ति का स्वरूप

शब्दज्ञान से उत्पन्न होने वाला किन्तु सत्य वस्तुशून्य ज्ञान ही है, विकल्प है।[477] वन्ध्यापुत्रादि वस्तुशून्य होने पर भी शब्दजन्य है।

2.3.2.4.4 निद्रावृत्ति का स्वरूप

निद्रा ज्ञान का अभाव मानी जाती है। ज्ञानाभाव के कारण ही इस वृत्ति को निद्रा वृत्ति कहा जाता है।[478] इसी का दूसरा नाम सुषुप्ति भी है। यह त्रिगुणात्मक है। सात्त्विक निद्रा से जगे हुए पुरुष को स्मृति होती है। कि मैं सुखपूर्वक सोया, मेरा मन प्रसन्न है। राजसी निद्रा से जगे हुए पुरुष को स्मृति होती है कि मैं दुःखपूर्वक सोया। मेरा मन अकर्मण्यता के बोझ से भरा हुआ है। तामसी निद्रा से जगा पुरुष सोचता है कि मैं गहरी निद्रा में सोया, पर मेरा मन भारी–भारी लग रहा है।

2.3.2.4.5 स्मृतिवृत्ति का स्वरूप

अनुभूत विषयों को न भूलना ही स्मृति है।[479] अनुभव कारणरूप और स्मृति कार्यरूप है। अनुभव अज्ञात विषय का ज्ञान है और स्मृति ज्ञात विषय का ज्ञान है। अनुभव के चित्त पर संस्कार पड़ते हैं। उन संस्कारों से फिर स्मृति होती है। स्मृति दो प्रकार की होती है– यथार्थ और अयथार्थ। एक का विषय विद्यमान पदार्थ है और दूसरे का विषय अविद्यमान पदार्थ है। यथा रज्जु–सर्प का अनुभव अनुभवाभास है,उसी प्रकार स्वप्न की स्मृति स्मृत्याभास है। अतः स्मृतिवृत्ति संस्कारजन्य ज्ञान है।

2.3.3 कालिदास की कृतियों में अष्टाङ्गयोग

पाँचों चित्तवृत्तियों(प्रमाण,विपर्यय,विकल्प,निद्रा,स्मृति) का निरोध का उपाय अभ्यास और वैराग्य है। अब अभ्यास हेतु योगदर्शन में योग के आठ अङ्ग बताए गए हैं। योग के आठ अङ्गों का अभ्यास करने से चित्त निर्मल हो जाता है। उस समय साधक के ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति तक हो जाता है अर्थात् उसे आत्मा का स्वरूप बुद्धि, अंहकार और

---

[477] शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।।यो०सू० 1.9
[478] अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ।।यो०सू० 1.10
[479] अनुभूतविषया सम्प्रमोषः स्मृतिः।।यो०सू० 1.11

इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न प्रत्यक्ष दिखलाई देता है।[480] ये आठ अंग हैं यम, नियम, आसन,प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।[481]

2.3.3.1 यम एवं कालिदासीय सन्दर्भ

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार अहिंसा,सत्य, अस्तेय,ब्रह्मचर्य,अपरिग्रह इन पाँचों का नाम यम है।[482] याज्ञवल्क्य स्मृति में ब्रहमचर्य, दया, क्षमा, सत्य, सरलता, अहिंसा, अचौर्य, मधुरता और दम अर्थात् इन्द्रियनिग्रह को यम कहा गया है।[483] कवि ने यम से अपनी इन्द्रियों को जीत लेने वाले योगियों में और प्रजा का पालन करने वाले राजाओं में महाराज दशरथ को सर्वश्रेष्ठ कहा है।[484]

2.3.3.2 नियम एवं कालिदासीय सन्दर्भ

पवित्रता ,सन्तोष ,तप ,स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच नियम हैं।[485] कवि ने रघुवंश में वर्णन किया है कि इन नियमों का पालन करने से योगी को सिद्धि प्राप्त होती है। महर्षि वाल्मीकि जी ने अपने शिष्यों को भेजकर सीता जी को इस प्रकार बुलाया मानों वे नियमों के द्वारा अपनी सिद्धि बुला रहे हों।[486]

2.3.3.3 आसन एवं कालिदासीय सन्दर्भ

सुखपूर्वक स्थिरता से बहुतकाल तक बैठने का नाम आसन है।[487] चित्त को जीतने में लगे हुए साधक को यम, नियम का आचरण करते हुए मन, इन्द्रियों और शरीर को वश में रखकर वासना और संग्रहरहित होकर एकान्त स्थान में चित्त को योगक्रिया में लगाना चाहिए। उसके लिए स्थान कैसा हो? आसन कैसा हो ? गीता में लिखा है शुद्धभूमि में अपने आसन को स्थिर स्थापित करे जो न अत्यन्त ऊँचा, न नीचा हो। उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करके , चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए अन्तःकरण की शुद्धि के लिए योगाभ्यास करे। शरीर ,गर्दन और सिर को सीधा, अचल स्थिर करके दृढ़ होकर बैठ जाए और अपनी नासिका के अग्रभाग को देखकर अन्य

---

[480] योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।।यो०सू 2.28

[481] यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।। यो०सू० 2.29

[482] अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।।यो०सू० 2.30

[483] ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्कता(अकुटिलता)।
अहिंसा स्तेयमाधुर्यं दमश्चेति यमाः स्मृताः।। या०स्मृ० 3.312

[484] पितुरनन्तरमुत्तरकोसलान् समधिगम्य समाधिजितेन्द्रियः।
दशरथः प्रशशास महारथो यमवतामवताञ्च धुरि स्थितः।।र०वं० 9.1

[485] शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।।यो०सू० 2.32

[486] इति प्रतिश्रुते राज्ञा जानकीमाश्रमान्मुनिः।
शिष्यैरानाययामास स्वसिद्धिं नियमैरिव।।र०वं० 15.74

[487] स्थिरसुखमासनम्।।यो०सू० 2.46

दिशाओं को न देखता हुआ स्थिर होकर बैठे।[488] गीता में वर्णित इस योगदर्शन का वर्णन कालिदास करते हैं भगवान् शङ्कर समाधि के समय वीरासन[489] में बैठकर अपने शरीर को सीधा और अचल कर देते हैं और अपने दोनों कन्धे झुकाकर अपनी गोद में कमल के समान दोनों हथेलियों को ऊपर कर बिना हिले–ढुले बैठते हैं।[490] भगवान् शङ्कर भी योग की मुद्रा में नासिका के अग्रभाग में दृष्टि लगाये हुए हैं।[491] योगसार में भी कहा गया है कि साधक को इन्द्रियों की बहिर्मुख प्रवृत्ति को रोककर, स्थाणु के समान निश्चल शरीर बनाकर, नासिका के अग्रभाग में दृष्टि रखकर अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन करना चाहिए।[492]

2.3.3.4 प्राणायाम एवं कालिदासीय सन्दर्भ

आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास और प्रश्वास की गति के अवरोध हो जाने का नाम प्राणायाम है।[493] भगवान् शङ्कर प्राणायाम के द्वारा शरीर में विचरने वाली वायु को रोकने के बाद से ऐसे अचल लग रहे हैं जैसे वायु रहित स्थान में कोई दीपक हो।[494] दूसरे उदाहरण में राजा रघु ने अपने योगबल से शरीर के भीतर रहने वाले (प्राण, अपान , समान , उदान , व्यान) इन पाँचों पवनों को अपने वश में कर लिया।[495] यहाँ कवि ने प्राणायाम का दिग्दर्शन कराया है।

2.3.3.5 प्रत्याहार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

अपने–अपने विषयों के सङ्ग से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में अवस्थित हो जाना प्रत्याहार है।[496] चित्त को इन्द्रियों के विषयों से अलग करना ही प्रत्याहार कहलाता है। रघुवंश में राजा दिलीप ने इन्द्रियों के ग्राह्य विषय रूप , रस , गन्ध , स्पर्श

---

[488] शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चौलाजिनकुशोत्तरम् ।।
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ।।
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।गी० 6.11,12,13

[489] एकं पादमथैकस्मिन्विन्यस्योरौ तु संस्थितम् ।
इतरस्मिंस्तथैवोरुं वीरासनमुहाहृतम् ।।कु०स० 3.45 मल्लिनाथ व्याख्या में वर्णित

[490] पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं संनमितोभयांसम् ।
उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात्प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये।।कु०स०3.45

[491] किञ्चित्प्रकाशस्तिमितोग्रतारैर्भ्रूविक्रियायां विरतप्रसङ्गैः।
नेत्रैरविस्पन्दितपक्ष्ममालैर्लक्ष्यीकृतघ्राणमधोमयूखैः।।कु०स० 3.47

[492] करणान्यबहिष्कृत्य स्थाणुवन्निश्चलात्मकः ।
आत्मानं हृदये ध्यायेन्नासाग्रन्यस्तलोचनः।।कु०स० 3.45, मल्लिनाथव्याख्या में योगसार का श्लोक ।

[493] तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।।यो०सू० 2.49

[494] अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम् ।।कु०स० 3.48

[495] अपरः प्रणिधानयोग्यया मरुतः पञ्च शरीरगोचरान् ।। र०वं० 8.19

[496] स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।।यो०सू० 2.54

आदि से अपना चित्त हटा लिया और वानप्रस्थाश्रम में रहने लगे।[497] प्रत्याहार का दूसरा उदाहरण कुमारसम्भवम् में वर्णित भगवान् शिव के स्वरूप में दृष्टिगोचर होता है। सच्चे धीर महात्मा उन्हें ही समझना चाहिए जिनका मन विकार उत्पन्न करने वाली वस्तुओं के बीच में रहकर भी विचलित नहीं होता है।[498] भगवान् शङ्कर योगीश्वर है, सभी विषय भोगों से रहित, आत्माराम है[499] वे माता पार्वती जी के सौन्दर्य पर लुब्ध नही हुए , बल्कि उन्होंने मनोभव काम को ही जला डाला। यही कारण था कि पार्वती जी अपने रूप को कोसने लगी और उन्होंने कठिन तप के द्वारा ही भगवान् शिव को प्राप्त करने का निश्चय किया।[500] प्रत्याहार का दूसरा उदाहरण अभिज्ञान शाकुन्तल में जहाँ समस्त विषयभोग की वस्तुएँ उपलब्ध होने के बाद भी ऋषिलोग तपस्वी जीवन व्यतीत कर रहे हैं। कल्पवृक्ष के वन में उन्हें सभी वस्तुएँ प्राप्त हैं फिर भी वे वायु पीकर जीवन यापन करते हैं। सुनहरे कमल के जल में स्नान धर्मादि विधि को सम्पन्न करते हैं। रत्नों की शिलाओं पर बैठकर ध्यान लगाते हैं। दूसरे लोग जिन वस्तुओं की आकाङ्क्षा करते हैं उन वस्तुओं के बीच बैठकर ये तपस्या करते हैं। क्योंकि इन्होंने अपने इन्द्रियों को विषयभोग से अलग किया हुआ है।[501]

रघुवंश में राजा ब्रह्मिष्ठ ने अपने मन को इन्द्रियाँ आदि के भोगों से हटाकर परब्रह्म में लगा दिया।[502]

2.3.3.6 धारणा एवं कालिदासीय सन्दर्भ

चित्त को किसी एक देश में स्थिर करना ही धारणा है[503], अर्थात् बाहर या शरीर के भीतर कहीं भी चित्त को स्थिर करना। जब प्राणायाम से चित्त धारणा के योग्य बन जाता है तब उसे अपने भीतर नाभिचक्र में, हृदयकमल में, मूर्धा में, नासिका के अग्रभाग में इत्यादि स्थानों में चित्त की वृत्ति को एक जगह स्थिर कर देना ही धारणा कहलाती है। कवि

---

[497] स विषयव्यावृत्तात्मा।।र०व० 3.70, विषयेभ्यो व्यावृत्तात्मा निवृत्तचित्तः स दिलीपः।।मल्लिनाथ व्याख्या

[498] प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरीशोऽनुमेने ।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।।कु०स० 1.59

[499] जितेन्द्रिये शूलिनि पुष्पचापः स्वकार्यसिद्धिं पुनराशशंस।।कु०स० 3.57

[500] इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः।।कु०स० 5.2
अयाचतारण्यनिवासमात्मनः फलोदयान्ताय तपःसमाधये ।। कु०स० 5.6
अथोपयन्तारमलं समाधिना न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत् ।। कु०स० 5.45

[501] प्राणानामनिलेन वृत्तिरुचिता सत्कल्पवृक्षे वने ।
तोये काञ्चनपद्मरेणुकपिशे धर्माभिषेकक्रिया।।
ध्यानं रत्नशिलातलेषु विबुधस्त्रीसन्निधौ संयमः
यत्काङ्क्षन्ति तपोभिरन्यमुनयस्तस्मिंस्तपस्यन्त्यमी।।अ०शा० 7.12

[502] उपस्पृशन्स्पर्शनिवृत्तलौल्यः।। र०वं० 18.31

[503] देशबन्धश्चितस्य धारणा।।यो०सू० 3.1

रघुवंश में वर्णन करते हैं कि राजा रघु कुश के पवित्र आसन पर बैठकर मन को एकाग्र करने हेतु धारणा का आश्रय लेते थे ।[504]

2.3.3.7 ध्यान एवं कालिदासीय सन्दर्भ

जहाँ चित्त को लगाया जाय उसी में वृत्ति का अविरल चलना ध्यान है अर्थात् जिस ध्येय वस्तु में चित्त को लगाया जाय उसी में चित्त का एकाग्र हो जाना[505] या एक ही वृत्ति का निरन्तर उदित होना। उस समय किसी दूसरे प्रकार की वृत्ति का उदित न होना ही ध्यान है। कवि वर्णन करते हैं कि कि अत्रि ऋषि के आश्रम के वृक्षों के तले वेदियों पर तपस्वी लोग वीरासन लगाकर ध्यान में मग्न हैं। वे ध्यान में वैसे ही एकाग्र हैं जैसे हवा न चलने से वृक्ष स्थिर खड़े हो।[506] सप्तर्षि शिव से कहते हैं कि आपके ध्यान से जो आनन्द हमें प्राप्त होता है उसका वर्णन हम आप से क्यों करे क्योकि आप तो सभी देहधारियों की अन्तरात्मा हो[507] ओर अन्तरात्मा होने से कुछ भी आप से छिपा नहीं है।

2.3.3.8 समाधि एवं कालिदासीय सन्दर्भ

ध्यान ही समाधि कहलाता है जब उसमें केवल अर्थ(ध्येयमात्र) भासता है और चित्त का निजस्वरूप शून्य सा हो जाता है। तब वही ध्यान ही समाधि कहलाता है।[508] जब एकाग्रता काल में ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनों भासित होते हैं, तो वह ध्यान कहलाता है, जब ध्यान इतना प्रबल ध्येय में लग जाता है कि ध्येय के अलावा कुछ भी भासित नहीं होता है यद्यपि ध्यान उस समय भी बना रहता है ,क्योंकि यदि ध्यान न हो तो ध्येय कैसे, तथापि वह ध्येय में ऐसा मग्न हो जाता है कि मानों ध्यान का ही अभाव हो गया हो, उस अवस्था में ध्यान समाधि कहलाता है। समाधि की स्थिति में साधक तन्मय हो जाता है । बाहर का संसार मानों उनके लिए नष्ट ही हो जाता है। इस स्थिति का वर्णन कवि ने अभिज्ञानशाकुन्तलम् में कश्यप ऋषि की समाधि के माध्यम से किया है जहाँ वे सूर्य की ओर मुख करके स्थाणु की तरह अचल समाधि में बैठे हैं। उन्हें अपने शरीर की भी सुध नहीं है।[509] कुमारसम्भवम् में जब काम ने शङ्कर की समाधि को भङ्ग करने का प्रयास

---

[504] परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम्।।र०वं० 8.18

[505] तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।।यो०सू० 3.2

[506] वीरासनैर्ध्यानजुषामृषीणाममी समध्यासितवेदिमध्याः ।
निवातनिष्कम्पतया विभान्ति योगाधिरूढ़ा इव शाखिनोऽपि।।र०वं० 13.52

[507] या नः प्रीतिर्विरुपाक्ष ! त्वदनुध्यानसम्भवा ।
सा किमावेद्यते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम्।।कु०स०6.21

[508] तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।।यो०सू० 3.3

[509] वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरसा संदष्टसर्पत्वचा
कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसम्पीडितः।
अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं बिभ्रज्जटामण्डलं
यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः।।अ०शा०7.21

किया तो वह समर्थ नहीं हुआ। तब महाकवि कालिदास कहते हैं कि जिन लोगों का मन वश में है उनकी समाधि को तोड़ने में विघ्न भी समर्थ नहीं होते।[510]

योगद्वारा उस अक्षरतत्त्व का साक्षात्कार ही कवि का दार्शनिक मत है।[511] समाधि में बैठे हुए शङ्कर जी अपनी उस अविनाशी आत्मा की ज्योति को अपने भीतर देखते हैं जिसे ज्ञानी लोग अपनी नवों इन्द्रियों के द्वार रोककर मन को समाधि से वश में करके हृदय नाम के स्थान में रखकर जान पाते हैं।[512] जो सम्पूर्णरूप से स्ववश है, जो शरीर, मन, बुद्धि और प्रकृति से परे स्वयं में स्थित है,ऐसा स्वरूपस्थ पुरुष शब्दादि विषयों को उपलब्ध कराने वाले नौ द्वारों(दो कान, दो नेत्र, दो नासिका छिद्र, एक मुख, उपस्थ एवं पायु) वाले शरीररूपी घर में सब कर्मों को मन से त्यागकर स्वरूपानन्द में ही स्थित रहता है। यथार्थता वह न कुछ करता है और न कराता है।[513] इस संसार में क्षर–क्षय होने वाले, परिवर्तनशील और अक्षर–अक्षय अपरिवर्तनशील ऐसे दो प्रकार के पुरुष हैं। उनमें सम्पूर्ण भूतों और प्राणियों के शरीर तो नाशवान् हैं, यह प्रथम क्षर पुरुष है क्योंकि आज है कल नहीं रहेगें। दूसरा कूटस्थ पुरुष अक्षर अर्थात् अविनाशी कहा जाता है। साधन के द्वारा मन सहित इन्द्रियों का निरोध अर्थात् जिसकी इन्द्रिय समूह कूटस्थ है। वही अक्षर कहलाता है।[514] इन्द्रियाँ ही शत्रु कही गई है संयमी इन इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए तत्वज्ञान का आश्रय लेता है।[515]

शिव अक्षर है आत्मा में ही रमण करने वाले आत्माराम हैं। भगवान् शिव संयमियों में सर्वश्रेष्ठ हैं।[516] सभी को मोहित करने वाला काम भी अलकापुरी में साक्षात् विराजमान त्रिलोचन शिव से भयभीत रहता है।[517] जिसके जीवन में संयम हो उसे संयमी कहा जाता है। कवि ने अभिज्ञान शाकुन्तल में कण्व आदि ऋषियों के लिए संयमधन शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् संयम ही धन जिनका ऐसे कण्व आदि।[518] संयम वस्तुतः है क्या? योग

---

[510] श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन्हरः प्रसंख्यानपरो बभूव ।
आत्मेश्वराणां नहि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति।।कु०स० 3.40

[511] योगात्स चान्तः परमात्मसंज्ञं दृष्ट्वा परं ज्योतिरुपारराम।।कु०स० 3.58

[512] मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम् ।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्।।कु०स० 3.50
अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते।।विक्र०1.1

[513] सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।।गी० 5.13

[514] द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।गी० 15.16

[515] इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी।।र०वं० 4.60

[516] तस्मिन् संयमिनामाद्ये।।कु०स० 6.34
त्रियम्बकं संयमिनं ददर्श।।कु०स० 3.44

[517] मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तं प्रायश्चापं न वहति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम् ।।मे०दू० 2.14

[518] अस्मान् साधु विचिन्त्य संयमधनानुच्चैः कुलं चात्मनः।।अ०शा० 4.17

दर्शन के अनुसार जब धारणा, ध्यान और समाधि तीनों एक विषय में होते हैं अर्थात् जिस विषय में धारणा है उसी में ध्यान और उसी में चित्त की समाधि हो, तो योगशास्त्र में उसे संयम कहते हैं।[519] इन तीनों (धारणा,ध्यान और समाधि) का आचरण जो करता है वही संयमी है। कालिदास ये मानते हैं कि इसी संयम से चित्त निश्चल होता है।[520]

धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन संयम हैं इन पर जब योगी विजय प्राप्त कर लेता है अर्थात् चित्त में ऐसी योग्यता प्राप्त कर लेता है कि जिस विषय में वह संयम करना चाहे उसी में तत्काल संयम हो जाता है। उस समय योगी की बुद्धि में अलौकिक ज्ञानशक्ति आ जाती है।[521] इसी को अध्यात्मप्रसाद[522] और ऋतम्भरा प्रज्ञा[523] के नाम से कहा गया है। योग की जो नीची ऊँची भूमियाँ (अवस्थाएँ) हैं, उनमें से निचली–निचली भूमि को जीतकर अगली–अगली भूमि में संयम करना चाहिए।[524] क्योंकि जो निचली भूमि को अपने अधीन न करके पहले उत्तर भूमि में संयम करता है वह संयम का फलभागी नहीं होता। इसलिए पहले सवितर्क[525] में संयम करके सवितर्क को जीतकर फिर निर्वितर्क[526] में संयम करे, उसे जीतकर सविचार मे और सविचार को जीतकर निर्विचार समाधि में संयम का विनियोग करना चाहिए। उसके जीतने पर प्रज्ञा का प्रकाश पूर्ण हो जाता है, ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला संस्कार दूसरे संस्कारों का बाध करने वाला होता है।[527]

2.3.4 त्रिकालज्ञ योगी एवं कालिदासीय सन्दर्भ

सांख्यदर्शन के अनुसार आभ्यन्तर करण मन, बुद्धि और अहंकार हैं। ये आन्तरिक ज्ञान के साधन हैं। इनके द्वारा त्रिकाल की वस्तुओं का बोध होता है।[528] योगी लोगों को तीनों कालों का ज्ञान होता है इस बात को कवि कालिदास स्वीकार करते हैं, कश्यप ऋषि योगी हैं[529] वे तीनों कालों में घटने वाली घटनाओं को जानने वाले हैं, वे स्वयं

---

[519] त्रयमेकत्र संयमः।।यो०सू० 3.4
[520] संयमस्तिमितं मनः।।कु०स० 2.59
[521] तज्जयात्प्रज्ञालोकः।।यो०सू० 3.5
[522] निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।।यो०सू० 1.47
[523] ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।।यो०सू० 1.48
[524] तस्य भूमिषु विनियोगः।।यो०सू० 3.6
[525] तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः।।यो०सू० 1.42
[526] स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्यमेवार्थनिर्भासा निर्वितर्काः। यो०सू० 1.43
[527] तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी।। यो०सू० 1.50
[528] अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यं त्रयस्य विषयाख्यम् ।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम् ।।सां०का० 33
[529] वल्मीकार्धनिमग्नमूर्तिरुरसा संदष्टसर्पत्वचा
कण्ठे जीर्णलताप्रतानवलयेनात्यर्थसम्पीडितः।
अंसव्यापि शकुन्तनीडनिचितं बिभ्रज्जटामण्डलं
यत्र स्थाणुरिवाचलो मुनिरसावभ्यर्कबिम्बं स्थितः।।अ०शा०7.21

अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त से कहते हैं कि तुम अपने मन से अपराध की बात निकाल लों क्योंकि जब अप्सरातीर्थ से मेनका शकुन्तला को लेकर यहाँ आयी तब ही मैंने ध्यान से जान लिया था। कि दुर्वासा के शाप से ही तुमने शकुन्तला को नहीं स्वीकारा और मैं यह भी जान गया था कि शाप तब तक के लिए ही जब तक तुम अँगूठी न देख लो।[530] रघुवंश में वसिष्ठ ऋषि को त्रिकालज्ञ कहा गया है, क्योंकि वे अपने ज्ञानमय चक्षुओं से तीनों कालों की सभी रहस्यों को जानने वाले हैं।[531]

योगी को तीनों कालों का ज्ञान हो जाता है इस विषय में योगदर्शन का सूत्र है परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्।[532] धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम, अवस्था परिणाम इन तीनों परिणामों में संयम अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि कर लेने से योगी को उनका साक्षात्कार होकर भूत , भविष्य , वर्तमान का ज्ञान हो जाता है। अभिप्राय यह है कि जिस वर्तमान वस्तु के विषय में योगी यह जानना चाहे कि इसका मूलकारण क्या है और यह किस ढ़ंग से बदलती हुई कितने काल से वर्तमान रूप में आयी है और भविष्य में किस प्रकार बदलती हुई कितने काल में किस प्रकार अपने कारण में विलीन होगी? इन सब बातों को योगी तीनों परिणामों में संयम करने से ही जान सकता है।

2.3.4.1 धर्म परिणाम

जब किसी धर्मी में एक धर्म का लय होकर दूसरे धर्म का उदय होता है तो उसे धर्मपरिणाम कहते हैं। जैसे प्रस्तुत सूत्र में व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः।[533] चित्तरूपी धर्म के व्युत्थानसंस्काररूप धर्म का दब जाना और निरोध संस्काररूप धर्म का प्रकट होना बतलाया गया है। यही धर्मों में विद्यमान रहने वाले चित्तरूपी धर्मी का धर्म परिणाम है। इसीप्रकार प्रस्तुत सूत्र में सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।[534] सर्वार्थता अर्थात् सब प्रकार के विषयों का चिन्तन करने की वृत्ति का क्षय हो जाना और एकाग्रतारूप धर्म का उदय बतलाया गया है। यह भी चित्तरूपी धर्मी का धर्म परिणाम है। इसी तरह मिट्टी में पिण्डीरूप धर्म का क्षय और घटरूप धर्म का उदय होना, फिर घटरूप धर्म का क्षय और टूटे हुए घट के टुकड़े रूप

---

[530] वत्स ! अलमात्मापराधशङ्कया यदैवाप्सरस्तीर्थावतरणात्प्रत्यक्षवैक्लव्यां शकुन्तलामादाय मेनका दाक्षायणीमुपगता तदैव ध्यानादवगतोऽस्मि दुर्वाससः शापादियं तपस्विनी सहधर्मचारिणी त्वया प्रत्यादिष्टा नान्यथेति । स चायमङ्गुलीयकदर्शनावसानः ।। अ०शा० 7, पृ० 146

[531] पुरुषस्य पदेष्वजन्मनः समतीतञ्च भवच्च भावि च ।
स हि निष्प्रतिघेन चक्षुषा त्रितयं ज्ञानमयेन पश्यति।। र०वं० 8.78,पृ० 163

[532] यो०सू० 3.16

[533] यो०सू० 3.9

[534] यो०सू० 3.11

धर्म का उदय होना–सब प्रकार के धर्मों में विद्यमान रहने वाले मिट्टीरूप धर्मी का धर्म परिणाम है।

2.3.4.2 लक्षण परिणाम

यह परिणाम भी धर्म परिणाम के साथ–साथ हो जाता है। यह लक्षण परिणाम धर्म में होता है ।वर्तमान धर्म का लुप्त हो जाना उसका अतीत लक्षण परिणाम है। अनागत धर्म का प्रकट होना उसका वर्तमान लक्षण परिणाम है और प्रगट होने से पहले वह अनागत लक्षण वाला रहता है।इन तीनों को धर्म का लक्षण परिणाम कहते हैं। प्रस्तुत सूत्र में सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।[535] चित्त के सर्वार्थता धर्म का क्षय होना बतलाया गया है, वह उसका अतीत लक्षण परिणाम है।उदय होने से पहले वह अनागत लक्षण परिणाम में था।

2.3.4.3 अवस्था परिणाम

जो वर्तमान लक्षण युक्त धर्म में नयापन से पुरानापन आता जाता है। वह प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है और वर्तमान लक्षण को छोड़कर अतीत लक्षण में चला जाता है। यह लक्षण का अवस्था परिणाम है। प्रस्तुत सूत्र में सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।[536]वर्णन के अनुसार जब चित्तरूप धर्मी का वर्तमान लक्षण वाला सर्वार्थतारूप धर्म दबकर अतीत लक्षण को प्राप्त होता है। उस वर्तमानकाल में जो उसके दबने का क्रम है वह उसका अवस्था परिणाम है और जो एकाग्रतारूप धर्म अनागत लक्षण से वर्तमान लक्षण में आता है तब उसका जो उदय होने का क्रम है। वह भी अवस्था परिणाम है। इस प्रकार एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में परिवर्तन होते जाना ही अवस्था परिणाम है। यह अवस्था परिणाम प्रतिक्षण होता रहता है। कोई भी वस्तु क्षणभर भी एक अवस्था में नहीं रहती। बाल्यावस्था से युवावस्था और युवावस्था से बुढ़ापा किसी एक दिन में नहीं हुआ बल्कि हमारी अवस्था का प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। यही अवस्थापरिणाम है। यह परिणाम विचार द्वारा समझ आता है सहसा नहीं। धर्मपरिणाम में तो धर्मी के धर्म का परिवर्तन होता है। लक्षणपरिणाम में पहले धर्म का अतीत हो जाना और नये धर्म का वर्तमान हो जाना इस प्रकार धर्म का लक्षण बदलता है और अवस्था परिणाम मे धर्म के वर्तमान लक्षण से युक्त रहते हुए ही उसकी अवस्था बदलती रहती है। पहले परिणाम की अपेक्षा दूसरा सूक्ष्म है और दूसरे की अपेक्षा तीसरा सूक्ष्म है।

---

[535] यो०सू० 3.11
[536] यो०सू० 3.11

2.3.5 कैवल्य अवस्था एवं कालिदासीय सन्दर्भ

जब ऋतम्भरा प्रज्ञाजनित संस्कार के प्रभाव से अन्य सब प्रकार के संस्कारों का अभाव हो जाता है, उसके बाद उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों में भी आसक्ति न रहने के कारण उनका भी निरोध हो जाता है। उनका निरोध होते ही समस्त संस्कारों का निरोध अपने आप हो जाता है। अतः संस्कार के बीज का सर्वथा अभाव हो जाने से इस अवस्था का नाम निर्बीज समाधि है। इसी को कैवल्य अवस्था भी कहते हैं।[537] इधर बुद्धि अत्यन्त निर्मल होकर अपने कारण में विलीन होने लगती है और उधर पुरुष का जो बुद्धि के साथ अज्ञानकृत सम्बन्ध है उसका और तज्जनित मल, विक्षेप, आवरण का अभाव होने से पुरुष भी निर्मल हो जाता है। इस प्रकार जब दोनों की समभाव से शुद्धि हो जाती है तब कैवल्य होता है। जिनका पुरुष के लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहा ऐसे गुणों का अपने कारण में विलीन हो जाना कैवल्य है अथवा चितिशक्ति (द्रष्टा का) अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है।[538] गुणों का कैवल्य अर्थात् पुरुष से अलग हो जाना और उन गुणों के साथ पुरुष का जो अनादि सिद्ध अविद्याकृत संयोग था उसका अभाव हो जाने पर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना यह पुरुष का कैवल्य अर्थात् प्रकृति से सर्वथा अलग हो जाना है।[539] कवि कालिदास को योग की क्षमता में अप्रतिम विश्वास था। अनेक राजाओं को योग द्वारा मुक्ति प्राप्त कराने की बात उन्होंने कही है।[540] कवि रघु के विषय में वर्णन करते हैं राजा रघु ने तब तक योगक्रिया नहीं छोड़ी जब तक उन्हें परमात्मा का दर्शन नहीं हो गया।[541] यहाँ कवि ने स्थितधीर शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है जब मनुष्य मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग देता है , तब वह आत्मा से आत्मा में ही सन्तुष्ट हुआ स्थिरबुद्धि वाला कहा जाता है। कामनाओं का त्याग करने पर ही आत्मा का दिग्दर्शन होता है। ऐसा आत्माराम, आत्मतृप्त महापुरुष ही स्थितधीर या स्थिरप्रज्ञ है।[542] दैहिक, दैविक तथा भौतिक दुःखों में जिसका मन उद्विग्न नहीं होता। सुख की प्राप्ति में जो निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो

---

[537] तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजःसमाधिः।। यो०सू०1.51,
सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वञ्च।। यो०सू० 3.49,
सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति। यो०सू० 3.56

[538] पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यस्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तिरिति।।यो०सू० 4.34

[539] तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ।।यो०सू० 2.25

[540] योगेनान्ते तनुत्यजाम् ।। र०वं० 1.8, देहत्यागेन योगवित् ।।र०वं०15.95
महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा ।
तस्मात्सयोगादधिगम्य योगमजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः।। र०वं० 18.33,

[541] न च योगविधेर्नवेतरः स्थिरधीरा परमात्मदर्शनात् ।।र०वं० 8.22

[542] प्रजाहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।गी० 2.55

गये हैं। मननशीलता की चरम सीमा तक पहुँचा साधक ही स्थितधीर कहा जाता है।[543] जिसकी कहीं भी आसक्ति नहीं है तथा जो कुछ भी शुभाशुभ प्राप्त हो रहा है उसमें हर्षित नहीं होता है और ना ही दुःखी होता है।[544] ऐसा ममतारहित साधक संसार सागर को हनुमान जी के समान अनायास ही पार कर लेता है।[545] स्थितधीर राजा रघु समदर्शी[546] थे, सभी प्राणियों में उनकी समान दृष्टि थी, गीता का जो समदर्शी सिद्धान्त है कि संसार के सभी प्राणी पशु, पक्षी आदि के प्रति समान दृष्टि रखनी चाहिए।[547] वह इनके जीवन में था। केनोपनिषद् भी कहता है कि सभी प्राणियों में उस एक तत्त्व का दर्शन करने वाले धैर्यशील साधक अमर हो जाते हैं। किन्तु जो इस मानव शरीर को प्राप्त कर उस परब्रह्म का दर्शन सभी प्राणियों में नहीं करता। वह तो विनाश को ही प्राप्त होता है।[548] रामचरितमानस में तुलसीदास इसी बात को कहते हैं कि यह समस्त जगत् सीयराममय है। इसलिए मैं दोनों हाथों से प्रणाम करता हूँ।[549] ईशावास्योपनिषद् कहता है अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़ चेतनस्वरूप जगत् है वह ईश्वर से व्याप्त है।[550] रघु ने योगसमाधि के द्वारा उसी अविनाशी तत्त्व को प्राप्त किया।[551] जो धीर पुरुष आत्मतत्त्व का दर्शन करने वाले हैं उन्हें शाश्वती शान्ति प्राप्त होती है।[552]

गीता में स्थितप्रज्ञ के जो गुण वर्णन किये गये हैं वे सभी गुण भगवान् श्रीराम में विराजमान थे। महाकवि श्रीराम के लिए स्थिरधी शब्द का प्रयोग करते हैं।[553]

सांख्य और योग के विषय में निरुक्तकार कहते हैं जन्म मरण के इस बन्धन से मुक्ति के लिए व्यक्ति को सांख्य और योग का अभ्यास करना चाहिए।[554]

---

[543] दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।गी० 2.56

[544] यः सर्वत्रानभिस्नेहः तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।गी० 2.57

[545] मारुतिः सागरं तीर्णः संसारमिवनिर्ममः।।र०वं० 12.60, पृ० 116

[546] समदर्शनः समाः।।र०वं० 8.24

[547] विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।गी० 5.18

[548] इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ।। के०उ०2.5

[549] सीयराम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।।रा०च०

[550] ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।। ईशा० 1.1

[551] अथ काश्चिदजव्यपेक्षया गमयित्वा समदर्शनः समाः।
तमसः परमापदव्ययम् पुरुषम् योगसमाधिना रघुः।।र०वं० 8.24

[552] तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।।कठो० 5.12

[553] उदक्प्रथस्थे स्थिरधीः सानुजोऽग्निपुरःसरः।
अन्वितः पतिवात्सल्यात् गृहवर्जमयोध्यया।।र०वं 15.98

[554] मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः ।
नाना योनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै।।
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः।

2.4 वेदान्तदर्शन

भारतीय दर्शन में वेदान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेदान्त शब्द का अर्थ है वेदानाम् अन्त इति वेदान्तः वेदों के अन्तिम भाग अर्थात् उपनिषद् ही वेदान्त है, इनमें प्रतिपादित सिद्धान्त दर्शन सब वेदान्त शब्द वाच्य है।[555] वेद शब्द से संहिता ग्रन्थ, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक एवं उपनिषदग्रन्थों को लिया जाता है। इन सभी में उपनिषदों की रचना सबसे अन्त में होने के कारण उपनिषद्ग्रन्थों को वेदान्त कहा गया है। आचार्य बादरायण विरचित ब्रह्मसूत्र इसका आधारग्रन्थ है। इसी का दूसरा नाम वेदान्तसूत्र भी है। इस दर्शन के प्रमुख आधार उपनिषद् ग्रन्थ रहे हैं, क्योंकि उन्हीं के वाक्यों को पद–पद पर उद्धृत किया गया है। ब्रह्म, जीव, जगत् और माया इस दर्शन के प्रमुख विवेच्य हैं। ब्रह्मसूत्र पर लिखा गया आचार्य शङ्कर का शारीरिकभाष्य इस दर्शन का अद्भुत ग्रन्थ माना गया है। इसमें ब्रह्मसूत्रों की अद्वैतवादी व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस भाष्य पर अनेक विद्वानों आचार्यों द्वारा अनेक टीकाएँ एवं व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। इस भाष्य का इसी से अत्यन्त महत्त्व द्योतित होता है। वाचस्पति की भामती टीका इसमें विशेष उल्लेखनीय है। इस दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ श्री हर्ष का खण्डनखण्डखाद्य, चित्सुखाचार्य की तत्त्वदीपिका, विद्यारण्य की पञ्चदशी, विवरणप्रमेय संग्रह, जीवनमुक्तिविवेक, मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि, अप्पयदीक्षित का सिद्धान्त लेशसंग्रह ,सदानन्दविरचित वेदान्तसार इत्यादि। वेदान्तसार को सरलतम होने के कारण सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। इस दर्शन के अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत एवं शुद्धाद्वैत आदि सम्प्रदाय भी है। ये सभी वैष्णव वेदान्त के नाम से जाने जाते है। प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रसिद्ध उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र सभी वेदान्त सम्प्रदायों के प्रमुख आधारग्रन्थ है। ब्रह्म एवं जीव का ऐक्य प्रतिपादन करना इस दर्शन का मुख्य उद्देश्य रहा है।

2.4.1 ब्रह्म का तटस्थ लक्षण एवं कालिदासीय सन्दर्भ

किसी भी वस्तु को जानने के लिए उसका लक्षण जानना अनिवार्य होता है और वह लक्षण तटस्थ और स्वरूप भेद से दो प्रकार का होता है। तटस्थ लक्षण के द्वारा वस्तु के अस्थायी परिवर्तनशील गुणों का वर्णन किया जाता है।[556] स्वरूपलक्षण के द्वारा वस्तु के

मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ।।
अवाङ्मुखः पीड्यमानो जन्तुश्चौव समन्वितः।
साङ्ख्यं योगं समभ्यस्येत् पुरुषं वा पञ्चविंशकम् ।। निरुक्त14.6

[555] वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणम्।। वे०सा०,पृ० 116

[556] यावल्लक्ष्यकालमनवस्थितत्वेन स्वरूपानन्तर्गतं सत् यल्लक्ष्य इतरव्यावृत्तिं बोधयति तत्तटस्थलक्षणं यथा गोविशेषस्यालंकारविशेषादिः, देवदत्तगृहस्थकाकादिः। जगज्जन्मादिकारणत्वं तु तटस्थलक्षणं न हि सर्वदास्ति

शुद्ध तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान होता है।[557] जिससे इस जगत् की उत्पत्ति ,पालन और संहार ये तीनों कार्य सम्पन्न होते हैं। किन्तु इन तीनों ही कार्यों का प्रलय काल में ब्रह्म में अभाव है । ब्रह्मसूत्र में यह ब्रह्म का तटस्थलक्षण कहा गया है।[558] तैत्तिरीयोपनिषद् भी इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहता हैं कि जिस से सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसकी सत्ता से जीवित रहते हैं और जिसमें लीन हो जाते हैं। वही ब्रह्म है।[559] कालिदास इस तैत्तिरीयोपनिषद् के भाव को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि जड़चेतनमय समस्त जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है, इसी में स्थित और जीवित रहता है और इसी में विलीन हो जाता है।[560] जैसे मकड़ी अपने शरीर से ही जाल का निर्माण करती है, फिर उसमें खेलती है और बाद में स्वयं ही उसे निगल भी जाती है उसी प्रकार ब्रह्म स्वयं जगत् को बनाता है इसका पालन करता है और बाद में संहार भी कर देता है।[561] कवि कहते है जब वह ईश्वर सोता है तब संसार का प्रलय होता है और जब वह जागता है, तब वह संसार की सृष्टि करता है ।[562] यहाँ कवि ने स्वकालपरिमाणेन के द्वारा यह बताया है कि जब चारों युग एकहजार बार बीत जाते हैं तब ब्रह्मा का एक दिन होता है। इतने ही समय की उनकी रात्रि होती है। इसको दैनन्दिन प्रलय कहा जाता है और इस प्रकार जब उनके सौ वर्ष पूर्ण हो जाते हैं तब जो प्रलय होती है उसे महाप्रलय कहा जाता है। मनु भी कहते है जब वह ब्रह्म जागता है तब संसार चेष्टा करता है, जब वह शान्तात्मा सोता है , तब सब कुछ नष्ट हो जाता है।[563] परमात्मा अपने स्वरूप को स्वयं ही जानते हैं और अपने आप अपने को उत्पन्न करते हैं और जब अपना कार्य पूरा कर देते हैं तो अपने को

प्रलयादिकाले तदभावात् । अतः स्वरूपानन्तर्गतं सदाकाशादिव्यावृत्तमीश्वरं लक्षयतीति तटस्थलक्षणम्।।भा०पु०1.1,श्रीधरस्वामिव्याख्यायाम्

[557] यत्स्वरूपान्तर्गतं सदितरव्यावृत्ततया लक्ष्यं बोधयति तत्स्वरूपलक्षणं यथा गोः सास्नाशृङ्गादि। प्रकृते सत्यं ज्ञानमानन्दश्च परमेश्वरस्वरूपमेव सत् असज्जडदुःखप्रपञ्चव्यावृत्ततया बोधयतीति स्वरूपलक्षणं सम्पद्यते ।। भा०पु०1.1, श्रीधरस्वामिव्याख्यायाम्

[558] जन्माद्यस्य यतः।। ब्र०सू०1.1.2

[559] यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।। तैत्ति० 3.1.1

[560] मान्यः स मे स्थावरजङ्गमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः।।र०वं० 2.44
नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते।
अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधास्थितात्मने।। र०वं० 10.16
तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन् ।
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः।।कु०स० 2.6

[561] यथोर्णनाभिः सृजते गृह्यते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि ,तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्।। मु० 1.7

[562] स्वकालपरिमाणेन व्यस्तरात्रिंदिवस्य ते ।
यौ तु स्वप्नावबोधौ तौ भूतानां प्रलयौदयौ।।कु०स०2.8

[563] यदा स देवो जागर्ति तदिदं चेष्टते जगत् ।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति।।मनु०1.52

अपने में ही लीन कर देते हैं।[564] वेदान्तसार में इस उदाहरण को इस प्रकार समझाया गया है। जिस प्रकार एक मकड़ी अपने जालनिर्माण रूप कार्य के प्रति अपने शरीर के चैतन्य की प्रधानता के कारण निमित्तकारण है तथा अपने शरीर से निकलने वाले जाल की प्रधानता की दृष्टि से उपादान कारण भी होती है। ठीक उसीप्रकार अज्ञान से उपहित आत्मा अपने चैतन्य की प्रधानता होने से दृश्यमान सांसारिक प्रपञ्च का निमित्तकारण तथा अज्ञान की प्रधानता के समय उपादान कारण होता है।[565] मिट्टी से बनी हुई वस्तु वस्तुतः मिट्टी ही है, घट इत्यादि टूटने के बाद भी वह मिट्टी ही है, इसलिए मिट्टी ही सत्य है उसी प्रकार जगत् ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण ब्रह्म ही सत्य है।[566] इसीलिए ब्रह्म को इस जगत का अभिन्ननिमितोपादान कारण कहा गया है। जबकि लोक में देखा जाता है कि उपादान कारण मिट्टी आदि वस्तुएँ और निमित्तकारण कुम्भकार ये दोनों ही अलग–अलग हैं, किन्तु ब्रह्म स्वयं इस जगत् को बनाने वाले एवं जगत् के रूप बनने वाले हैं। गीता में कृष्ण कहते हैं, मैं इस संसार का मूल कारण हूँ और मुझ से ही सारा संसार प्रवृत्त हो रहा है ।[567] माण्डूक्योपनिषद् भी इसी मत को पुष्ट करता है, प्राणियों की उत्पत्ति और लय में अन्तर्याम , सर्वज्ञ ईश्वर ही कारण है।[568] इसी वेदान्त के सिद्धान्त को महाकवि कालिदास कुमारसम्भव में प्रस्तुत करते हैं।[569]

2.4.2 ब्रह्म का स्वरूपलक्षण एवं कालिदासीय सन्दर्भ

ब्रह्म परम सत्य ,विशुद्ध ज्ञान, अनन्त ,अखण्ड आनन्द ,सत्, चित्, आनन्द, शान्त, शिव है।[570] कवि कालिदास का यह मानना है कि हम उस वेदान्तवेद्य ब्रह्म को वाणी और मन से नहीं जान सकते। क्योंकि वह वाणी और मन का विषय नहीं है। इसीलिए उन्होनें

---

[564] आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना ।
आत्मना कृतिनाच त्वमात्मन्येव प्रलीयसे।।कु०स० 2.10

[565] शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चौतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानञ्च भवति । यथा लूता तन्तूकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानञ्च भवति ।। वे०सा०, अनु० 11

[566] 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् (वाचैव केवलमस्तीत्यारभ्यते वाचारम्भणम् । न तु वस्तुवृत्तेन विकारो नाम कश्चनास्ति।नामधेयमात्रमेतदनृतम्। मृत्तेकेत्येव सत्यम्।अत्र
दृष्टान्तो मृत्तिका, दार्ष्टान्तिकं ब्रह्म) छा० 6.1.1

[567] अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।।गी०10.8

[568] एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।।माण्डू० 6

[569] नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक्सृष्टेः केवलात्मने ।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे।।
यदमोघमपामन्तरुप्तं बीजमज! त्वया।
अतश्चराचरं विश्वं प्रभवस्तस्य गीयसे।।
तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन् ।
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः।।कु०स०2.4–6

[570] सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।तैत्ति० 2.1, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। बृहदा० 3.9.28, परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते । स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च । श्वेताश्वेतरोपनिषद् 6.8

स्पष्ट रूप से ब्रह्म के लिए अवाङ्मनसगोचर शब्द का प्रयोग किया है।[571] कुमारसम्भव में भी कवि ने त्रिनेत्र शंकर जी के रूप को मन से भी परे कहा है।[572] तैत्तिरीयोपनिषद् भी कहता है कि उस ब्रह्म को प्राप्त न कर वाणी मन के साथ लौट आती है।[573] यह आत्मतत्त्व ज्ञानेन्द्रियों के प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं हैं। यहाँ तक कि सर्वत्र गतिवाला मन भी उस तक पहुँचने में समर्थ नहीं है। और यदि कोई साधक योग आदि क्रियाओं के द्वारा जान भी लेता है तो उसकी वाणी उसका कथन करने में समर्थ नहीं है। इसीलिए उसे गुँगे का गुँड़ कहा जाता है। जिस प्रकार गुँगा व्यक्ति गुड़ के स्वाद को कहने में असमर्थ रहता है, वह उसका केवल अनुभव कर सकता है। ठीक उसी प्रकार उस परब्रह्म का दर्शन करने वाला साधक उसका वर्णन करने में असमर्थ रहता है, वह उसका केवल अनुभव कर सकता है। इसी भाव को केनोपनिषद् भी कहती है ब्रह्म अविज्ञेय हैं वाणी, मन आदि से परे है ।[574] बृहदारण्यकोपनिषद् में नेति नेति कहकर उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है ।[575] कवि कालिदास का कथन है कि ब्रह्म सर्वज्ञ है[576] और वह सभी प्राणियों के हृदयगत भावों को जानने वाला है।[577] माता पार्वती ब्रह्मचारी शिव को उलाहना देते हुए कहती हैं जब आप घट–घट में रहने वाले हो तो मेरे हृदय की बात क्यों नहीं जानते।[578] अर्थात् आप अवश्य ही मेरे मनोगत भावों को जानते होंगे। मुण्डकोपनिषद् कहता है परमात्मा सर्वज्ञ है वह सब कुछ जानने वाला।[579] श्रीमद्भागवत महापुराण के प्रथम श्लोक में हमें ब्रह्म का तटस्थलक्षण और स्वरूप लक्षण दोनों का ही दिग्दर्शन होता है।[580]

2.4.3 जीव का स्वरूप एवं कालिदासीय सन्दर्भ

---

[571] स्तुत्यमवाङ्मनसगोचरम् ।। र०व० 10.15
[572] स्मरस्तथाभूतमयुग्मनेत्रम् पश्यन्नदूरान्मनसाप्यधृष्यम् ।।र०वं० 3.51
[573] यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।। तै०उ० 2.4.1
[574] न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनः।
न विद्मो न जानीमो यथैतदनुशिष्यात्।। केनो० 3
[575] स एष नेति नेत्यात्मा।।बृहदा० 3.9.26
[576] सर्वज्ञस्त्वमविज्ञातः सर्वयोनिस्त्वमात्मभूः।।र०वं० 10.20
[577] अन्तर्गतां प्राणभृतां हि वेद।।र०वं० 2.43
सा किमावद्यते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम्।।कु०स०6.21
[578] यदा बुधैः सर्वगतस्त्वमुच्यसे न वेत्सि भावस्थमिमं कथञ्जनम् ।
इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः।।कु०स० 5.58
[579] यः सर्वज्ञः सर्वविद्।।मु०1.1.9
[580] जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत्सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि।। श्रीमद्भा०1.1.1

रघुवंश के प्रथमसर्ग में सूर्यवंशीय राजाओं के विशुद्धचरित्र वर्णन के अवसर पर कवि कालिदास "सोऽहमस्मि" इस उपनिषदीय आत्मविज्ञान के रहस्य को प्रकट करते हैं।

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणात् ।
आसमुद्रक्षितीशानामनाकरथवर्त्मनाम् ।।[581]

कवि का अभिप्राय रघुवंशीय राजाओं का चरित्र जन्म से लेकर अन्त तक पवित्र था, उनका यह स्वभाव था कि वे किसी काम को पूर्ण करके ही रुकते थे। यहाँ वस्तुतः कवि अपनी काव्यकुशलता से आत्मा के विशुद्धस्वरूप सच्चिदानन्दस्वरूप को प्रतिपादित करना चाहता है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है आत्मा पाप, जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा, पिपासा से रहित, सत्यकाम, सत्यसंकल्प है, उसकी खोज और उसी को जानने की इच्छा करनी चाहिए।[582] उपनिषदों में इसी आत्मतत्त्व का विवेचन अहं पदार्थ के रूप में किया गया है । इस अद्वितीय आत्मा का कालिदास स्पष्ट अनुभव करते हैं। ईशावास्योपनिषद् में भी "सोऽहमिति" यह अद्वैतभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। साधक यह ध्यान करता है कि आदित्यमण्डल में स्थित प्रकाशस्वरूप जो पुरुष है वह मैं ही हूँ।[583] सवितृमण्डल में स्थित परब्रह्म से अहं पदार्थ भिन्न नहीं है। यह अद्वैत भावना इस रहस्यमय मन्त्र से स्पष्ट होती है। पुरुष का रूप परमकल्याण स्वरूप है, जीव इस रूप को देखता हुआ इसमें एक होकर दुःखरूपी संसार सागर से मुक्त हो जाता है। अज्ञानकल्पित कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि अनात्मभाव का परित्याग करके अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित होना ही मुक्ति है।[584] सोऽहमाजन्मशुद्धानाम् इस रघुवंश के श्लोक से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ईशावास्योपनिषद् का रहस्य यहाँ प्रतिफलित होता है। जैसे सूर्य तेजोमय है वैसे उसके अन्तर्मण्डल में विराजमान पुरुष भी परमप्रकाशमय है। उसी प्रकार सूर्यवंश में उत्पन्न राजालोग भी जन्म से विशुद्धचरित्र वाले एवं दिव्य तेज युक्त हैं , यहाँ उपमान उपमेय की अखण्डता को कवि ने प्रदर्शित किया है। इस प्रकार के विशुद्धचरित्र सम्पन्न राजाओं के स्वभाव वर्णन के व्याज से उन्होंने उपनिषद के ही सिद्धान्त को प्रकट किया है।[585]

2.4.4 वेदान्त दर्शन में अध्यारोप–अपवाद एवं कालिदासीय सन्दर्भ

---

[581] र०वं० 1.5

[582] य आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति।।छा० 8.7.1

[583] पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह तेजः।
यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।।ईशा०16

[584] मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः।।श्रीमद्भा० 2.10.6

[585] संस्कृतविमर्शः, संपा. कमलाकान्त मिश्र, प्रभातरंजन महापात्र–'रघुवंशे औपनिषदिसद्धान्तस्य प्रतिफलनम्, राष्ट्रियसंस्कृतसस्थानम्, नवदेहली, अङ्क 23–24 वर्ष 1995–96

2.4.4.1 अध्यारोप

वस्तु में अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप है।[586] जैसे सर्प की सता से रहित रस्सी में सर्प की प्रतीति होना। जैसे मार्ग में यदि कोई व्यक्ति अन्धकार आदि के कारण रस्सी को सर्प समझ बैठे तो वह भयभीत हो जाता है बाद में जब वह प्रकाश की सहायता से ध्यान से देखता है तो समझ जाता है कि यह सर्प नहीं अपितु रस्सी है। ठीक इसीप्रकार ब्रह्म सच्चिरानन्दस्वरूप अनन्त तथा अद्वैत आदि विशेषताओं से सम्पन्न एकमात्र ब्रह्म ही वस्तु है। जो काल एवं स्थान की सीमाओं से परे है नित्य है। फिर भी स्वयं प्रकाश, अनन्त ब्रह्मरूप इस वस्तु में अज्ञान अथवा माया के कारण दृश्यमान सम्पूर्ण चराचर जगत् रूप अवस्तु भासित होती रहती है।[587] वेदान्त के अनुसार ब्रह्मरूप वास्तविक वस्तु में अज्ञान के कारण चराचर जगत् की प्रतीति होना अध्यारोप है।

2.4.4.2 अपवाद

रस्सी में भ्रान्ति वश प्रतीत होने वाले सर्प की पुनः रस्सी रूप में प्रतीति होना ही अपवाद है। उसी प्रकार सत्यवस्तु ब्रह्म में प्रपञ्च की प्रतीति वस्तुतः मिथ्या है। ज्ञान आदि द्वारा इस मिथ्याप्रतीति को दूर करके तुरीयचैतन्य ब्रहम की तात्त्विक प्रतीति होना ही अपवाद है।[588]

कवि कालिदास वेदान्त दर्शन से अत्यन्त प्रभावित हैं वे अध्यारोप और अपवादसिद्धान्त का विवेचन अभिज्ञान शाकुन्तल में करते हैं दुष्यन्त शकुन्तला से कहता है कि तुम अपने मन से इस बात को दूर कर दो कि मैंने कभी तुम्हारा निरादर किया है, उस समय मेरे मन में अज्ञान का ऐसा अंधेरा छा गया कि मैं तुम्हें उसीप्रकार नहीं पहचान पाया जैसे कोई अन्धा व्यक्ति अपने गले में पड़ी माला को साँप समझकर झटके से फेंक देता है।[589] यहाँ माला को सर्प समझना अध्यारोप है और उस माला को माला ही समझना अपवाद है। दुष्यन्त शापरूपी अज्ञान अन्धकार के कारण जो शकुन्तला को नहीं पहचान पाया और उसमें अन्य की स्त्री का आरोप[590] लगाया वही यहाँ अध्यारोप है और बाद में अंगूठीरूपी ज्ञानप्रकाश से अपनी पत्नी शकुन्तला को उसने पहचान लिया यही अपवाद है। इसलिए कवि

---

[586] असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः।।वे०सा०,अज्ञाननिरूपण, पृ०149

[587] वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म । अज्ञानादिसकलजडसमूहोऽवस्तु । वे०सा०,अज्ञाननिरूपण ,149

[588] अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्ववद्वस्तुविवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेःप्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्।।वे०स०,अपवादनिरूपण , पृ०225

[589] सुतनु हृदयात्प्रत्यादेशव्यलीकमपैतु ते किमपि मनसः सम्मोहो मे तदा बलवानभूत् ।
प्रबलतमसामेवंप्रायाः शुभेषु हि वृत्तयः स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धुनोत्यहिशङ्कया।। अ०शा० 7.24, पृ०142

[590] भोस्तपोधनाः चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्याः स्मरामि । तत्कथामिमाम् अभिव्यक्तसत्त्वलक्षणां प्रत्यात्मानं क्षेत्रिणमाशङ्कमानः प्रतिपत्स्ये ।।अ०शा०5 पृ०89

कहते हैं दर्पण पर धूल जमी होने से उस पर छाया साफ नहीं दिखाई देती। किन्तु जब धूल हटा दी जाती है तो दर्पण पर छाया बड़ी सरलता से साफ दिखाई देने लगती है। वैसे ही शाप के कारण स्मृति धुँधली पड़ जाने से ही दुष्यन्त शकुन्तला को नहीं पहचान पाये बाद में शाप छूट जाने से उन्होंने शकुन्तला को भलीभाँति पहचान लिया।[591]

ऋतुसंहार में कवि ने मृगतृष्णा का वर्णन किया है प्रचण्ड सूर्य की किरणों से झुलसे हुए जंगली पशुओं की जीभ प्यास से बहुत सूख गई है वे धोखे में उन जंगलों की ओर दौड़ जा रहे हैं जहाँ नीले आकाश को ही वे पानी समझ बैठते हैं।[592] यहाँ वस्तु आकाश में अवस्तु जल का आरोप होने से अध्यारोप है।

अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त कहता है कि पहले मैंने साक्षात् शकुन्तला का निरादर किया अब चित्र में बनी शकुन्तला को बहुत मान रहा हूँ यह तो ऐसे ही है जैसे कोई व्यक्ति जल से भरी नदी को छोड़कर मृगतृष्णा की ओर दौड़ता है।[593] कवि ने मृगतृष्णिका शब्द का प्रयोग किया है। मृगतृष्णिका अर्थात् मृग को बालु में सूर्य की किरण पड़ने के कारण जल नजर आता है, किन्तु वहाँ वस्तुतःजल होता ही नहीं। मृग जल समझकर भागता–भागता मर जाता है किन्तु उसे जल नहीं मिलता। यहाँ वस्तु बालु में अवस्तु जल का आरोप होने से अध्यारोप है। उसी प्रकार हम अपने स्वस्वरूप के आनन्द को छोड़कर बाहर मृगतृष्णा की तरह आनन्द ढूँढ़ रहे हैं। किन्तु बाहर आनन्द हमें नहीं मिल सकता। इस संसार में प्रत्येक जीव आनन्द की खोज करता है किन्तु अपने पूर्ण जीवन में मृगतृष्णा के समान सर्वदा उस आनन्द से वञ्चित रहता है।

2.4.5 कालिदास का मायावाद सम्बन्धी विश्लेषण

वेदान्त के मायावाद का प्रभाव रघुवंश में परिलक्षित होता है, माया, प्रकृति, अविद्या, अज्ञान इत्यादि नामों से जानी जाती है। माया का स्वरूप अनिर्वचनीय है। यह सत् और असत् से भिन्न होने के कारण ही अनिर्वचनीय है।[594] क्योंकि यदि ये माया सत् होती है तो इसका कभी भी बाध नहीं होता ।[595] ब्रह्मविषयक ज्ञान के बाद इसकी निवृत्ति हो जाती है

---

[591] शापादसि प्रतिहता स्मृतिरोधपक्षे भर्तयपेततमसि प्रभुता तवैव ।
छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा।। अ०शा० 7.32, पृ०147

[592] मृगाः प्रचण्डातप–तापिता भृशं तृषा महत्या परिशुष्क–तालवः।
वनान्तरे तोयम् इति प्रधाविताः निरीक्ष्य भिन्नाञ्जन–सन्निभं नभः।।ऋ०सं० 1.11,पृ०348

[593] साक्षात्प्रियामुपगतामपहाय पूर्वं चित्रार्पितां पुनरिमां बहुमन्यमानः ।
स्रोतोवहां पथिनिकामजलामतीत्य जातः सखे प्रणयवान्मृगतृष्णिकायाम्।।अ०शा०6,पृ०115
किं वा शकुन्तलेत्यस्य मातुराख्या। सन्ति पुनर्नामधेयसादृश्यानि । अपि नाम मृगतृष्णिकेव नाममात्रप्रस्तावो मे विषादाय कल्पते ।।अ०शा० 7,पृ०138

[594] अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं ज्ञानविरोधि भावरूपं यत्किञ्चिदिति।। वे०सा०,अनु०6 पृ०149

[595] नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।।गी०2.16

इसलिए इसे सत् नहीं कह सकते है। इसकी प्रतीति होती है इसलिए इसे असत् भी नहीं कह सकते। वस्तुत दृश्यमान जगत् मायाकल्पित है। वेदान्त दर्शन के अनुसार परमार्थकाल में इसकी सत्त्ता नहीं स्वीकार की जाती है। अतः माया कल्पित पदार्थों की प्रतीति मात्र होती है वस्तुतः उनकी सत्ता ही नहीं है। इस संसार में जो कुछ भी दिखाई दे रहा है सब माया कल्पित है। जब जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है तो मायाकल्पित संसार वैसे ही नष्ट हो जाता है। जैसे जगने पर स्वप्न का संसार नष्ट हो जाता है। जीव अपने ब्रह्म स्वरूप में स्थित हो जाता है, यही वेदान्त में माया का मौलिक रहस्य है। कवि ने अभिज्ञानशाकुन्तल में माया शब्द का प्रयोग किया है।[596] आवरण और विक्षेप नामक अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं। जिस प्रकार छोटा सा बादल का टुकड़ा भी दर्शन के दृष्टिपथ को ढ़ककर अनेक योजन तक फैले हुए सूर्यमण्डल को आच्छादित सा कर देता है। उसीप्रकार सीमित अज्ञान भी असीम और असांसारिक आत्मा को देखने वाले की बुद्धि को आच्छादित करके मानो ढ़क लेता है। जिस प्रकार अत्यन्त मूर्ख व्यक्ति बादल से ढ़के हुए सूर्य को प्रकाशरहित मानता है। उसीप्रकार मूढ़ सामान्य दृष्टि वाला भी आत्मा को जन्ममरणादि बन्धनो से बँधा हुआ मानता है। किन्तु वस्तुतः आत्मा नित्य, अनन्त , असीम , ज्ञानस्वरूप है और वह मैं हूँ।[597] इसी आवरणशक्ति द्वारा आच्छादित आत्मा की कर्तृत्व , भोक्तृत्व , सांसारिक सुख दुःख, मोहात्मकता विषयक तुच्छभावना भी अपने अज्ञान से आच्छादित रस्सी में सर्पत्व की सम्भावना के समान आरोपित होती है। जिस प्रकार रस्सी विषयक अज्ञान अपनी शक्ति द्वारा आवृत्त रस्सी में सर्प आदि की उद्भावना करता है। उसीप्रकार आत्मविषयक अज्ञान भी अपनी विक्षेप शक्ति द्वारा आवृत आत्मा में सूक्ष्मशरीर से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त आकाश आदि प्रपञ्च को प्रकट कर देता है। इसीलिए कहा गया है विक्षेपशक्ति ही सूक्ष्मशरीर आदि सृष्टि से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त संसार का सृजन करती है।[598]

कवि कालिदास ने रघुवंश के द्वितीयसर्ग में वेदान्त के इस मायावाद के रहस्य को प्रकट किया है। जब पुत्र की कामना वाले राजा दिलीप गुरु की आज्ञा से नन्दिनी को वन में चराने के लिए ले जाते हैं। तब नन्दिनी राजा दिलीप की परीक्षा के लिए अपनी माया से क्रूर सिंह को प्रकट करती है। तब अपने कर्त्तव्य से विचलित न होता हुआ राजा दिलीप माया कल्पित सिंह के समक्ष धर्म, नीति से युक्त विचारों को प्रकट करता हुआ अन्त में

---

[596] स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु क्लिष्टं नु तावत्फलमेव पुण्यम्।।अ०शा० 6.10,पृ० 111

[597] घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढः ।
तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टेः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा।। वे०सा०, शक्तित्रय निरूपण , पृ०173

[598] विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत् ।।वे०सा०, शक्तित्रयनिरूपण , पृ० 176

अपना स्थूल शरीर भी सिंह को समर्पित करने के लिए उद्यत होता है। दिलीप के इस प्रकार एकनिष्ठ त्यागभाव को देखकर नन्दिनी प्रसन्न हो गई, माया सिंह को हटाकर राजा दिलीप से कहा–तं विस्मितं धेनुरुवाच साधो मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि।

ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः।।[599]

इस श्लोक में दिलीप परमेश्वर का अंशभूत, अन्तःकरण से अवच्छिन्न जीव है। नन्दिनी साक्षात् अनावृत चैतन्यरूप साक्षी है। सिंह मायाकल्पित संसार सदृश है। जैसा यह संसार दुःखशोकपूर्ण महाभयंकर दिखाई देता है उसी प्रकार सिंह भी शोककष्ट को देन वाला और भयंकर है। आत्मज्ञाननिष्ठ दिलीपरूपी जीव सिंहरूपी महाभंयकर संसार को देखकर के भी उससे भयभीत नहीं होता। अभयं हि वै ब्रह्म[600] बृहदारण्यकोपनिषद् की यह श्रुति ब्रह्म की भयशून्यता को दर्शाती है। ब्रह्मनिष्ठ पुरुष सर्वदा भयशून्य होता है। यहाँ कालिदास ने आत्मज्ञान का प्राधान्य एवं मायाशक्ति की नश्वरता को प्रदर्शित किया है। रघुवंश में सीता जी श्रीराम के माया रूपी शिर को देखकर मूर्च्छित हो जाती है। तब त्रिजटा के समझाने पर उन्हें चेतना आती है।[601] वस्तुतः यहाँ कवि ने संसारी जीवों की दशा का ही विवेचन किया है इस संसार में जीव माया के स्वरूप को न पहचानने के कारण ही सुख दुःख के चक्र में ही बन्ध जाता है। त्रिजटा सदृश सन्मार्गपथ प्रदर्शक के प्राप्त होने पर ही माया का जाल नष्ट होता है और जीव अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित हो जाता है और उसका मायाजनित संसार नष्ट हो जाता है, मायाजनित संसार के नष्ट होते ही तज्जन्य सुख दुःखादि भी नष्ट हो जाते हैं। यहाँ कवि ने वेदान्तदर्शन के सिद्धान्त को ही प्रकट किया है।

2.4.6 ईश्वर के अवतार का प्रयोजन एवं कालिदासीय सन्दर्भ

कवि कालिदास अवतारवादी कवि है, वे यह मानते हैं कि ईश्वर अजन्मा ,पूर्णकाम होकर के भी लोकानुग्रह के लिए एवम् धर्म का संरक्षण करने के लिए ही जन्म ग्रहण करते हैं।[602] यहाँ कवि ने ईश्वर के जन्म ग्रहण का हेतु लोकानुग्रह एवम् धर्म का संरक्षण

---

[599] र०वं० 2.62

[600] बृहदा० 4.4.25

[601] अथ रामशिरश्छेददर्शनोद्भ्रान्तचेतनाम् ।
सीतां मायेति शंसन्ती त्रिजटा समजीवयत्।।
कामं जीवति मे नाथ इति सा विजहौ शुचम् ।
प्राङ्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीवितास्मीति लज्जिता।।र०वं० 12.74,75 पृ० 117

[602] अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः।। र०वं० 10.24
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः।। र०वं० 10.31
धर्मसंरक्षणार्थैव प्रवृत्तिर्भुवि शार्ङ्गिणः।।र०वं० 15.4

कहकर गीता के सिद्धान्त को ही प्रस्तुत किया है। गीता कहती है जब जब धर्म की हानि होती है और अधर्म पाप बढ़ने लगता है। सज्जनों को पीड़ा पहुँचायी जाती है तब तब अधर्मियों, पापियों का नाश करने के लिए और फिर से धर्म की स्थापना करने के लिए ईश्वर अजन्मा होकर भी जन्मग्रहण करते हैं।[603] कालिदास ने श्रीराम के लिए कारणमानुषीं शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् जो किसी कारण वश ही मनुष्य शरीर को धारण करते हैं।[604]

कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि मुझे तीनों लोकों में कोई भी वस्तु अप्राप्त नहीं हैं फिर भी मैं कर्म करता हूँ। श्रेष्ठ पुरुष जो–जो आचरण करता है, अन्य लोग भी वैसा–वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य समुदाय उसी के अनुसार बरतने लग जाता।[605] कालिदास भी लिखते हैं कि ईश्वर को कोई भी वस्तु अप्राप्त नहीं हैं,किन्तु उनके जन्म लेकर कर्म करने का प्रमुख कारण लोक पर अनुग्रह करना ही है।[606] कवि लिखते हैं जैसे एक स्वाद वाला वर्षा का जल अलग–अलग देशों में बरसकर अलग–अलग स्वाद वाला हो जाता है। वैसे ही परमात्मा सब विकारों से दूर होता हुआ भी सत्व, रज और तम इन तीन गुणों को लेकर बहुत से रूप धारण कर लेता है।[607]

वे श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार मानते हैं और इसीलिए मेघदूत में लिखते हैं कि भले ही कृष्ण ने गोपवेश धारण किया हो किन्तु उनका वास्तविक स्वरूप तो विष्णु ही है।[608] रघुवंश में कवि ने कृष्णविषयक सुन्दर रूपक दिया है श्रीकृष्णरूपी मेघ रावण रूपी सुखे से पीडित देवतारूपी धान्य को अपनी वाणी रूपी वर्षा से सींच कर अन्तर्हित हो गया।[609]

2.4.7 वेदोक्त धर्म एवं कालिदासीय सन्दर्भ

---

[603] यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।गी० 7–8

[604] हित्वा तनुं कारणमानुषीं तां यथा गुरुस्ते परमात्ममूर्तिर्म्।।र०वं० 16.22,पृ० 152

[605] न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ।।गी० 3.22
यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।। गी० 3.21

[606] अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किञ्चन विद्यते ।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः।।र०वं० 10.31

[607] रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते ।
देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः।।र०वं ० 10.17

[608] येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापस्यते ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः।।मे०दू० 1.15

[609] रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः।
अभिवृष्य मरुतसस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे।।र०वं०10.48

वेदोक्त धर्म दो प्रकार का है, प्रवृत्तिधर्म और निवृत्तिधर्म।[610] प्रवृत्तिधर्म का आश्रय भोग का हेतु और निवृत्तिधर्म का आश्रय मोक्ष का हेतु है। कालिदास ये मानते हैं कि संसार में सबसे बड़े हमारे शत्रु कोई और नहीं बल्कि हमारी ये इन्द्रियाँ ही हैं। क्योंकि इन्हीं इन्द्रियों के भोगों के कारण ही व्यक्ति कुमार्ग की ओर चल पड़ता है। इसलिए कवि कहते हैं कि जीव को संयमी बनकर तत्त्वज्ञान के द्वारा इन इन्द्रियाँ रूपी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।[611] कवि कहते हैं संसार के विषयों की तो बात ही क्या यहाँ तक स्वर्ग के विषयभोग भी विनाशशील हैं। अतः इन विषयभोगों से निःस्पृह होकर तत्त्वज्ञान के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।[612] कठोपनिषद् इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा और ब्रह्म की चर्चा करता है।[613] सभी उपनिषद् निवृत्ति धर्म का ही उपदेश देते हैं। यह निःश्रेयस की ओर ले जाने वाला है। मोक्षावस्था में जीव सभीप्रकार के विषयज्ञान से रहित केवल आत्मदर्शन में ही मग्न रहता है।[614] मोक्ष अनश्वर ,उदय अस्त से शून्य है इसे प्राप्त करके फिर जीव जन्म मृत्यु के संसार बन्धन में पुनः लोटकर नहीं आता है।[615] रघुवंश में उत्पन्न राजा लोग अपने जीवनकाल में धर्म पूर्वक राजकार्य, प्रजापालन को सम्पन्न करके वानप्रस्थाश्रम में आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते थे।[616] परमात्मदर्शन के लाभ पर्यन्त निरन्तर प्रयत्नशील स्थितधी रघुवंशीय राजा वानप्रस्थाश्रम का आश्रय लेकर आत्मानुभव के लिए योगविधि का आश्रय लेते थे। आत्मज्ञान से ही परमशान्ति प्राप्त हो सकती है इस वेदान्त के सिद्धान्त को कवि ने प्रकट किया है।[617] कठोपनिषद् में कहा गया है जो आत्मतत्त्व का दर्शन करते हैं उन्हें ही शाश्वती शान्ति प्राप्त होती है।[618]

2.5 न्यायदर्शन

न्याय दर्शन भारत के छः वैदिक दर्शनों में एक दर्शन है। इसके प्रवर्तक ऋषि अक्षपाद गौतम हैं जिनका न्यायसूत्र इस दर्शन का सबसे प्राचीन एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ है। जिन साधनों से हमें ज्ञेय तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उन्हीं साधनों को 'न्याय' की संज्ञा दी गई है। कहा भी है कि नीयते विवक्षितार्थः अनेन इति न्यायः। इसमें कुल पाँच अध्याय हैं। तर्क

---

[610] प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च द्विविधं कर्म वैदिकम्।।मनु०12.88

[611] इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी।। र०वं० 4.60
एनो निवृत्तेन्द्रियवृत्तिरेनं जगाद भूयो जगदेकनाथः।।र०वं० 5.23

[612] विषयेषु विनाशधर्मसु त्रिदिवस्थेष्वपि निःस्पृहोऽभवत्।। र०वं० 8.10

[613] इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः। पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ।। कठो० 1.3, 10–11

[614] मोक्षे निर्विषयं स्मृतः।। मै०उ० 3.6.30

[615] न च पुनरावर्त्तते।। छा० 8.15.1

[616] अनपायिपदोपलब्धये रघुराप्तैः समियाय योगिभिः ।। र०वं० 8.17
तमसः परमापदव्ययं पुरुषं योगसमाधिना रघुः।। र०वं० 8.24

[617] न च योगविधेर्नवेतरः स्थितधीरापरमात्मदर्शनात्।। र०वं० 8.22

[618] तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।। कठो० 5.12

करना, प्रमाण के साधन, प्रमेय और साध्य–साधन का विवरण इनमें लिखे हैं। न्यायशास्त्र निश्चित रूप से एक वस्तुवादी है। वस्तु की सत्ता प्रमाण से ही सिद्ध होती है इसका साधन न्याय शास्त्र ही है। न्याय शास्त्र का दूसरा नाम आन्वीक्षिकी भी है। धर्मशास्त्र एवं इन्द्रिय–सन्निकर्षजन्य उपलब्ध ज्ञान की सामग्रियों का तार्किक विवेचन या परीक्षण का प्राचीन नाम ही आन्वीक्षिकी विद्या है।[619] वाचस्पति मिश्र ने न्यायशास्त्र का उद्देश्य ज्ञान के विषयों की तार्किकबुद्धि से आलोचना और अन्वेषण करना बतलाया है।[620] प्राचीन काल में वात्स्यायन मुनि ने, मध्यकाल में वाचस्पति मिश्र और आधुनिक काल में उदयवीर शास्त्री ने इनपर भाष्य (टिप्पणी) लिखें हैं। गौतम ऋषि के नाम का उल्लेख कवि कालिदास ने रघुवंश में अहिल्या के उद्धार के प्रसङ्ग में किया है।[621] कवि कालिदास की कृतियों का अध्ययन करने से उनका शास्त्रीय पाण्डित्य का हमें दर्शन होता है । उनके दर्शन शास्त्रीय ज्ञान में विविध दर्शन समाये हुए है। वे स्पष्ट कहते हैं मार्ग भले ही अलग–अलग हो किन्तु जैसे गंगा की सभी धाराएँ समुद्र की ओर ही जाती है उसी प्रकार परमानन्द पाने के जितने मार्ग बताए गए हैं वे अलग–अलग शास्त्रों में अलग–अलग रूप से बताए जाने पर भी सब उस एक ईश्वर में ही पहुँचते हैं।[622]

कालिदास की कृतियों में न्यायवैशेषिक दर्शन के सिद्धान्तों के अवगमन हेतु शोधार्थी को प्रो०सी. एस. राधाकृष्णन की अंग्रेजी भाषा में लिखी गई पुस्तक सहायक हुई है।

2.5.1 कालिदासीय कृतियों में न्याय –वैशेषिक दर्शन के सन्दर्भ

प्रत्येक दर्शन का अपना–अपना सिद्धान्त होता है। न्याय और वैशेषिक दोनों ही दर्शन ईश्वर को इस जगत का कर्त्ता मानते हैं। उनका कहना है कि जैसे घड़े को बनाने वाला कुम्हार है उसी प्रकार इस जगत् को बनाने वाला ईश्वर है। जैसे घटादि कार्य कर्तृजन्य ही है उसी प्रकार यह जगत् भी कर्तृजन्य है। हम लोगों में सामर्थ्य नहीं कि हम इस संसार को बना सके इसलिए इस जगत् का कर्त्ता ईश्वर ही है। इस संसाररूपी वृक्ष का बीज अर्थात् निमित्तकारण परमात्मा ही है। न्यायाचार्य विश्वनाथ ने न्यायसिद्धान्तमुक्तावली के मङ्गल श्लोक में संसार के निमित्तकारण परमात्मा का स्मरण किया है।[623] कवि कालिदास कहते हैं इस जगत की उत्पत्ति , पालन और संहार का हेतुः

---

[619] प्रत्यक्षागमाभ्याम् आक्षिप्तस्य अन्वीक्षा तया वर्त्तत इत्यान्वीक्षिकी।।न्या०भा० 1.1.1

[620] प्रमाणैरर्थपरीक्षणम् ।।न्या०भा० 1.1.1

[621] प्रत्यपद्यत चिराय यत्पुनश्चारु गौतमवधूः शिलामयी।
स्वं वपुः स किल किल्विषच्छिदं रामपादरजसामनुग्रहः।।र०वं०13.34

[622] बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ।।र०वं० 10.26

[623] नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय।
तस्मै कृष्णाय नमरू संसारमहीरुहस्य बीजाय।।न्या०मु० 1

ईश्वर है।[624] वही सभी को उत्पन्न करता है पर उसे उत्पन्न करने वाला कोई नहीं है। इसीलिए उसके लिए कवि ने जगद्योनि शब्द का प्रयोग किया है।[625] स्वयं सूक्ष्म स्वरूपवाले होकर आप इस स्थूलरूप संसार के कारण हो।[626] मीमांसादर्शन वेद को अपौरुषेय मानता है। जबकि न्यायदर्शन वेद को ईश्वरकर्तृक मानता है। कवि ने ईश्वर के लिए ब्रह्मयोनि शब्द का प्रयोग किया है।[627] जिसकी व्याख्या में मल्लिनाथ कहते हैं जो वेद का कारण है या ब्रह्मा का कारण वह ईश्वर ही ब्रह्मयोनि शब्द वाच्य है।[628]

2.5.2 न्याय वैशेषिक में जलतत्त्व एवं कालिदासीय सन्दर्भ

जल का अपना स्वभाव तो शीतल होता है किन्तु आग की गर्मी पाकर ही वह गर्म होता है।[629] तर्कसंग्रह में अन्नम्भट्ट ने जल को शीत स्पर्श वाला कहा है।[630] वैशेषिक सूत्र में जल का लक्षण किया गया है रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः।[631] इस सूत्र में जल में पाँच गुणों का उल्लेख हुआ है–रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व और स्नेह। इनमें स्नेह जल का विशेष गुण है, स्नेह वह गुण है जिसके कारण चूना, मिट्टी, सीमेन्ट आदि बिखरी हुई वस्तु पिण्डीभूत हो जाती है। चूर्ण आदि में जल मिलाने पर ऐसा होता है। इसलिए स्नेह गुण जलवृत्ति है। जल में अभास्वर स्वच्छ शुक्ल रूप रहता है। रसगुण केवल मधुर तथा स्पर्शशीत है। न्यायसिद्धान्तमुक्तावली में जल का लक्षण है जल का वर्ण शुक्ल, रस मधुर , शीत स्पर्श, द्रवत्व और स्नेह यह जल का सांसिद्धिक गुण कहा गया है।[632]

2.5.3 तेज तत्त्व और कालिदासीय सन्दर्भ

वैशेषिक दर्शन में विवेचित नव द्रव्यों में ही तेजतत्त्व है। नवद्रव्य–पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।[633] कवि कालिदास ने तेज तत्त्व का विवेचन किया है, नारद जी के वचनों को सुनकर हिमालय ने अपनी पुत्री का विवाह भगवान् शिव के साथ करने का दृढ़ निश्चय किया। क्योंकि मन्त्र से संस्कृत हवि को अग्नि ही ग्रहण करता है, अपर तेज सुवर्णादि नहीं धारण कर सकते।[634] मल्लिनाथ व्याख्या में लिखते हैं

---

[624] प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणताङ्गतः।। कु०स० 2.6
[625] जगद्योनिरयोनिस्त्वं जगदन्तो निरन्तकः।।कु०स० 2.9
[626] अव्यक्तो व्यक्तकारणम्।।र०वं० 10.18
[627] यस्य चेतसि वर्तेथाः स तावत्कृतिनां वरः ।
किं पुनर्ब्रह्मयोनेर्यस्तव चेतसि वर्तते।।कु०स० 6.18
[628] ब्रह्मणो वेदस्य वेधसो वा योनेः कारणम्।।कु०स० 6.18
[629] स चानुनीतः प्रणतेन पश्चान्मया महर्षिर्मृदुतामगच्छत् ।
उष्णत्वमग्न्यातपसम्प्रयोगाच्छैत्यं हि यत्सा प्रकृतिर्जलस्य।।र०वं० 5.54
[630] शीतस्पर्शवत्य आपः।।त०सं० ,द्रव्यलक्षणप्रकरण , पृ० 34
[631] वैशे० 2.1.2
[632] वर्णः शुक्लो रस–स्पर्शौ जले मधुर–शीतलौ।
स्नेहस्तत्र द्रवत्वं तु सांसिद्धिकमुदाहृतम् ।। न्या०मु० ,का० 39
[633] पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाश कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि।। वैशे०द० 1.5
[634] गुरुः प्रगल्भेऽपि वयस्यतोऽस्यास्तस्थौ निवृत्तान्यवराभिलाषः।

पावकादृते कृशानुं विना अपराणि तेजांसि सुवर्णादीनि नार्हन्ति। तर्कसंग्रह में तेज के चार प्रकार बताए गये हैं। भौम, दिव्य, औदर्य और आकरज। अग्नि भौम तेज है, जल इन्धन वाली बिजली दिव्य तेज है, खाये हुए पदार्थ के पाचन का कारण तेज औदर्य है सुवर्ण आदि आकरज तेज है।[635] विश्वनाथ भी न्याय सिद्धान्त मुक्तावली में सुवर्ण को तेज का रूप मानते हैं।[636] कवि ने अभिज्ञान शाकुन्तल में ऋषियों में रहने वाले तेज का वर्णन किया है।[637]

2.5.4 न्यायवैशेषिक दर्शनानुसार शरीर, आत्मा एवं कालिदासीय सन्दर्भ

ज्ञान का अधिकरण आत्मा है। वह दो प्रकार का है जीवात्मा एवं परमात्मा। इनमें परमात्मा सर्वज्ञ है और वह एक है। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न विभु एवं नित्य है।[638] कवि कालिदास कहते हैं ईश्वर सभी का स्वामी है किन्तु उसका कोई स्वामी नहीं वह एक अद्वितीय है। सभी में रहने वाला है।[639] वैशेषिक दर्शन के अनुसार शरीर दो प्रकार का होता है। एक योनिज और दूसरा अयोनिज।[640] योनिज शरीर के अन्तर्गत जरायुज(मानव तथा पशुओं के शरीर आते हैं, इनका शरीर गर्भ में झिल्ली के भीतर लिपटा होता है) और अण्डज(पक्षी तथा भूमि पर सरकने वाले जीव जो अण्डे से उत्पन्न होती हैं) आते हैं और अयोनिज के अन्तर्गत स्वेदज(जो पसीना गर्मी का परिणाम है) और उद्भिज्ज(वृक्ष, लता, वनस्पति जो भूमि को फोड़कर ऊपर निकलते हैं) आते हैं। कवि कालिदास ने इन चारों जरायुज, अण्डज , स्वेदज और उद्भिज्ज का वर्णन एक ही श्लोक में किया है– निष्कम्पवृक्षं निभृतद्विरेफं मूकाण्डजं शान्तमृगप्रचारम् ।तच्छासनात् काननमेव सर्वं चित्रार्पितारम्भमिवावतस्थे।[641] इस श्लोक की व्याख्या में मल्लिनाथ लिखते हैं। निष्कम्पवृक्षम् में उद्भिज्ज का उपलक्षण, निभृतद्विरेफम् में स्वेदज का उपलक्षण, मूकाण्डजम् (शब्दरहित पक्षी , सर्पादि) यह अण्डज का उपलक्षण, शान्तमृगप्रचारम् यह जरायुज का उपलक्षण है। अमरकोष में भी उल्लिखित है–नृगवाद्या जरायुजाः।स्वेदजाः कृमिदंशाद्याः। पक्षिसर्पादयोऽण्डजाः। उद्भिदस्तरुगुल्माद्याः।

ऋते कृशानोर्नहि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम्।।कु०स० 1.51

[635] विषयश्चतुर्विधो भौमदिव्यौदर्याकरजभेदात् । भौमं वह्न्यादिकम् । अबिन्धनं दिव्यं विद्युदादि । भुक्तस्य परिणामहेतुरौदर्यम् । आकरजं सुवर्णादि ।। त०सं० ,द्रव्यलक्षण प्रकरण ,पृ० 36

[636] उष्णः स्पर्शस्तेजसस्तु स्याद्रूपं शुक्लभास्वरम् ।
नैमित्तिकं द्रवत्वं तु नियतादि च पूर्ववत् ।।
इन्द्रियं नयनं वह्निस्वर्णादिर्विषयो मतः।।न्या०सि० ,का० 41–42

[637] शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढ़ हि दाहात्मकमस्ति तेजः।।अ०शा० 2.7

[638] ज्ञानाधिकरणमात्मा ।स द्विविधः जीवात्मा परमात्मा चेति । तत्रेश्वरः सर्वज्ञः परमात्मैक एव । जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च।।त०सं०, द्रव्यलक्षणप्रकरण , पृ० 55

[639] सर्वप्रभुरनीशस्त्वमेकस्त्वं सर्वरूपभाक्।। र०वं० 10.20

[640] वैशे० 4.2.5

[641] कु०स० 3.42

वैशेषिक दर्शन के अनुसार कर्म–क्रिया या चेष्टा शरीर में होती है। पहले आत्मा में कर्म करने की इच्छा पैदा होती है।[642] इच्छा कर्मानुकूल प्रयत्न को उत्पन्न कर चरितार्थ हो जाती है। प्रयत्न कर्म की उत्पत्ति में साक्षात् कारण होता है। प्रयत्नवाले आत्मा का हाथ के साथ संयोग , हाथ में कर्म का उत्पादक होता है।[643] मानसिक कर्मों में मन के साथ प्रयत्नवाले आत्मा का संयोग है। जब आत्मा चाहता है, अपने प्रयत्न से कर्म के लिए मन को प्रेरित करता है। मन में क्रिया उत्पन्न हो जाती है, वह आत्मा के अभिलषित कार्य में लग जाता है। हाथ के कर्म से मन का कर्म ही व्याख्यात समझना चाहिए।[644] वैशेषिकदर्शन के इस सिद्धान्त का दिग्दर्शन भगवान् शिव के रतिभावोदय के प्रसंग में कवि ने दिखाया है। हरस्तु किञ्चित् परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।[645] तं देशमारोपितपुष्पचापे रतिद्वितीये मदने प्रपन्ने ।काष्ठागतस्नेहरसानुविद्धं द्वन्द्वानि भावं क्रियया विवव्रुः।[646] किसी भी कार्य की सिद्धि के लिए तीनों (ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न) की आवश्यकता होती है।

2.5.5 आकाश तत्त्व और कालिदासीय सन्दर्भ

कवि ने आकाश तत्त्व को भगवान् शिव की अष्टमूर्तियों में जगत् को व्याप्त करने वाली मूर्ति तथा शब्द जिसका गुण है ऐसी मूर्ति स्वीकार किया है–श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्यविश्वम्।[647] अथात्मनः शब्दगुणं गुणज्ञः पदं विमानेन विगाहमानः।[648] तर्कसंग्रह में आकाश को शब्दगुण वाला ,एक व्यापक और नित्य कहा गया है।[649]

2.6 प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं कालिदासीय सन्दर्भ

कश्मीर शैव दर्शन का दूसरा नाम प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी है। प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है पहचान अर्थात् अपने विस्मृत स्वरूप को पहचान लेना और प्राप्त कर लेना। प्रत्यभिज्ञा दर्शन पर उत्पलदेव ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका लिखी है। इसके अलावा उन्होंने शिवस्तोत्रवली , सिद्धित्रयी एवं ईश्वरप्रत्यभिज्ञा पर विवृत्ति भी लिखी है। इसी ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका पर आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रथम टीका ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी जिसे लघु विमर्शिनी भी कहा

---

[642] आत्मजन्या भवेदिच्छा इच्छाजन्या भवेत्कृतिः।
कृतिजन्या भवेच्चेष्टा तज्जन्यैव क्रिया भवेत् ।।
वैशिषिकदर्शनम् , कणाद , व्या० उदयवीर शास्त्री , विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द ,दिल्ली ,2001

[643] आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म।। वैशे० 1.1.1

[644] हस्तकर्मणा मनसः कर्म व्याख्यातम्।। वैशे० 5.2.14

[645] कु०स० 3.67

[646] कु०स० 3.35

[647] अ०शा० 1.1

[648] र०वं०13.1

[649] शब्दगुणकमाकाशम् ।तच्चैकं विभु नित्यञ्च।।त०सं०14

जाता है तथा दूसरी ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी जिसे बृहती विमर्शिनी भी कहा जाता है यह टीका कारिका और विवृत्ति दोनों पर लिखी गई है।

प्रत्यभिज्ञा स्मृति और प्रत्यक्षज्ञान से भिन्न है तथा दोनों का समन्वित रूप भी है। परमतत्त्व में शिवशक्तिसामरस्य के समान प्रत्यभिज्ञा में स्मृति और प्रत्यक्ष का सामरस्य है। स्मृति संस्कारजन्य ज्ञान है, प्रत्यक्ष इन्द्रियसंवेदनजन्य ज्ञान है। मान लीजिए किसी वस्तु या व्यक्ति का हमें पूर्वज्ञान है क्योंकि हमने उसे भूतकाल में देखा है या उसके गुणों के विषय में सुना है। हम उस वस्तु या व्यक्ति को वर्तमान में अपने सामने देखकर हमारे मन में स्थित उसके पूर्वज्ञान के संस्कार उद्‌बुद्ध होते हैं और हम इन उत्थित संस्कारों का उसके प्रत्यक्ष संवेदनों से तादात्म्यीकरण करते हैं। तब उसे पहचान लेते हैं कि यह वही वस्तु या व्यक्ति है जिसका हमें पूर्वज्ञान था। इस पहचान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। प्रत्यभिज्ञा पूर्वसंस्कारों और वर्तमान संवेदनों के तादात्म्यीकरण से उत्पन्न ज्ञान है। यदि वह वस्तु या व्यक्ति वर्तमान में हमारे सम्मुख उपस्थित नहीं है और हमारे मन में उसले पूर्वज्ञान के संस्कार उपस्थित होते हैं तो यह संस्कारजन्य ज्ञान उस वस्तु या व्यक्ति की स्मृति है। यदि वह वस्तु या व्यक्ति वर्तमान में हमारे सम्मुख उपस्थित है और हमें उसका इन्द्रियसंवेदन हो रहा है, किन्तु उसके पूर्वज्ञान के संस्कार हमारे मन में उद्‌भूत नहीं हो रहे हैं तो यह इन्द्रियसंवेदनजन्य ज्ञान उस वस्तु या व्यक्ति का प्रत्यक्षज्ञान है। प्रत्यभिज्ञा तो दोनों के तादात्म्यीकरण से उत्पन्न ज्ञान है।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका में आचार्य उत्पल देव प्रत्यभिज्ञा का अर्थ करते हैं प्रत्यभिज्ञा प्रतीपमात्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा। प्रतीपम् इति स्वात्मावभासो हि अननुभूतपूर्वोऽविच्छिन्नप्रकाशत्वात् तस्य , स तु तच्छक्त्यैव विच्छिन्न इव विकल्पित इव लक्ष्यते प्रत्यभिज्ञा च भातभासमानरूपानुसन्धानात्मिका स एवायं चैत्रः इति प्रतिसन्धानेन अभिमुभूते वस्तुनि ज्ञानम् लोकेऽपि एतत्पुत्रः एवंगुणः एवंरूपक इत्येवं वा। अन्ततोऽपि सामान्यात्मना वा ज्ञातस्य पुनरभिमुभावावसरे प्रतिसन्धितप्राणितमेव ज्ञानं इति प्रत्यभिज्ञा इति व्यवह्रियते नृपतिं प्रति प्रत्यभिज्ञापितोऽयम् इत्यादौ। इहापि प्रसिद्धपुराणसिद्धान्तागमानुमानादिविदितपूर्णशक्तिस्वभावे ईश्वरे सति स्वात्मन्यभिमुखीभूते तत्प्रतिसन्धानेन ज्ञानम् उदेति नूनं स एव ईश्वरोऽहम् इति[650]

---

[650] ई०प्र०,1,पृ० 19

आचार्याभिनवगुप्त ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका की टीका ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में प्रत्यभिज्ञा की व्याख्या की है।[651]

पी.एन.के बेमझाई महोदय ने अपनी पुस्तक में कवि कालिदास को कश्मीर के प्रत्यभिज्ञा दर्शन का ज्ञाता कहा है।[652] कवि ने अभिज्ञा शब्द का प्रयोग प्रत्यभिज्ञा के ही अर्थ में पञ्चम अंक में किया है।[653] प्रत्यभिज्ञा दर्शन से कालिदास कितने प्रभावित हैं इसका अनुमान हम उनकी कृति अभिज्ञानशाकुन्तल के नामकरण से लगा सकते हैं । अभिज्ञानशाकुन्तलम् का अर्थ है अभिज्ञायतेऽनेनेत्यभिज्ञानम् अर्थात् वह वस्तु जिससे कोई वस्तु पहचानी जाय। शकुन्तैर्लाता[654] इति शकुन्तला अर्थात् निर्जन वन में पक्षियों ने जिसे ग्रहण किया या रक्षा किया वह शकुन्तला है। उस शकुन्तला को आधार बनाकर जो नाटक लिखा गया है वह शाकुन्तलम् है। अभिज्ञानेन स्मृता(ज्ञाता) शकुन्तला इति अभिज्ञान शकुन्तला अर्थात् अंगूठी देखकर ही राजा दुष्यन्त को शकुन्तला का स्मरण हुआ। इसलिए अभिज्ञान की जिसमें प्रधानता है ऐसा यह शाकुन्तलम् नाटक है अभिज्ञानप्रधानं शाकुन्तलम् इति। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में अंगूठी को देखते ही राजा को स्मरण आ जाता है कि मैंने शकुन्तला से विवाह किया था और भूल से उसका निरादर कर दिया।[655] अब राजा को अत्यन्त पश्चाताप होता है।[656] राजा स्वीकार करता है कि आज मैं दुःखी हूँ उसका कारण

---

[651] ज्ञानस्यापि मोहवशात् अज्ञानस्येव आभिमुख्येन हृदयङ्गमीभावेन ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् अथवा प्रतीपं ज्ञातस्यापि विस्मृतस्येव छादितस्येव पुनः आभिमुख्येन न तु स्मर्यमाणतया अपि तु स्फुटत्वेन ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम् , स एवायमिति भातभासमानानुसन्धाने स्थितस्य अधुनातनकव्यापिनो । अयमसौ अद्य मया प्रत्यभिज्ञात इत्यत्रापि तु कुतश्चित् सामान्याकारेण ज्ञानमभूदेव एवमात्मनि सततं भास्यपि मोहात् आवृत इव पुनराभिमुख्येन ज्ञानम्। तदुक्तम्
स्मरणुभवारूढ़ा सामानाधिकरण्यधीः।
संस्कारेन्द्रियजन्या च प्रत्यभिज्ञा प्रकीर्तिता।।ई०प्र०1,ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनीव्याख्या, पृ०20

[652]Kalidas's personal religion which was the kashmir Savisim based on the doctrine of the Pratyabhijna philosophy unknown outside Kashmir then. Though this philosophy was developed in its refined form towards the end of the eight century AD ,there is no doubt this tendency of thought existed long before its systematization by somananda.Culture and political history of Kashmir , volume 1 Ancient Kashmir ,P.N.K Bamzai , MD Publications PVT LTD, New Delhi, 1994

[653] जाते मुहूर्तं मा लजस्व । अपनेष्यामि तावत्तेऽवगुण्ठनम् ततस्त्वां भर्ताभिज्ञास्यति।।अ०शा० 5, पृ०178

[654] निर्जने तु वने यस्माच्छकुन्तैः परिवारिता ।
शकुन्तलेति नामास्याः कृतं चापि ततो मया।।
एवं दुहितरं विद्धि मम विप्रशकुन्तलाम् ।
शकुन्तला च पितरं मन्यते माननिन्दिता।।
एम.आर. कैले, अभिज्ञानशाकुन्तलम् भूमिका में विवेचित , मोतीलाल बनारसी दास , दिल्ली, 1969,पृ० cxiii

[655] पश्चादङ्गुलीयकदर्शनादूढपूर्वा तद्दुहितरमवगतोऽहम् ।।अ०शा० 7,पृ० 146
तस्य दर्शनेन भर्तुरभिमतो जनः स्मारितः। मुहूर्तं प्रकृतिगम्भीरोऽपि पर्युत्सुकनयन आसीत्।।अ०शा० 6,पृ० 100
यदैव खलु स्वाङ्गुलीयकदर्शनादनुस्मृतं देवेन सत्यमूढ़पूर्वा मे तत्रभवती रहसि शकुन्तला मोहात् प्रत्यादिष्टा ।
तदा प्रभृत्येव पश्चातापमुपगतो देवः।।अ०शा० 6, पृ० 105

[656] इतः प्रत्यादेशात्स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता
स्थिता तिष्ठेदुच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे ।
पुनर्दृष्टिं बाष्पप्रसरकलुषामर्पितवती
मयि क्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं दहति माम्।।अ०शा० 6.9, पृ० 110
कथं नु तं बन्धुरकोमलाङ्गुलिं करं विहायासि निमग्नमम्भसि ।
अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेन्मयैव कस्मादवधीरता प्रिया ।। अ०शा० 6.13,पृ०113

है शकुन्तला का बिना कारण मैंने त्याग किया है।[657] दुष्यन्त शकुन्तला से कहता है कि इस अंगूठी के मिल जाने पर ही मुझे तुम्हारी स्मृति हुई है।[658] शकुन्तला की सखियाँ जानती थी कि राजा के अभिज्ञान के लिए अँगूठी ही साधन है।[659] इसलिए सखियाँ शकुन्तला से कहती कि यदि दुष्यन्त पहचान न पाये तो उनके नाम से अंकित इस अंगूठी को उन्हें देखा देना।[660] दुर्वासा ऋषि ने शकुन्तला को शाप देने के अनन्तर प्रियम्वदा के अनुनय विनय पर कहा था कि मेरा शाप व्यर्थ नहीं हो सकता किन्तु आभरण (आभूषण) के दर्शन से दुष्यन्त को अभिज्ञान हो जायेगा।[661]

रघुवंश में हनुमान जी ने लङ्का में सीता जी को श्रीराम का सन्देश सुनाकर उनसे प्रत्यभिज्ञान के लिए चूडामणि को लेकर आये उस चूडामणि को देखकर श्रीराम को ऐसा लगा मानों सीता का हृदय ही चला आया हो। यह चूडामणि सीता की ही है श्रीराम उसको पहचान कर हृदय से लगा लेते हैं, यहाँ प्रत्यभिज्ञा दर्शन का ही कवि ने उल्लेख किया है।[662]

2.7 मीमांसादर्शन

मीमांसा दर्शन का षड् दर्शनों में वैदिक कर्मकाण्ड की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। यह दर्शन यज्ञ की विधि को, मन्त्रों के विनियोगादि का वर्णन करता है। पूर्वमीमांसा का मूलग्रन्थ आचार्य जैमिनि के सूत्र हैं। मीमांसा सूत्र बारह अध्यायों में विभक्त हैं। इस ग्रन्थ की रचना बारह अध्यायों में होने से इसे द्वादशाध्यायी या द्वादशलक्षणी मीमांसा भी कहते हैं। जैमिनि सूत्रों पर शबरस्वामी का भाष्य है। जिसे शाबरभाष्य कहा जाता है। शाबरभाष्य के व्याख्याकारों में कुमारिल भट्ट और प्रभाकर गुरु प्रमुख हैं, इन दोनों के नाम से मीमांसा के दो सम्प्रदाय भाट्टमत और गुरुमत विशेष प्रसिद्ध हुए। मुरारिमिश्र नाम के एक तीसरे भी व्याख्यात हुए। कुमारिलभट्ट ने शाबरभाष्य पर अपना प्रसिद्ध वार्तिक लिखा। जिसके तीन खण्ड हैं अर्थात् श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और टुप्टीका। प्रभाकर ने भाष्य पर दो व्याख्याएँ लिखी। एक को ब्रुहती नाम दिया गया है और दूसरी को लघ्वी अथवा विवरण। बृहती को निबन्धन भी कहते हैं। मीमांसा दर्शन जगत् को मिथ्या नहीं स्वीकार करता है।

---

[657] अकारणपरित्यागानुशयतप्तहृदयस्तावदनुकम्प्यतामयं जनः पुनर्दर्शनेन ।।अ०शा०6, पृ० 113

[658] अस्मादङ्गुलीयोपलम्भात्खलु स्मृतिरुपलब्धा।।अ०शा०7,पृ०143

[659] तदितोऽभिज्ञानमङ्गुलीयकं विसर्जयेम।। अ०शा०,4, पृ० 62

[660] सखि ! यदि नाम राजा प्रत्यभिज्ञानमन्थरो भवेत्। तदा तस्य इमम् आत्मनामधेयाङ्कितम् अङ्गुलीयं दर्शयेः।।अ०शा०,4,पृ०76

[661] ततो मे वचनम अन्यथा भवितुं नार्हति । किन्तु अभिज्ञानाभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यते । अ०शा० ,4,पृ० 60

[662] प्रत्यभिज्ञानरत्नं च रामायादर्शयत्कृती ।
हृदयं स्वयमायातं वैदेह्या इव मूर्तिमत्।।र०वं०12.64, पृ० 116

मीमांसक मानते है कि जगत् की सृष्टि करने की शक्ति कर्म में है। कर्म की अपनी स्वतन्त्र शक्ति है जिसे अदृष्ट या अपूर्व कहते हैं। वही जगत् का संचालन करता है। कर्म स्वयं अपना फल देता है। कर्म फल की प्राप्ति ईश्वर से नहीं होती। वेदान्त दर्शन का मत है कि मुक्ति का साक्षात् साधन आत्मज्ञान है। यह आत्मज्ञान कर्मत्याग के अनन्तर होता है। इसके विपरीत मीमांसादर्शन के अनुसार मुमुक्षु लोगों को भी कर्म करते रहना चाहिए। उनका मानना है कि वेदविहित कर्मों के अनुष्ठान से बन्धन नहीं होता। केवल काम्य या सकाम कर्म ही कर्मबन्धन के हेतु होते हैं। मीमांसक वेदों को स्वर्ग का साधन मानते हैं। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में देवताओं ने यज्ञ के द्वारा यज्ञपुरुष का पूजन किया। उस पूजन में प्रयुक्त नियम आदि सर्वप्रथम धर्म थे। उस विराटयज्ञपुरुष की उपासना करने वाले स्वर्ग को प्राप्त करते हैं।[663]

कवि कालिदास मीमांसादर्शन का जो सिद्धान्त है कि ज्योतिष्टोम आदि यज्ञकर्मों से स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है इस मत को स्वीकार करते हैं कर्म यज्ञःफलं स्वर्गः।[664] रघुवंश में राजा दिलीप ने निन्यानवें अश्वमेधयज्ञ सम्पन्न कर जीवन समाप्ति के अनन्तर स्वर्ग जाने के मानों निन्यानवें सीढ़ीयाँ ही बना दी।[665]

जैमिनि ऋषि का सूत्र भी कहता है चोदनालक्षणो धर्म आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।[666] विधिना त्वेकवाक्यात् स्तुत्यर्थं विधीनां स्युः।[667] दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनाम्।[668] यहाँ कवि ने गिराम् पद का प्रयोग किया है। जो वेदों से सम्बन्ध रखता है जो संहिता, मन्त्रभाग, विधि और अर्थवाद के साथ ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों से सम्बन्धित है। कवि ने अपनी कृतियों में यज्ञ एवं अन्य कर्मकाण्ड विधियों को करने पर विशेष बल दिया है। जिन वेदविधियों को करने पर मीमांसक बल देते हैं।

कवि ने रघुवंश में महर्षि जैमिनि के नाम का उल्लेख किया है। यहाँ वे योगाभ्यास के आचार्य प्रमाणित होते हैं।[669] मीमांसक यज्ञ, दान, तप आदि सत्कर्मों को करने पर बल

---

[663] यज्ञेन यज्ञमयजंत देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।।ऋ० 10.90.16

[664] कर्म यज्ञःफलं स्वर्गस्तासां त्वं प्रभवो गिराम्।।कु०स० 2.12

[665] इति क्षितीशो नवतिं नवाधिकां महाक्रतूनां महनीयशासनः।
समारुरुक्षुर्दिवमायुषः क्षये ततान सोपानपरम्परामिव ।।र०वं० 3.69

[666] जै०सू० 1.1.2,

[667] जै०सू० 2.1.7

[668] जै०सू० 1.7

[669] महीं महेच्छः परिकीर्य सूनौ मनीषिणे जैमिनयेऽर्पितात्मा।
तस्मात्सयोगादधिगम्य योगं अजन्मनेऽकल्पत जन्मभीरुः।। र०वं० 18.33

देते हैं। सत्कर्म केवल सुख की प्राप्ति कराते हैं।[670] पुण्यकर्मों के अनुसार स्वर्ग में रहने की अवधि होती है।

2.7.1 कर्माशय का स्वरूप एवं कालिदासीय सन्दर्भ

मनुष्य जिस किसी भी वस्तु का अनुभव करता है जो कुछ भी किया करता है उन सबके संस्कार अन्तःकरण में इकट्ठे हुए रहते हैं इन्हीं को योगशास्त्र में कर्माशय के नाम से कहा गया है।[671] ये ही मनुष्य को संसारचक्र में भटकाने वाले मुख्य कारण हैं।[672] इनके नाश से ही मनुष्य मुक्तिलाभ कर सकता है। कवि कालिदास कर्मवाद में आस्था रखते हैं इसलिए वे मानते हैं कि इस लोक में किसी को सुखी दुःखी देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उसने पिछले जन्म में अच्छे या बुरे किस प्रकार के कर्म किए हैं।[673] कवि का कथन है कि मन अपने पूर्वजन्मों के अपने सम्बन्ध को जानता है।[674] यद्यपि हमें पूर्वजन्मों की स्मृति नहीं होती ,तथापि वासना विशेष के कारण हमारे मन की प्रवृत्ति पूर्वानुभूत अर्थों वा व्यसनों में रमण करती हैं। जन्मान्तर के हमारे साहचर्य अथवा सम्बन्ध इस जन्म के सम्बन्धों एवं मैत्रियों में हमें अनुप्रेरित करते हैं। मनोहर वस्तुओं को देखकर या मधुर शब्दों को सुनकर एक प्रसन्नचित्त व्यक्ति भी जो उत्कण्ठित हो जाता है, तब वह अवश्य ही संस्कार के रूप में दृढ़ विद्यमान पूर्वजन्मों के प्रेमव्यवहारों को ठीक–ठीक जाने बिना ही अपने मन से स्मरण करता है।[675] रघुवंश में वसिष्ठ जी ने राजा अज को इन्दुमती के वियोग में दुःखी देखकर कहा रोने की तो बात ही क्या! यदि आप रोते–रोते मर भी जायें तो भी तुम उस इन्दुमती को नहीं पा सकते हैं क्योंकि मरने पर सब प्राणी अपने– अपने कर्मों के अनुसार भिन्न –भिन्न मार्ग से जाते हैं।[676] कवि कालिदास भाग्यवादी कवि हैं। वे वर्णन करते हैं कि शकुन्तला को दुष्यन्त के द्वारा अत्यधिक समान मिलना उसके भाग्य पर निर्भर है।[677] कवि का यह मत है कि यदि भाग्य से हम ऐश्वर्यादि

---

[670] अखण्डं पुण्यानां फलमिव ।।अ०शा० 2.10
[671] क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।।यो०सू० 2.12
[672] सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः । यो०सू० 2.13
[673] फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव।।र०वं० 1.20
[674] मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम्।।र०वं० 7.15
[675]रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् ।
पर्युत्सुको भवति यत् सुखिनोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।।अ०शा० 5.2
वामनाश्रमपदं ततः परं पावनं श्रुतमृषेरुपेयिवान् ।
उन्मनाः प्रथमजन्मचेष्टितान्यस्मरन्नपि बभूव राघवः।।र०वं०11.22
[676] रुदता कुत एव सा पुनर्भवता नानुमृतापि लभ्यते ।
परलोकजुषां स्वकर्मभिर्गतयो भिन्नपथा हि देहिनाम्।।र०वं०8.85
[677] सामान्यप्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया ।

से युक्त है तो हमें अहंकार नहीं करना चाहिए। मेघदूत में यक्ष कहता है कि विधि ने हमारे मार्ग को रोका हुआ है , इसी कारण मैं अपनी प्रियजन से नहीं मिल पा रहा हूँ।[678] आचार्य भर्तृहरि विधि के विषय में कहते हैं कि चन्द्रमा और सूर्य को भी राहु के द्वारा पीडित होते देखकर, हाथी और सर्प को बन्धन में देखकर तथा बुद्धिमानों की दरिद्रता को देखकर विधि ही बलवान् है।[679] भर्तृहरि कहते है जब विधि भी कर्म के अनुसार ही फल देने वाला है, तो हमें उस विधि की ही क्या आवश्यकता, हम तो उस कर्म को नमस्कार करते हैं जिस पर विधि भी अपना शासन करने में समर्थ नहीं है।[680]

रघुवंश में माता सीता अपने दुःख का कारण जन्म जन्मान्तरों के पातकों को बताती है।[681] जब तक यह कर्माशय नष्ट नहीं होता तब तक इस संसार में जन्म मृत्यु के क्लेश को सहना ही पड़ता है। राजा रघु ने ज्ञान की अग्नि के द्वारा अपने सारे कर्मों को राख कर डाला। कर्म जन्य संस्कारपुञ्ज के नष्ट होते ही रघु का जन्ममरण का बन्धन हमेशा –हमेशा के लिए शान्त हो गया।[682] गीता भी यही कहती है जिसके सम्पूर्ण कर्मों के आरम्भ संकल्प और कामना से रहित हैं तथा जिसके सम्पूर्ण कर्म ज्ञानरूपी अग्नि से जल गये हैं। वही बुद्धिमान् है।[683] कालिदास ये मानते हैं कि योगमार्ग में आत्मस्वरूप को समझने में विघ्नकारक कर्मबन्धन ही है इसलिए मुमुक्षु उस साधन का अन्वेषण करते हैं जिससे यह कर्मबन्धन नष्ट हो, जन्ममरण के बन्धन से मुक्ति मिले।[684] रघुवंश में माता सीता के पिता जनक को ज्ञानोपदेश के द्वारा सज्जनों के संसार दुःख को काटने वाला कहा गया है। यहाँ कवि ने जनक के लिए भवच्छेदकरः[685] शब्द का प्रयोग किया है।

भाग्यायत्तमतः वरं न खलु तद्वाच्यं वधूबन्धुभिः।। र०वं० 4.20
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकनी अ०शा० 4.18

[678] सङ्कल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः।। मे०दू० 2.44

[679] शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं गजभुजगमयोरपिबन्धनम, ।
मतिमताम् च विलोक्य दरिद्रता,विधिरहो बलवानीति में मति ।। नी०श० 1.91

[680] विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियतकर्मैकफलदः।
फलं कर्मायत्तं कैममरगणैः किञ्च विधिना
नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति ।। नी०श० 1.94

[681] ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः।। र०वं० 14.62

[682] इतरो दहने स्वकर्मणां ववृते ज्ञानमयेन वह्निना।।र०वं० 8.20

[683] यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।गी० 4.19

[684] कर्मबन्धच्छिदं धर्मं भवस्येव मुमुक्षवः।।कु०स० 2.51
योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यन्तरवर्तिनम् ।
अनावृत्तिमयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः।।कु०स० 6.77
जरसोपदिष्टमदेहबन्धाय पुनर्बबन्ध।। र०वं० 18.7

[685] सतां भवच्छेदकरः पिता ते ।।र०वं० 14.74

जिन्होंने अभ्यास और वैराग्य के द्वारा आपने मन को वश में किया है ऐसे लोगों की समाधि को भङ्ग करने में विघ्न समर्थ नहीं होते हैं।[686] किन्तु कुछ योगी जिनकी साधना परिपक्व नहीं हुई है वे योगभ्रष्ट होने पर शुद्ध आचरण वाले, सम्पन्न महापुरुषों के घर में जन्म लेता है[687] या ज्ञान सम्पन्न योगियों के कुल में ही जन्म लेता है[688] और वहाँ वह पहले शरीर में संग्रह किए हुए बुद्धिसंयोग को अर्थात् समबुद्धिरूप योग के संस्कारों को अनायास ही प्राप्त हो जाता है। फिर आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिए पहले से भी बढ़कर प्रयत्न करता है।[689] कालिदास भी ये मानते हैं कि पूर्व जन्म के विद्या आदि के संस्कार हेतु उपस्थित होने पर स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं।[690] कवि कालिदास ये स्वीकार करते हैं कि यदि हम सत्कर्म , पञ्चमहायज्ञ, जप तप आदि करते हैं तो उनसे पुण्य की प्राप्ति होती है और उसी पुण्य के फलस्वरूप स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है और पुण्य क्षीण होने पर इसी मृत्यु लोक में आना पड़ता है ।[691] श्रीमद्भगवद्गीता भी कहती है पुण्य कर्म करने वाले लोग स्वर्गादि लोकों को प्राप्त करते हैं और पुण्यक्षीण होने पर पुनः लोटकर मनुष्यलोक में आ जाते हैं।[692] फिर से उस योगसाधना में लगने पर, ऋतम्भरा प्रज्ञा के प्रकाशित होने पर साधक को प्रकृति के यथार्थ रूप का भान हो जाता है। तब उसका प्रकृति में, उसके कार्यों में स्वभाव से ही वैराग्य हो जाता है। उस वैराग्य के संस्कार पूर्व इकट्ठे हुए सब प्रकार के रागद्वेषमय संस्कारों का नाश कर देते हैं।[693] इससे योगी शीघ्र ही मुक्तावस्था के समीप पहुँच जाता है।

2.7.2 निष्कामकर्मयोग एवं कालिदासीय सन्दर्भ

विवस्वान् मनु के वंश में उत्पन्न आत्मज्ञानी दिलीप स्वभाव से अत्यन्त विशुद्ध थे, उनकी आकार सदृश जो बुद्धि थी वह शास्त्रज्ञान से प्रदीप्त थी। ऐसे दिलीप अपने गुरु वसिष्ठ से निवेदन करते हैं, वैदिक यज्ञों के सम्पादन से मेरी अन्तरात्मा शुद्ध हो गयी है।[694] इस

---

[686] आत्मेश्वराणां न हि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति।।कु०स० 3.40
[687] शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।गी० 6.41
[688] अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।।गी० 6.42
[689] तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततौ भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ।। गी० 6.43
[690] तां हंसमालां शरदीव गङ्गां महौषधिं नक्तमिवात्मभासः।
स्थिरोपदेशामुपदेशकाले प्रपेदिरे प्राक्तनजन्मविद्याम् ।।कु०स०1.30
[691] स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यैर्ह्रतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम् ।। मे०दू०1.32
[692] ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं– क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना– गतागतं कामकामा लभन्ते।। गी० 9.21
[693] विवेकख्यातिरविप्लवाः हानोपायः।। यो०सू० 2.26,
ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ।।यो०सू० 3.48
[694] सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलितः।

श्लोक में "सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा" में उपनिषद का सिद्धान्त स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। बृहदारण्यकोपनिषद् कहती है ब्रह्म जिज्ञासु साधक को वेदों के अध्ययन , यज्ञ , दान तथा तप से उस ब्रह्म को जानने की इच्छा करनी चाहिए।[695] यज्ञ का अर्थ केवल अग्नि में घी की आहुति देना ही नहीं होता अपितु यज्ञ शब्द के अनेक अर्थ भगवद्गीता में देखे जा सकते हैं, उत्सर्ग, त्याग, इज्या, पूजा, सङ्गतिकरण इत्यादि ये सब यज्ञ के समानार्थी शब्द हैं। यज्ञसम्पादन से जीवात्मा विशुद्ध होता है। शरीर संस्कृत, मन निर्मल होता है। कवि कहते हैं कि कोमल हृदय वाला व्यक्ति ही दूसरों के दुःख को देखकर करुणा से भर जाता है।[696] वेदान्तसार में सदानन्द लिखते हैं कि नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित और उपासना इन चारों के द्वारा जिसके समस्त पाप नष्ट हो गये हैं ऐसा व्यक्ति ही निर्मल अन्तःकरण वाला होता है।[697] धर्मशास्त्र में पाँच यज्ञ प्रसिद्ध हैं स्वाध्याय अध्ययन ऋषियज्ञ ,अन्न, जल आदि से पितरों का तर्पण करना पितृयज्ञ, वेदमन्त्रों से विधिपूर्वक देवताओं को आहुति देना देवयज्ञ, प्राणियों को बलि देना भूतयज्ञ और अतिथियों का पूजन करना मनुष्ययज्ञ कहलाता है।[698] कवि यह मानते हैं कि जिस वंश की सन्तान परम्परा आगे नहीं बढ़ती है उस वंश के पितर दुःखी होते है कि अब हमारा वैदिकविधि से तर्पण कोन करेगा ।[699] इन यज्ञों का क्या फल है इसका विवेचन मनुस्मृति में किया गया है। वहाँ कहा गया है कि यह शरीर स्वाध्याय से, व्रतों के द्वारा, महायज्ञों से ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बनाया जाता है।[700] वैदिककर्म के सम्पादन से निष्काम भावना उदित होती है। कायिक, वाचिक, मानसिक निर्मलता आती है, अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। सात्विकी बुद्धि का प्रकाश होता है, यह बुद्धि रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत नहीं होती। जिस से अन्त में नित्य शुद्ध मुक्तस्वभाव आत्मा का अपरोक्ष अनुभव होता है। इसलिए शास्त्रविहित निष्काम कर्मयोग के अनुष्ठान से चित को शुद्ध करता हुआ साधक अपने वास्तविक स्वरूप को समझकर मुक्त हो जाता है। यह उपनिषद का सिद्धान्त कवि कालिदास के प्रस्तुत श्लोक में दृष्टिगोचर होता है। कवि ने दिलीप के मुख से लोक को उपनिषद के सिद्धान्त निष्कामकर्मयोग का उपदेश दिया है।

प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः ।।र०वं० 1.68

[695] तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति । यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।।बृहदा० 4.4.22

[696] प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ।। मे०दू० 2.35

[697] नित्यनैमित्तिकप्रायश्चितोपासनानुष्ठानिर्गततनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः ।। वे०सा० ,पृ०13

[698] अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भूतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ।।मनु० 3.70

[699] अस्मात्परं बत यथाश्रुति सम्भृतानि को नः कुले निवपनानि करिष्यतीति ।
नूनं प्रसूतिविकलेन मया प्रसिक्तं धौताश्रुशेषमुदकं पितरः पिबन्ति।।अ०शा०6.25,पृ०123

[700] महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ।। मनु०2.28

2.8 भक्तिदर्शन एवं कालिदासीय सन्दर्भ

भक्ति का सिद्धान्त भक्त और भगवान् का स्नेहमय सम्बन्ध कहा जाता है। इसमें भक्त उस मुक्ति की कामना नहीं करता जहाँ भक्त और भगवान् का भेद ही समाप्त हो जाये। भक्त इस लोक में भी अपने प्रभु का स्मरण करता है और उनके धाम में भी उनके किंकर होने की ही कामना करता है। कालिदास मूर्तिपूजा के समर्थक कवि रहे हैं, मेघ को शिव के मन्दिर में दर्शन करने हेतु प्रेरित करते हैं। मेघदूत में यक्ष मेघ से कहता है कि तुम तीनों लोको के स्वामी और माता पार्वती के पति महाकाल शिव के पवित्र मन्दिर की ओर चले जाना। वहाँ शिवजी के गण तुम्हें अपने स्वामी शिवजी के कण्ठ के समान ही नीला देखकर आदर पूर्वक देखेगें। महाकाल के मन्दिर में पहुँचने के बाद तब तक वहीं रहना जब तक सांयकाल की महादेव की आरती नहीं हो जाती। उस समय ढोल आदि बज रहे होगे तुम भी गर्जना कर देना, जिससे तुम भी पुण्य के भागी बन जाओगे।[701]

कवि ने भगवान् शिव के चरणों की महिमा का गान किया है। यक्ष मेघ से कहता हैं कि जब तुम हिमालय पर्वत पर पहुँचोगे तो तुम्हें वहाँ पर भगवान् शिव के चरणचिह्न दिखाई देगें ,जिनकी पूजा अर्चना सिद्धलोग कर रहे होंगे। श्रद्धा से जो करुणानिधान भगवान् शिव के चरणों की पूजा अर्चना करता है उसके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और वह शरीर त्याग के अनन्तर शिव का सदा के लिए गण बन जाता है।[702]

कवि कालिदास भगवान् शिव के अनन्य उपासक है, रघुवंश के प्रारम्भ में पार्वतीपरमेश्वर को नमन करते हैं, अभिज्ञानशाकुन्तलम् में अष्टमूर्ति से युक्त शिव से रक्षा की प्रार्थना करते है। मेघदूत में उज्जैनी के वर्णन प्रसंग में महाकाल के प्रति अपनी दृढ़भक्ति दिखाते हैं। अपनी कृतियों में विभिन्न स्थलों में भगवान् शिव का स्मरण करते हैं। कवि के इस विवेचन से यह बात सामने आती हैं कि कवि शिवभक्त, मूर्तिपूजा के समर्थक, परलोक में दृढ़विश्वास रखने वाले थे।

कवि श्रीराम के चरणचिह्न अंकित होने के कारण चित्रकूट पर्वत की महिमा का गान करते हैं। कि भगवान् श्रीराम के चरण मनुष्यों के द्वारा सदा वन्दनीय है उन्हीं चरणों से श्रीराम ने चित्रकूटपर्वत पर विचरण किया, ये चरणचिह्न चित्रकूटपर्वत पर विराजमान है। इसलिए

---

[701] अप्यन्यस्मिन्जलधर महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनं विषयं यावदत्येति भानुः।
कुर्वन्सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया
मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम् ।। मे०दू० 1.38

[702] तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः।
यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्भूतपापाः कल्पिष्यन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः।। मे०दू० 1.59

यह चित्रकूटपर्वत अत्यन्त भाग्यशाली है।[703] यहाँ रघुपतिपदैः का विशेषण वन्द्यैः शब्द है अर्थात् वन्दनीय श्रीराम के चरण। कवि के इस विवेचन से भगवान् श्रीराम के चरणों में उनकी अनन्य भक्ति द्योतित होती है।

आज समाज में भले ही कुछ लोग मूर्ति पूजा का विरोध करते हों ,किन्तु मूर्तिपूजा की पद्धति भारत में प्राचीन काल से आ रही है। ब्रह्म की सता संसार की प्रत्येक वस्तु में हैं तो जिस मूर्ति की पूजा हम करते हैं क्या वहाँ ईश्वर का वास नहीं होगा। श्रीमद्भागवत में प्रह्लाद ने हिरण्यकशिपु से कहा कि इस खम्भे की बात ही क्या मेरा ईश्वर तो सभी जगह व्याप्त है और मैं उस सर्वव्यापी ईश्वर का दर्शन कर रहा हूँ।[704] नृसिंह खम्भे को फाड़कर प्रकट हुए[705] और वेद में विवेचित सिद्धान्त ईश्वर संसार के कण–कण में विराजमान को सत्य कर दिया।[706]

उपसंहार

कालिदास की कृतियों में दर्शनशास्त्र प्रकरण नामक इस अध्याय में भारतीय दर्शन के तथ्यों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि कालिदास किसी एक दर्शन के ज्ञाता नहीं थे बल्कि सभी भारतीय दर्शनों के सिद्धान्तों से वे परिचित थे। यह उनका वैशिष्ट्य है कि उनकी कृतियों में विविध दर्शनशास्त्रीय तत्त्व उसी प्रकार समाये हुए हैं, जिस प्रकार इस पृथ्वी में नाना रत्न समाये हुए हैं। उन्होंने अपनी कृतियों में सांख्य ,योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा ,उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्त, प्रत्यभिज्ञा ,भक्तिदर्शन इत्यादि का सूत्र रूप में उपमा आदि अलंकारों के माध्यम से विवेचन किया है।

---

[703] आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्यशैलं वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु ।।मे०दू० 1.12
[704] श्रीमद्भा०7.8.13–14
[705] श्रीमद्भा०7.8–18
[706] ईशावास्यमिदं सर्वम् ।। यजु० 40.1

तृतीय अध्याय

कालिदासीय कृतियों में धर्मशास्त्र प्रकरण

3.1 धर्मशास्त्र

धर्म वह है जिससे जीवन में अभ्युदय एवं जीवन का परम लक्ष्य निःश्रेयस दोनों की सिद्धि होती है।[707] मनु ने धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, ज्ञान, विद्या, सत्य, क्रोध का त्याग ये धर्म के दस लक्षण कहे हैं। व्यक्ति को प्रयत्नपूर्वक दश लक्षणों से युक्त धर्म का प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिए।[708] याज्ञवल्क्य ने धर्म का हेतु चौदह विद्याओं को बताया है। चारों वेद, पुराण, न्याय , धर्मशास्त्र , वेद के अंग व्याकरण, निरुक्त, छन्द , शिक्षा, कल्प, ज्योतिष।[709] इन्हीं चौदह विद्याओं में धर्मशास्त्र संस्कार, वर्णधर्म, आश्रमव्यवस्था, राजधर्म इत्यादि विषयों पर विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है। कुमारिलभट्ट तन्त्रवार्तिक में कहते हैं कि धर्मशास्त्र वर्णों एवं आश्रमों के कर्त्तव्यों का उपदेश करता हैं।[710] मींमासासूत्र वेदोक्त कर्म को ही धर्म का लक्षण मानते हैं।[711] याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा टीका में धर्म शब्द से छः प्रकार के धर्म को बताया गया है जो कर्त्तव्य के बोधक हैं । वर्णधर्म , आश्रमधर्म , वर्णाश्रमधर्म , गुणधर्म, निमित्तधर्म, साधारणधर्म। वर्णधर्म चारों वर्णों के कर्त्तव्य, आश्रमधर्म चारों आश्रमों के कर्त्तव्य ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास। वर्णाश्रमधर्म में दण्डादि चिह्नों को धारण करने का कर्त्तव्य जैसे पालाश दण्ड धारण का विधान ब्राह्मण के लिए इत्यादि। गुणधर्म–शास्त्रीय अभिषेकादि गुण से युक्त राजा का प्रजा का परिपालन आदि। निमित्तधर्म –वेदविहित कर्म से विपरीत निषिद्ध कर्म करने पर प्रायश्चित करना। साधारणधर्म– अहिंसा आदि का पालन करना, किसी भी प्राणी की मन, वाणी , कर्म तीनों से ही हिंसा न करना, सभी वर्णों का साधारणधर्म है।[712] मनु ने अहिंसा , सत्य, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियों का निग्रह करना ये संक्षेप में चारों वर्णों के कर्त्तव्य बताये हैं।[713]

---

[707] यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।। वै०सू० 1.1.2

[708] दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः।।मनु० 6.91
धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।मनु०6.92

[709] पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रितः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।। याज्ञ० 1.3

[710] सर्वधर्मसूत्राणां वर्णाश्रमधर्मोपदेशित्वात् ।।तन्त्र० 1.4

[711] चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।।मी०सू० 1.12

[712] याज्ञ० 1.1 ,मिताक्षराव्याख्या

[713] अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वण्येऽब्रवीन्मनुः।। मनु० 10.63

प्राचीन भारतीय सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक पद्धतियों की जानकारी हमें धर्मसूत्रों , स्मृतिग्रन्थों आदि से प्राप्त होती है। यद्यपि स्मृतियों की संख्या अधिक है परन्तु मनुस्मृति और याज्ञवलक्यस्मृति ये दोनों ही स्मृतियाँ अपना अनन्य स्थान रखती हैं। आचार्य मनु ने स्मृति को धर्मशास्त्र की संज्ञा दी है।[714] मनु ने वेदोक्त कर्त्तव्य, स्मृतिशास्त्र, श्रेष्ठ आचरण अर्थात् सदाचार, अपनी अन्तरात्मा की प्रसन्नता ये धर्म के चार साक्षात् लक्षण कहे हैं।[715] याज्ञवल्क्य भी इसी मत को प्रतिपादित करते हैं वेद, धर्मशास्त्र, सज्जनों के आचरण, अपनी आत्मा के अनुकूल उत्तम कार्य तथा विवेकपूर्ण संकल्प से उत्पन्न हुई इच्छा ये सब धर्म के मूल कहे गये हैं।[716] न्याय का विवेचन करने के कारण इन्हें हिन्दूकानून की संज्ञा दी जाती है।

कवि कालिदास स्मृतिग्रन्थों से अत्यन्त प्रभावित हैं। कवि की कृतियों में मनुस्मृति में वर्णित सिद्धान्तों का हमें दर्शन प्राप्त होता है। मनु के समान ही कालिदास भी वर्णाश्रम धर्म का विवेचन करते हैं। कवि ने रघुवंश में श्रीराम को वर्णाश्रमधर्म के पालन में जागरूक रहने वाला राजा कहा है। [717]उन्होंने मनुस्मृति के लेखक मनु का कई स्थानों पर रघु वंश में वर्णन किया है।[718] जिससे हम कह सकते हैं कि कवि कालिदास मनुस्मृति से अत्यन्त प्रभावित रहे हैं।

स्मृति ग्रन्थों का महत्त्व इसलिए अत्यधिक माना जाता रहा है, क्योंकि ये वेद का ही अनुसरण करते हैं। आचार्य भर्तृहरि कहते हैं दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रयोजनों को बताने वाली स्मृतियों की रचना वेद के ज्ञाता विद्वानों ने ही की हैं।[719] कवि कहते हैं कि विद्वान् लोग जब भी आचार, संस्कार आदि की चर्चा करते हैं तो वे ऋषियों के द्वारा प्रणीत स्मृतिनिबद्ध सिद्धान्तो का ही उपदेश करते हैं।[720] क्योंकि स्मृतियाँ वेदों का ही अनुसरण

---

[714] श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।।मनु०2.10

[715] वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।।मनु०2.12

[716] श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं सताम् ।।याज्ञ०1.7

[717] वर्णाश्रमावेक्षणजागरूकः।।र०वं० 14.85

[718] वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणम्।
आसीन्महीक्षितामाद्यः प्रणवशछन्दसामिव।।र०वं० 1.11
नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः ।।र०वं० 14.67
रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम् ।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः।। र०वं० 1.17
मनुप्रभृतिभिर्मान्यैर्भुक्ता यद्यपि राजभिः।
तथाप्यनन्यपूर्वेव तस्मिन्नासीद्वसुन्धरा।।र०वं० 4.7

[719] स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजनाः ।
तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यो वेदविदिभः प्रकल्पिताः।।वाक्यपदीयम् 1.7

[720] भवत्प्रणीतमाचारम् आमनन्ति हि साधवः।।कु०स० 6.31

करतीहैं।[721] इस वाक्य से महाकवि का यह मत भी ध्वनित होता है कि जिन–जिन स्थलों में श्रुति और स्मृति में कहीं यदि मतवैषम्य दृष्टिगोचर हो,तो वहाँ श्रुति की ही प्रामाणिकता मानी जाय। मनु भी कहते हैं धर्म के प्रति जिज्ञासा करने वाले लोगों के लिए श्रुति ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है।[722] मनुस्मृति के व्याख्याकार कुल्लूकभट्ट ने अन्वर्थमुक्तावली में जाबाल के मत को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि यदि कहीं पर श्रुति और स्मृति में विरोध हो रहा हो तो श्रुति को ही प्रमाण मानना चाहिए।[723]

भारतीय परम्परा में व्यक्ति तीन ऋणों के साथ जन्मग्रहण करता है इन तीनो ऋणों की चर्चा कवि कालिदास ने अपनी कृतियों में किया है। ये तीन ऋण है देव ऋण जो यज्ञादि करने पर दूर होता है, ऋषिऋण जो वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करने पर दूर होता है और पितृऋण सन्तान उत्पन्न होने पर दूर होता है।[724] एक मान्यता यह भी थी कि पुत्र अपने पूर्वजों के लिए जो पिण्ड दान करता है। वह उन्हें परलोक में प्राप्त होता है। इसीलिए सन्तान न होने पर दिलीप कहते हैं कि मेरे पितर जानते हैं कि मेरे पश्चात् उन्हें पिण्ड देने वाला कोई नहीं रहेगा। इसलिए वे इच्छापूर्वक भोजन करने के लिए उत्साहित नहीं होते। पुत्र के अभाव के कारण मेरे द्वारा दिए हुए जल को मेरे पितर अपने दुःखजन्य निःश्वासो से ग्रहण करते हैं।[725] इसलिए दिलीप वसिष्ठ से पितृऋण से मुक्ति का उपाय पूछते हैं।[726] राजा दिलीप ने इक्कीस दिन तक नन्दिनी गौ की सेवा की फिर नन्दिनी से भी यही याचना की, कि मुझे वंश को चलाने वाला पुत्र प्राप्त हो।[727] कालान्तर में उन्हें पुत्र की प्राप्ति हुई तब वे पितृऋण से मुक्त हुए।[728] हिन्दू परम्परा में यह माना जाता है कि जब तक पुत्र की प्राप्ति न हो तब तक पितृऋण से मुक्ति नहीं मिल सकती।

---

[721] मार्ग मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत् ।।र०व० 2.2

[722] धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।। मनु० 2.13

[723] श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी ।
अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत्सता।। मनु० 2.13, कुल्लूकभट्ट व्याख्या में

[724] ऋषिदेवगणस्वधाभुजां श्रुतयागप्रसवैः स पार्थिवः ।
अनृणत्वमुपेयिवान्बभौ परिधेर्मुक्त इवोष्णदीधितिः।।र०वं० 8.30

[725] नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डाविच्छेददर्शिनः।
न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासङ्ग्रहतत्पराः।।र०वं०1.66
मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया ।
पयः पूर्वैः स्वनिश्वासैः कवोष्णमुपभुञ्जते।।र०वं०1.67

[726] असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे ।।र०वं० 1.71
तस्मान्मुच्ये यथा तात! संविधातुं तथार्हसि ।।र०वं 1.72

[727] वंशस्य कर्त्तारमनन्यकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे ।। र०वं० 2.64

[728] ऋणाभिधानात्स्वयमेव केवलं तदा पितृणां मुमुचे स बन्धनात् ।।र०वं० 3.20

कालिदास कहते हैं पुत्र वह है जो पितरों के ऋण से छुटकारा दिलाने वाला है, शोक के अंधेरे को दूर करने वाला है।[729]

रघुवंश में राजा विश्वसह भी सन्तान उत्पन्न होने के अनन्तर अपने को पितृऋण से मुक्त मानते हैं।[730]

3.2 संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

संस्कार शब्द का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ है जिसके द्वारा शरीर ,मन और आत्मा संस्कृत हों वही संस्कार कहा गया है संस्क्रियतेऽनेन देहो मनः आत्मा वा इति संस्कारः। संस्कार शब्द सम् उपसर्ग पूर्वक डुकृञ् करणे धातु से घञ् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। संस्कार का अर्थ है–दोषो का नाश करने वाला और सद्गुणो को विकसित करनेवाला एक कर्म। संस्कार व्यक्ति के शारीरिक, सामाजिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते है। संस्कार का अर्थ है–दोषो का नाश करने वाला और सद्गुणो को विकसित करनेवाला एक कर्म।

भारतीय परम्परा में संस्कार परम्परा के अन्तर्गत भावी माता–पिता को यह तथ्य बताए जाते हैं कि शारीरिक, मानसिक दृष्टि से परिपक्व हो जाने के बाद, समाज को श्रेष्ठ, तेजस्वी नई पीढ़ी देने के संकल्प के साथ ही संतान पैदा करने की पहल करें। गर्भ ठहर जाने पर भावी माता के आहार, आचार, व्यवहार, चिन्तन, भाव सभी को उत्तम और संतुलित बनाने का प्रयास किया जाय। उसके लिए अनुकूल वातावरण भी निर्मित किया जाय। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार जिस प्रकार उत्तम और अच्छी प्रकार जोते हुए खेत में पौधों और वनस्पतियों के बीज अनेक प्रकार के फल उत्पन्न करते हैं। उसी प्रकार गर्भाधान आदि सोलह संस्कारों से युक्त व्यक्ति भी फल का भागी होता है।[731] व्यासस्मृति में गर्भाधानादि षोडशसंस्कारों का विवेचन किया गया है।[732] इनमें पहला गर्भाधान संस्कार और मृत्यु के उपरान्त अंत्येष्टि अंतिम संस्कार है। ये सभी संस्कार वैदिक मन्त्रों से सम्पन्न होते हैं।[733] संस्कारों के क्रम में गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म,

---

[729] न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम् ।
सुताभिधानं स ज्योतिः सद्यः शोकतमोऽपहम् ।।र०वं० 10.2,पृ० 91

[730] पिता पित पितॄणामनृणस्तमन्ते वयस्यनन्तानि सुखानि लिप्सुः।
राजानमाजानुविलम्बिबाहुं कृत्वा कृती वल्कलवान्बभूव ।।र०वं० 18.26

[731] यथौषधिवनस्पतीनां बीजस्य क्षेत्रकर्मविशेषे फलवृद्धिरेवम् ।।आप०ध०2.1.4

[732] गर्भाधानं पुंसवनं सीमन्तो जातकर्म च ।
नामक्रिया निष्क्रमणेऽन्नाशनं वपनक्रिया ।
कर्णवेधो व्रतादेशो वेदारम्भक्रियाविधिः।
केशान्तः स्नानमुद्वाहो विवाहाग्निपरिग्रहः।।
त्रेताग्निसङ्ग्रहश्चेति संस्काराः षोडश स्मृताः।।व्या०स्मृ०1.13–15

[733] निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।।मनु०2.16

नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, विद्यारम्भ, कर्णवेध, यज्ञोपवीत, वेदारम्भ, केशान्त, समावर्तन, विवाह तथा अन्त्येष्टि ही मान्य है। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण इत्यादि संस्कार पापों के क्षय के हेतु तथा इस लोक एवम् परलोक मे कल्याण करने वाले हैं।[734] मनु कहते हैं गर्भ के समय किए जाने वाले संस्कारों से, जातकर्म , चूड़ाकरण ,उपनयन संस्कारों द्वारा गर्भविषयक एवं बीजविषयक दोष नष्ट हो जाते हैं।[735] कवि ने संस्कारों का विवेचन अपनी रचनाओं में किया है। राजा दशरथ ने अपने चारों पुत्रों का विधि विधान से जातकर्मादि संस्कार सम्पन्न किया।[736] आदिकवि महर्षि वाल्मीकि संस्कारों को अत्यन्त महत्त्व देते हैं वे रघुवंश में सीता से कहते हैं कि इस तपोवन में हिंसक जन्तु भी शान्तभाव से रहते हैं इसलिए तुम मुनिकन्याओं के साथ इस तपोवन में निर्भय होकर रहो। मैं प्रसव के अनन्तर विधिविधान पूर्वक तुम्हारी सन्तान का जातकर्मादि संस्कार सम्पन्न करूँगा।[737] शिशु अवस्था एक ऐसा काल है जिस काल में शिशु खाली कागज की तरह होता है। इस समय जिस प्रकार के संस्कार माता, पिता, गुरू बालकों को प्रदान करते हैं उसी प्रकार का उनका स्वभाव, जीवनशैली बन जाती है। अतः भारतीय परम्परा में संस्कारों पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

3.3 गर्भाधान अथवा निषेक संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

यह संस्कार सोलह संस्कारों में प्रथम है। इसे गृहस्थ जीवन में प्रवेश के उपरान्त प्रथम कर्त्तव्य के रूप में मान्यता प्राप्त है। इसका प्रचलन वैदिककाल से हुआ है। अथर्ववेद में गर्भाधान सूक्त वर्णित है, जिसमें सरस्वति देवि! से प्रार्थना की गई है कि आप गर्भ धारण में सहायक हों।[738] स्त्री सन्तान प्राप्ति के लिए गर्भ धारण करती है और दशवे महीने में उसे सन्तान रत्न की प्राप्ति होती है।[739] इस संस्कार के माध्यम से पुरुष स्त्री में अपना

निषेकाद्याः श्मशानान्तास्तेषां वै मन्त्रतः क्रियाः ।।याज्ञ०1.10

[734] वैदिकैः कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम् ।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ।।मनु०2.26

[735] गार्भैर्होमैर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ।।मनु०2.27
ऐतै(संस्कारैः) बैजिकं प्रतिषिद्धमैथुनसङ्कल्पादिना च पैतृकरेतोदोषाद्यद्यत्पापं गार्भिकं चाशुचिमातृगर्भवासजं तद्द्विजातीनामपमृज्यते। कुल्लूकभट्ट व्याख्या में

[736] कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः।।र०वं० 10.78 कृताः संस्काराः जातकर्मादयो येषां ते कृतसंस्काराः कुमाराः।।मल्लिनाथ व्याख्या में

[737] तपस्विसंसर्गविनीतसत्त्वे तपोवने वीतभया वसास्मिन् ।
इतो भविष्यत्यनघप्रसूतेरपत्यसंस्कारमयो विधिस्ते।।र०वं० 14.75
विनोदयिष्यन्ति नवाभिषङ्गामुदारवाचो मुनिकन्यकास्त्वाम् ।।र०वं० 14.77

[738] गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति! गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा।।अथर्व 5.25.3

[739] सवितः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्याः गवीन्योः। पुंमांसं पुत्र मा धेहि दशमे मासि सूतवे।।अथर्व 5.25.12 ,
आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते । गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके । गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ।। बृहदा०6.4.21

बीज स्थापित कर सन्तान की कामना करता है।[740] गर्भाधान के लिए मनु ने निषेक[741] शब्द का प्रयोग किया है और इसी शब्द का प्रयोग कवि कालिदास ने भी किया है।[742] रघुवंश में सीता अपने सन्तानबीज की मङ्गकामना हेतु प्रार्थना करती है। कवि ने यहाँ प्रजानिषेक[743] शब्द का प्रयोग किया है। दूसरे उदाहरण में रघुवंश में सुदक्षिणा राजा दिलीप के कुल की सन्तानरूपी सम्पत्ति के लिए अष्टलोकपालों के तेज से युक्त गर्भ को धारण करती हैं।[744] यहाँ मल्लिनाथ गर्भम् आधत्त राज्ञी वाक्य में आधत्त शब्द की व्याख्या में लिखते हैं आधत्त इत्यनेन स्त्रीकर्तृकं धारणमात्रमुच्यते।[745]

महाराज दशरथ की तीनों स्त्रियों ने एक साथ गर्भ धारण किया ।जैसे अमृत नाम का जल बरसाने वाली सूर्य की किरणें संसार के कल्याण के लिए जल लिए रहती हैं । वैसे ही उ्न तीनों रानियों ने लोककल्याण के लिए विष्णु के अंश से भरे गर्भ को धारण किया। ये तीनों रानियाँ गर्भ से पीली पड़ने के कारण उन अनाज की बालों के समान लगती थी जिनमें दाने पड़े हों[746] कवि ने गर्भचिह्नों का वर्णन किया है गर्भिणी का शरीर कृश होने लगता है, मुख पाण्डुवर्ण की तरह दिखाई देने लगता है।[747] वाग्भट्ट के मत को मल्लिनाथ ने टीका में उद्धृत किया है–क्षामता गरिमा कुक्षेर्मूर्च्छा छर्दिररोचकम्। जृम्भा प्रसेकः सदनं रोमराज्याः प्रकाशनम्।[748] इस काल में गर्भिणी जिस भी वस्तु की कामना करती है वह वस्तु उसे प्रदान की जाती है। कवि ने इसके लिए दोहद[749] शब्द का प्रयोग किया है

---

[740] अहं गर्भमदधामोषधीष्वहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः।
अहं प्रजा अजनयन्पितृणामहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान् इति।
अथैनामुपैति तां पूषञ्छिवतमोमरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति ।
या न उरू उशती विश्रयातै यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेफम् इति।।
स एवमेव चतुर्थीप्रभृत्याषोडशीमुत्तरां युग्मामुपैति।।
प्रजानिश्श्रेयसमृतुगमनमित्याचार्याः।।
सर्वाण्युपगमनानि मन्त्रवन्ति भवन्तीति बोधायनः।।
यच्चादौ यच्चर्ताविति शालिकिः।। बो०गृ०सू०1.7.43–48
गर्भाधानमृतौ ।।याज्ञ० 1.11 , ऋतावुपेयात् ।।गौ०ध०सू० 1.5.1

[741] निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।।मनु०2.16

[742] योषित्सु तद्वीर्यनिषेकभूमिः सैव क्षमेत्यात्मभुवोपदिष्टम्।।कु०स० 3.16

[743] श्वश्रूजनं सर्वमनुक्रमेण विज्ञापय प्राप्तिमत्प्रणामः।
प्रजानिषेकं मयि वर्तमानं सूनोरनुध्यायत चेतसेति।।र०वं० 14.60

[744] नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी गुरुभिरभिनिविष्टं लोकपालानुभावैः।।र०वं 2.75

[745] र०वं 2.75, मल्लिनाथ टीका में

[746] ताभिर्गर्भः प्रजाभूत्यै दध्रे देवांशसम्भवः।
सौरीभिरिव नाडीभिरमृताख्याभिरश्मयः।।र०वं० 10.58
सममापन्नसत्त्वास्ता रेजुरापाण्डुरत्विषः।
अन्तर्गतफलारम्भाः सस्यानामिव सम्पदः।।र०वं० 10.59

[747] शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन साऽलक्ष्यत लोध्रपाण्डुना ।
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी ।।र०वं० 3.2

[748] र०वं० 3.2, मल्लिनाथ टीका

[749] उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम् ।
न हीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेरभूदनासाद्यमधिज्यधन्वनः।।र०वं० 3.6

,दोहद का अर्थ मल्लिनाथ करते हैं दोहद अर्थात् गर्भिणी का मनोरथ। रघुवंश में कवि दोहद का विवेचन माता सीता के प्रसंग में करते हैं। माता सीता गर्भावस्था के समय तपोवन को देखने की इच्छा प्रकट करती है। गर्भिणी स्त्री का मनोरथ ही दोहद कहा गया है । गर्भिणी की इच्छा पूर्ण न होने पर गर्भ में दोष आता है।[750]

मनु कहते हैं वंश की परम्परा के लिए सन्तान की कामना वाले व्यक्ति को ऋतुकाल में संसर्ग करना चाहिए।[751] ऋतुस्नान के बाद चौथी रात्रि से सौलवीं रात्रि तक गर्भाधान के लिए उपयुक्त समयावधि मानी जाती है।[752] पुत्र और पुत्री की कामना वाले पुरुष को क्रमशः समरात्रियों में और विषमरात्रियों में संसर्ग करने का विधान किया गया है।[753]

3.4 पुंसवन संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

गर्भाधान के पश्चात् पुंसवन और सीमन्तोनयन संस्कारों का विधान है। दिलीप ने पत्नी के प्रति स्नेह, मन की उदारता, बाहुबल से उपार्जित सम्पत्ति, तथा पुत्रोत्पत्ति से मिलने वाला सन्तोष के अनुरूप बड़े समारोह के साथ पुंसवन और सीमन्तोनयन संस्कार को जैसा जिसका क्रम है उसी क्रम से सम्पन्न किया।[754] मल्लिनाथ व्याख्या में लिखते हैं कि पुमान् सूयतेऽनेनेति पुंसवनम् अर्थात् जिस संस्कार से पुत्र उत्पन्न होता है। कवि ने पुंसवनसंस्कार का उल्लेख समुद्रव्यापारी धनमित्र की गर्भवती पत्नी के प्रसंग में भी किया है।[755] यह पुंसवन नामक गर्भ संस्कार बच्चे के गर्भ में हिलने–डुलने से पूर्व ही दूसरे अथवा तीसरे महीने में करना चाहिए।[756] पुंसवन संस्कार गर्भस्थ शिशु के समुचित विकास की कामना से किया जाता है। पारस्कर का मत है कि इस संस्कार को तब सम्पन्न करना चाहिए, जब चन्द्रमा का पुंल्लिग वाची नक्षत्रों पुनर्वसु पुष्य आदि के साथ योग होता है।[757] क्योंकि सन्तान के लिए ये नक्षत्र मंगलकारी माने जाते हैं। गर्भ के दूसरे या तीसरे महीने में विधिवत पुंसवन संस्कार सम्पन्न कराना चाहिए, क्योंकि इस समय तक गर्भस्थ

---

[750] दोहदस्याप्रदानेन गर्भो दोषमवाप्नुयात्।।र०वं० 3.6 ,मल्लिनाथ टीका में

[751] तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ।। मनु०3.48

[752] षोडशर्तु निशाः स्त्रीणां तस्मिन्युग्मासु संविशेत् ।
ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत्।।याज्ञ० 1.79

[753] युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्।।मनु० 3.48
गर्भाधानं द्विजः कुर्यादृतौ प्रथम एव हि ।
चतुर्थदिवसादूर्ध्वं पुत्रार्थी दिवसे समे ।।ल०आश्वा०स्मृ० 3.1

[754] प्रियानुरागस्य मनः समुन्नतेर्भुजार्जितानां च दिगन्तसम्पदाम् ।
यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रिया धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः।।र०वं०3.10

[755] देव ! इदानीमेव साकेतस्य श्रेष्ठिनो दुहिता निवृत्तपुंसवना श्रूयते । अ०शा० 6 ,पृ० 121

[756] पुरा स्पन्दत इति मासे द्वितीये तृतीये वा ।।पा०गृ०सू० 1.14.2
पुंसः सवनं स्पन्दनात्पुरा ।।याज्ञ०1.11

[757] यदहः पुंसा नक्षत्रेण चन्द्रमा युज्येत।।पा०गृ०सू० 1.14.3, पुंसवनं व्यक्ते गर्भे तिष्येण।।आ०गृ०सू० 14.9

शिशु के विचार तंत्र का विकास प्रारम्भ हो जाता है। वेद मन्त्रों, यज्ञीय वातावरण एवं संस्कार सूत्रों की प्रेरणाओं से बालक के मानस पर तो श्रेष्ठ प्रभाव पड़ता ही है, अभिभावकों और परिजनों को भी यह प्रेरणा मिलती है कि भावी माँ के लिए श्रेष्ठ मनःस्थिति और परिस्थितियाँ कैसे विकसित की जाए। इस संस्कार में विहित देवपूजन द्वारा पुत्र उत्पन्न होने में बाधा उपस्थित करने वाली स्थितियों का निवारण होता है।

3.5 सीमन्तोन्नयन संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

कवि कालिदास ने सीमन्तोन्नयन संस्कार के बोध के लिए पुंसवनादिकाः[758] शब्द का प्रयोग किया है इस शब्द की व्याख्या में मल्लिनाथ लिखते हैं, आदि शब्द से यहाँ अनवलोमन् तथा सीमन्नतोन्नयन का ग्रहण करना चाहिए। पारस्कर गृह्य सूत्र के अनुसार इस संस्कार में गर्भिणी के केशों को वैदिकमन्त्रों के द्वारा ऊपर की ओर उठाते हुए उसका विन्यास पति द्वारा किया जाता है। इसीलिए इसे सीमन्तोन्नयन संस्कार कहा जाता है। वेणी ग्रन्थन के अनन्तर पति वीणा वादको से कहता हैं कि वीर राजाओं की कथा सुनाओं।[759] शिशु जब माँ के गर्भ में होता है तब उस समय माँ के खान पान , आचरण, व्यवहार का असर उस पर पड़ता है। इसलिए उस समय माँ के खान पान आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता है। पारस्कर गृह्यसूत्र में जो सीमन्तोनयन संस्कार के समय वीरों की कथाओं को सुनाने का विधान किया गया है उसका तात्पर्य यही है कि शिशु को माँ के श्रवण के माध्यम से वीरत्व के संस्कार प्राप्त हों। हम उदाहरण के लिए अभिमन्यु के चरित को देख सकते हैं जहाँ अभिमन्यु ने अपनी माँ के गर्भ में ही चक्रव्यूह के छः द्वारों के भेदन की विद्या सीखी थी। दूसरे उदाहरण में हम भागवत के सप्तम स्कन्ध में वर्णित प्रह्लाद चरित को देख सकते हैं, प्रह्लाद ने अपनी माँ के गर्भ में ही विष्णुभक्ति की शिक्षा नारद जी से सुनी थी। इससे यह निश्चित होता है कि गर्भकाल में माँ के व्यवहार का गर्भस्थ शिशु पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। पुंसवन संस्कार के समान ही सीमन्तोनयन भी चन्द्रमा के पुष्य नक्षत्र से युक्त होने पर ही होता है। छठे अथवा आठवें महीनें में यह संस्कार करना चाहिए।[760]याज्ञवल्क्य भी छठे और आठवें महीने में ही सीमन्तोन्नयन करने का विधान करते हैं।[761] आचार्य बोधायन चतुर्थ महीने में सीमन्तोन्नयन का विधान करते

---

[758] यथाक्रमं पुंसवनादिकाः क्रिया धृतेश्च धीरः सदृशीर्व्यधत्त सः।।र०वं०3.10

[759] सीमन्तमूर्ध्वं विनयति भूर्भुवः स्वरिति । प्रतिमहाव्याह्रतिभिर्वा ।। अथाह वीणागाथिनौ राजानं संगायेतां यो वाप्यन्यो वीरतर इति ।।पा०गृ०सू० 1.15.4–6

[760] अथ सीमन्तोन्नयनम् । पुंसवनवत् । प्रथमगर्भे मासे षष्ठेऽष्टमे वा।।पा०गृ०सू० 1.15.1–3

[761] षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तः।।याज्ञ० 1.11

हैं।[762] इस संस्कार से गर्भवती के चित्त में एक सुदृढ़ भावना उत्पन्न हो जाती है। जो उसमें आत्मविश्वास, सन्तोष और सन्तान के प्रति प्रेम तथा कर्त्तव्य का समावेश कराती है।

3.6 जातकर्म संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

विष्णुपुराण के अनुसार सन्तान उत्पन्न होने के अनन्तर पिता को चाहिए को विधिविधान से जातकर्मादिसंस्कार सम्पन्न करे।[763] कवि कालिदास लिखते हैं कि दिलीप के पुत्र का जातकर्म संस्कार तपस्वी वसिष्ठ जी ने विधिपूर्वक सम्पन्न कराया। जैसे खान से निकाला गया मणि संस्कृत होने के बाद अत्यधिक सुशोभित होता है उसी प्रकार जातकर्मसंस्कार सम्पन्न होने से उस बालक की शोभा भी बढ़ गई ।[764] माता सीता ने लव कुश को जन्म दिया। महर्षि वाल्मीकि ने लव कुश का यथाविधि जातकर्मादि संस्कार सम्पन्न किया है।[765] जातकर्म संस्कार पुत्र जन्म के समय किया जाता है। पारस्कर गृह्यसूत्र में लिखा है उत्पन्न हुए शिशु का अच्छी प्रकार नाल छेदन करके मेधाजनन एवं आयुष्य बढ़ाने के लिए जातकर्म करना चाहिए। शिशु का पिता स्वर्णाच्छन्न अनामिका से मधु और घृत चटाये और यह कामना करे कि उत्पन्न शिशु सम्पूर्ण आयु प्राप्त करे।[766] वत्सप्री भलन्दन ऋषि दृष्ट अनुवाक यजुर्वेद 12.18–28 में वर्णित मन्त्रों का पाठ करते हुए शिशु की सम्पूर्ण आयु की कामना करनी चाहिए । बोधायन गृह्यसूत्र में भी वर्णित है कि जातकर्मसंस्कार में शिशु का स्पर्श करते हुए किन–किन मन्त्रों को उच्चारण करना चाहिए ।[767] मनु के अनुसार नाभि छेदन से पूर्व जातकर्म संस्कार सम्पन्न करना चाहिए । उस समय शहद और घी सोने की शलाका में लगाकर मन्त्रोच्चारण पूर्वक चटाया जाता है।[768] याज्ञवल्क्य कहते है शिशु के गर्भकोश से निष्क्रमण के अनन्तर अर्थात् उत्पन्न होने के अनन्तर जातकर्म

---

[762] प्रथमगर्भायाश्चतुर्थे मासि सीमन्तोन्नयनम्।। बो०गृ०सू० 1.10.1

[763] जातस्य जातकर्मादिक्रियाकाण्डमशेषतः।
पुत्रस्य कुर्वीत पिता श्राद्धं चाभ्युदयात्मकम्।।वि०पु० 3.10.4

[764] स जातकर्मण्यखिले तपस्विना तपोवनादेत्य पुरोधसा कृते ।
दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ।।र०वं० 3.18

[765] सुतावसूत सम्पन्नौ कोशदण्डाविव क्षितिः।। र०वं० 15.13
सखा दशरथस्यापि जनकस्य च मन्त्रकृत् ।
सञ्चस्कारोभयप्रीत्या मैथिलेयौ यथाविधि।।र०वं 15.31

[766] जातस्य कुमारस्याच्छिन्नायां नाड्यां मेधाजननमायुष्ये करोति ।
अनामिकया सुवर्णान्तर्हितया मधुघृते प्राशयति घृतं वा।।पा०गृ०सू० 1.16.3
स यदि कामयेत् सर्वमायुरियादिति वात्सप्रेणैनमभिमृशेत्।।पा०गृ०सू० 1.16.8

[767] बो०गृ०सू० 2.1.1–18

[768] प्राङ्नाभिवर्धनात्पुंसो जातकर्म विधीयते ।
मन्त्रवत्प्राशनं चास्य हिरण्यमधुसर्पिषाम्।।मनु०2.29

संस्कार किया जाता है।[769] जातकर्मसंस्कार नवजात शिशु के सम्यक् संवर्धनार्थ तथा उसके परिपोषण के लिए किया जाता है।

3.7 नामकरण संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

नामकरण संस्कार शिशु जन्म के बाद दूसरा संस्कार माना जाता है। मनुष्य नाम के द्वारा कीर्ति को प्राप्त करता है, नाम समस्त व्यवहार का हेतु, शुभ फल देने वाला, कर्मों में भाग्य का हेतु है।[770] कवि कालिदास ने नाम के महत्त्व अंगीकार किया है वे यह मानते हैं कि नाम का हमारे जीवन में अत्यन्त प्रभाव पड़ता है इसलिए नाम विचारपूर्वक रखा जाना चाहिए। कवि ने कुछ उदाहरणों से अपनी कृतियों में नाम पर विचार किया है। रघुवंश में श्रीराम ने लवणासुर का वध का आदेश देकर शत्रुघ्न का नाम मानो चरितार्थ कर दिया क्योंकि लोक कि प्रसिद्ध सूक्ति है जैसा नाम वैसा गुण। शत्रुघ्न का अर्थ होता है शत्रून् हन्ति इति शत्रुघ्नः अर्थात् जो शत्रुओं का वध करे वही शत्रुघ्न है।[771]

शब्दों के अर्थ को जानने वाले पृथ्वी के स्वामी राजा दिलीप ने अपने पुत्र का नाम रघु इसलिए रखा क्योंकि यह बालक शास्त्रों के पार भी जायेगा और युद्ध में शत्रुओं के पार भी जायेगा।[772] व्याकरणशास्त्र के अनुसार लघि धातु का अर्थ गति होता है। मल्लिनाथ व्याख्या में रघु शब्द की सिद्धि करते हैं।[773]

कुमारसम्भव में पर्वत से उत्पन्न होने के कारण सभी लोग उस कन्या को पार्वती कहकर पुकारने लगे।[774] रघु ने ब्राह्ममुहूर्त में जन्म लेने के कारण ब्रह्मा के ही अज इस नाम से अपने पुत्र का नाम अज रखा।[775]

रघुवंश में बालक का मनोहर शरीर देखकर वसिष्ठ जी ने संसार में सबसे अधिक मङ्गलकारी नाम राम रख दिया। कैकेयी के पुत्र का नाम भरत, सुमित्रा के यमज पुत्रों के नाम लक्ष्मण और शत्रुघ्न रखे गये ।[776] वाल्मीकि रामायण के अनुसार ग्यारह दिन पूर्ण

---

[769] मास्येते जातकर्म च।।याज्ञ०1.11

[770] नामाखिलस्य व्यवहारहेतुः शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतुः।
नाम्नैव कीर्तिं लभते मनुष्यस्ततः प्रशस्तं खलु नामकर्म।।
C.S. Radhakrishnan, *Kalidas New Perspectives*, New Bharatiya Book Corporation , Delhi , 2005, p-64

[771] आदिदेशाथ शत्रुघ्नं तेषां क्षेमाय राघवः।
करिष्यन्निव नामास्य यथार्थमरिनिग्रहात् ।।र०वं०15.6

[772] श्रुतस्य यायादयमन्तमर्भकस्तथा परेषां युधि चेति पार्थिवः।
अवेक्ष्य धातोर्गमनार्थमर्थविच्चकार नाम्ना रघुमात्मसम्भवम्।।र०वं० 3.21

[773]अधिवघिलघिगत्यर्थाः। लघिधातोर्गमनाख्योऽर्थः । लङिघबंह्योर्नलोपश्च इत्युप्रत्यये बालमूललघ्वलमङ्गुदीनां वा लो रत्वमापद्यते इति वैकलिपिके रेफादेशे रघुरिति रूपं सिद्धम् ।

[774] तां पार्वतीत्याभिजनेन नाम्ना बन्धुप्रियां बन्धुजनो जुहाव।।कु०स० 1.26

[775] ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम् ।
अतः पिता ब्रह्मण एव नाम्ना तमात्मजन्मानमजं चकार ।। र०व० 5.36

[776] राम इत्यभिरामेण वपुसा तस्य चोदितः।

होने के पश्चात् बारहवें दिन बालक का नामकरण करने का विधान है, वसिष्ठ जी ने श्रीराम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न का नामकरण जन्म से बारहवें दिन में सम्पन्न किया है।[777]

महर्षि वाल्मीकि ने सीता के ज्येष्ठ पुत्र का नाम लव इसलिए रखा क्योंकि लव के उत्पन्न होते समय सीता जी की प्रसव पीडा गाय के पूँछ के बाल से दूर की गई थी। लव शब्द का अर्थ गाय के पूँछ के बाल और छोटे बालक कुश के उत्पन्न होते समय प्रसव पीडा कुश से दूर की गई थी। इसलिए उस बालक का नाम हुआ कुश।[778]

पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार बालक का पिता दशमी रात्रि व्यतीत होने पर अर्थात् ग्यारहवें दिन बालक का नामकरण संस्कार करता है। शिशु का नाम दो अक्षर अथवा चार अक्षर वाला हो। नाम के प्रारम्भ में घोष वर्णों अर्थात् ह य व र ल ञ म ङ् ण न झ भ ग ढ़ ध ज ब ग ड द का प्रयोग होना चाहिए तथा नाम के मध्य में अन्तस्थ वर्णों अर्थात् य व र ल का प्रयोग करना चाहिए। अन्तिम वर्ण दीर्घ हो। बालक का नाम कभी भी तद्धित प्रत्ययान्त न करे। किन्तु कन्या का नाम तद्धित प्रत्ययान्त , विषमवर्णी जिसमे 3 अथवा 5 वर्ण हों तथा आकारान्त हो।[779] विष्णुपुराण के अनुसार नाम अर्थहीन , अविहित , अपशब्दयुक्त , अमाङ्गलिक और निन्दनीय नहीं होना चाहिए। उसके अक्षर समान होने चाहिए। अतिदीर्घ अतिलघु अथवा कठिन अक्षरों से युक्त नाम न रखे। जो सुखपूर्वक उच्चारण किया जा सके और जिसके पीछे के वर्ण लघु हो ऐसे नाम का व्यवहार करे।[780]

बोधायनगृह्यसूत्र के अनुसार दशवें और बारहवें दिन नामकरण संस्कार सम्पन्न करना चाहिए। विद्वान् स्वस्तिवाचन का उच्चारण कर प्रजापतिसूक्त से हवनादि क्रियायें सम्पन्न कर बालक का नाम रखे। नामकरण के सिद्धान्त के विषय में बोधायन और पारस्कर दोनों

नामधेयं गुरुश्चक्रे जगत्प्रथममङ्गलम् ।।र०वं० 10.67
कैकेय्यास्तन्यो जज्ञे भरतो नाम शीलवान् ।
जनयित्रीमलञ्चक्रे यः प्रश्रय इव श्रियम् ।।
सुतौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रा सुषुवे यमौ ।
सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव ।। र०वं० 10.70–71

[777] अतीत्यैकादशाहं तु नामकर्म तथाऽकरोत्।
ज्येष्ठं रामं महात्मानं भरतं कैकयीसुतम्।
सौमित्रिं लक्ष्मणमिति शत्रुघ्नमपरं तथा।
वसिष्ठः परमप्रीतो नामानि कृतवान् तदा ।।वा०रा० 1.18.20–21

[778] स तौ कुशलवोन्मृष्टगर्भक्लेदौ तदाख्यया ।
कविः कुशलवावेव चकार किल नामतः।।र०वं० 15.32

[779] दशम्यामुत्थाप्य ब्राह्मणान्भोजयित्वा पिता नाम करोति । द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तरस्थं दीर्घाभिनिष्ठानं कृतं कुर्यान्न तद्धितम् ।।अयुजाक्षरमाकारान्तं स्त्रियै तद्धितम्।।पा०गृ०सू०1.17.1–3

[780] नार्थहीनं न चाशस्तं नापशब्दयुतं तथा ।
नामङ्गल्यं जुगुप्स्यं वा नाम कुर्यात् समाक्षरम् ।।
नातिदीर्घं नातिह्रस्वं नातिगुर्वक्षरान्वितम् ।
सुखोच्चार्यं तु तन्नाम कुर्यात् यत्प्रवणाक्षरम्। वि०पु० 3.10.10–11

आचार्यों का प्रायः समान ही मत है। बोधायन यह मानते हैं कि नाम दो, चार, छः या आठ अक्षरों तक रख सकते हैं जबकि पारस्कर दो अक्षर और चार अक्षरों की ही बात करते हैं।[781] मनु कहते है बालक का नामकरण संस्कार दसवें या बारहवें दिन पुण्य तिथि मुहूर्त तथा गुणवान् नक्षत्र में ही करना चाहिए।[782] कुल्लूकभट्ट ने मनुस्मृति की टीका में शंख आचार्य के वचन को उद्धृत किया है। आशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते।[783] इस शंख आचार्य के वचन के अनुसार दसवाँ दिन व्यतीत होने पर ग्यारहवें दिन नामकरण करना चाहिए। याज्ञवलक्य स्पष्ट रूप से ग्यारहवें दिन ही नाम करण संस्कार की बात करते हैं।[784]

3.8 निष्क्रमण संस्कार एवम् अन्नप्राशन तथा कालिदासीय सन्दर्भ

यद्यपि कवि कालिदास ने निष्क्रमण संस्कार जो शिशु के जन्म के चौथे महीने में और अन्नप्राशन[785] संस्कार जो छटे महीने में सम्पन्न होता है, उनका स्पष्ट उल्लेख तो नहीं किया है किन्तु पुपोष वृद्धिम्[786] कहकर संकेत अवश्य दिया है। पारस्कर गृह्य सूत्र के अनुसार जन्म के बाद जब शिशु को घर से बाहर लाया जाता है तो सर्वप्रथम तच्चक्षुर्देवहितम्।[787] इस मन्त्र को बोलकर सूर्य का दर्शन कराया जाता है। यह संस्कार प्रायः बालक के जन्म से चौथे महीने में सम्पन्न होता है।[788] मनु और याज्ञवल्क्य भी चौथे महीने में निष्क्रमण संस्कार का विवेचन करते हैं।[789] शिशु के जन्म के छटे महीने में उसे अन्न खिलाया जाता है। इसलिए इस संस्कार को अन्नप्राशन कहा जाता है। छः मास तक वह केवल माता के दूध पर ही आश्रित होता है। छः मास के बाद उसका शरीर विकसित हो जाता है अब उसे कुछ अधिक मात्रा में पोषण तत्त्व अपेक्षित होता है। आयुर्वेद के आचार्य सुश्रुत के अनुसार छः महीने के बाद शिशु को लघु (हल्का) और

---

[781] दशम्यां द्वादश्यां वा नामकरणम्।। प्राजापत्येन सूक्तेन हुत्वा ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहं स्वस्ति ऋद्धिमिति वाचयन्नामास्मै दधाति।। द्वयक्षरं चतुरक्षरं षडक्षरमष्टाक्षरं वा।।घोषवदाद्यन्तरन्तस्थं दीर्घाभिनिष्ठानान्तम्।। यथैवैषां पूर्वपुरुषाणां नामानि स्युः। अयुगक्षरं कुमार्याः।।अमुस्मै स्वस्तीति।।बो०गृ०सू० 2.1.23–31

[782] नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत् ।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ।। मनु० 2.30

[783] मनु० 2.30, कुल्लुक भट्ट व्याख्या में

[784] अहन्येकादशे नाम ।। याज्ञ०1.12

[785]षष्ठे मासेऽन्नप्राशनम् ।।पा०गृ०सू० 1.19.1, षष्ठे मास्यन्नप्राशनम् ।।ब्राह्मणानन्नेन परिविष्य पुण्याहं स्वस्ति ऋद्धिमिति वाचयित्वा।।बो०गृ०सू०2.3.1–2, षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मङ्गलं कुले।।मनु०2.34

[786] पितुः प्रयत्नात् स समग्रसम्पदः शुभैः शरीरावयवैर्दिने दिने।
पुपोष वृद्धिं हरिदश्वदीधितेरनुप्रवेशादिव बालचन्द्रमाः।।र०वं० 3.22

[787] तच्चक्षुर्देवहितम् पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतँ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्।।यजु०36.24

[788] चतुर्थे मासि निष्क्रमणिका ।। सूर्यमुदीक्षयति तच्चक्षुरिति।।पा०गृ०सू०1.17.17

[789] चतुर्थे मासि कर्त्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् ।। मनु०2.24
चतुर्थे मासि निष्क्रमः।।याज्ञ०1.12

हितकारी अन्न खिलाना चाहिए। [790] ये अन्नप्राशनादि संस्कार उत्सव के रूप में मनायें जाते हैं। जिससे व्यक्ति के संस्कृत करने में समाज की प्रसन्नता भी प्रकट हो। उसके विकास में समाज का दायित्व भी आहूत किया जा सके।

3.9 चूडाकरण संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

शिशु के सिर के केशों को सर्वप्रथम जब काटा जाता है तो इस संस्कार को चूडाकरण संस्कार कहा जाता है। कवि कालिदास ने इस संस्कार की चर्चा रघुवंश महाकाव्य में की है स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैः।[791] पारस्कर गृह्यसूत्र ,बोधायन गृह्यसूत्र एवं मनुस्मृति के अनुसार शिशु के एक वर्ष या तीन वर्ष का होने पर इस संस्कार को सम्पन्न करना चाहिए।[792] आपस्तम्भ एवम् आश्वालायन चूडाकरण संस्कार को तीसरे वर्ष तथा अपने–अपने कुलधर्म के अनुसार करने का विधान करते हैं।[793] चूडाकरण कुलनियमानुसार होना चाहिए ऐसा याज्ञवल्क्य का मत है।[794] इस संस्कार का प्रयोजन शिशु के लिए दीर्घ आयु ,सौन्दर्य तथा कल्याण की प्राप्ति है।[795]

3.10 विद्यारम्भ संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

विद्यारम्भ संस्कार वह संस्कार जब शिशु लिपि का ज्ञान या अक्षर का ज्ञान सीखना प्रारम्भ करता है। यहीं से उसकी शिक्षा की यात्रा प्रारम्भ होती है। कवि कालिदास लिखते हैं रघु ने अपने मन्त्री के पुत्रों के साथ वर्णमाला का ज्ञान प्राप्त किया। इस के बाद वर्णमाला के बोध से वाङ्मय में प्रवेश कर लिया जैसे नदी के सहारे कोई मगरमच्छ समुद्र में प्रवेश कर लेता है।[796] मल्लिनाथ व्याख्या में लिखते हैं कि शिशु का विद्यारम्भ संस्कार पाँचवा वर्ष प्रारम्भ होने पर सम्पन्न करना चाहिए।[797] कालिदास का स्पष्ट मत है कि शैशवकाल से ही विद्या का अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए।[798] आचार्य कौटिल्य कहते हैं कि मुण्डन संस्कार के बाद वर्णमाला और अंकमाला का अभ्यास करना चाहिए। उपनयन के बाद

---

[790] षण्मासाच्चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितञ्च ।।सुश्रु०,शरीरस्थानम्,10.54, पृ० 81
[791] र०वं० 3.28
[792] सांवत्सरिकस्य चूडाकरणम्।। तृतीये वाऽप्रतिहते ।। पा०गृ०सू० 2.1.1–2
सम्वतसरे चूडाकर्म त्रिषु वा सम्वत्सरेषु।।बो०गृ०सू०2.4.1
चूडाकर्मद्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्त्तव्यं श्रुतिचोदनात्।।मनु०2.35
[793] जन्मनोऽधि तृतीये वर्षे चौलम् पुनर्वस्वोः।।आप०गृ०सू० 16.3
यथा वैषां कुलधर्मः स्यात् ।।आप०गृ०सू० 16.7
तृतीये वर्षे चौलं यथाकुलधर्मम्।।मनु०2.35, कुल्लूकभट्ट व्याख्या में
[794] चूडा कार्या यथाकुलम् ।।याज्ञ० 1.12
[795] तेन ते आयुषे वपामि सुश्लोकाय स्वस्तये।।आ०गृ०सू०1.17.12
[796] अमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः।।लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत्।। र०वं० 3.28
[797] प्राप्ते तु पञ्चमे वर्षे विद्यारम्भञ्च कारयेत्।। र०वं०3.28, मल्लिनाथ व्याख्या में विवेचित
[798] शैशवेऽभ्यस्तविद्यानाम्।।र०वं०1.8,पृ०103

राजा को सदाचारशील विद्वान् आचार्यों से त्रयी , अन्वीक्षिकी , वार्त्ता तथा दण्डनीति का अध्ययन करना चाहिए।[799]

3.11 उपनयन संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

उपनयन शब्द का अर्थ है बालक को आचार्य के समीप में ले जाना। उप समीपे आचार्यादीनां वटोर्नीतिर्नयनं प्रापणमुपनयनम्। उपनयन संस्कार वह संस्कार है जिसके द्वारा व्यक्ति गुरु, वेद, यम, नियम, व्रत और देवता के सामीप्य के लिए दीक्षित किया जाता है।[800] याज्ञवल्क्य भी कहते हैं कि गुरु शिष्य का उपनयन संस्कार सम्पन्न कर उसे महाव्याहृतिपूर्वक वेद पढ़ावे तथा उसे शौच आचार आदि की शिक्षा प्रदान करे।[801] कवि कालिदास लिखते हैं कि ग्यारहवें वर्ष में शास्त्रानुकूल उपनयन करने के बाद गुरुजनों के प्रिय रघु को विद्वान् गुरुजनों ने शिक्षा दी और वे रघु के विषय में सफल परिश्रम वाले हुए क्योंकि शिक्षा यदि सत्पात्र को दी जाती है तो वह अवश्य ही फल देने वाली होती है।[802] कवि अभिज्ञानशाकुन्तल में लिखते हैं कि योग्य विद्यार्थी को पढ़ाई गयी विद्या कभी शोचनीय नहीं होती है।[803]

आचार्य पाणिनि भी सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः।[804] इस सूत्र में उपनयन संस्कार का आचार्यकरण शब्द से कथन करते हैं। सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या तत्त्वबोधिनी में सूत्र में आये आचार्यकरण शब्द की व्याख्या में लिखा है कि केवल उपनय करने मात्र से आचार्यत्व नहीं प्राप्त होता है अपितु उपनयनसंस्कार सम्पन्न कराकर वेदाध्ययन कराने से ही आचार्यत्व प्राप्त होता है।[805] सम्मानन, उत्सञ्जन, आचार्यकरण इत्यादि अर्थों में वर्तमान णीञ् प्रापणे धातु से आत्मनेपद होता है। आचार्यकरण अर्थ में आचार्यः माणवकम् उपनयते।

---

[799] वृत्तचौलकर्मा लिपिं सङ्ख्यानं चोपयुञ्जीत । वृत्तोपनयनस्त्रयीमान्वीक्षिकीं च शिष्टेभ्यः , वार्त्तामध्यक्षेभ्यः , दण्डनीतिं वक्तृप्रयोक्तृभ्य ।। अर्थ०1. 2.4 , पृ०14

[800] गुरोर्व्रतानां वेदस्य यमस्य नियमस्य च ।
देवतानां समीपं वा येनासौ नीयतेऽसौ।।
श्रीधर पाठक, धर्मशास्त्रीय विषयों का परिशीलन , मिथिला संस्कृत विद्यापीठ , दरभङ्गा,1999, पृ०225

[801] उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम् ।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत् ।। याज्ञ०1.15

[802] अथोपनीतं विधिवद्विपश्चितो विनिन्युरेनं गुरवो गुरुप्रियम् ।
अवन्ध्ययत्नाश्च बभूवुरत्र ते क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति।।र०वं०3.29

[803] वत्से सुशिष्या परिदत्ता विद्येवाशोचनीयासि संवृत्ता।।अ०शा०,4, पृ०63

[804] पा०सू० 1.3.6

[805] उपनयनपूर्वकेणेति। उपनयनं–– वटुसंस्कारः।तस्य परगामित्वात्परस्मैपदं प्राप्ते अनेनात्मनेपदं विधीयते। नह्युपनयनमात्रेण आचार्यत्वं भवति किं तु तत्पूर्वकाध्यापनेनेत्याचार्यकरणस्य प्रयोगोपाधित्वं परपरया ज्ञेयम्। ष्ठपनीय ददद्वेदमाचार्यः स उदाहृतः इति स्मृतिः।। सि०कौ० ,तत्त्वबोधिनीव्याख्या

गर्भ के आठवें वर्ष में ब्राह्मण, ग्याहरवें वर्ष क्षत्रिय और वैश्य का बारहवें वर्ष में उपनयन संस्कार सम्पन्न करना चाहिए। स्नानादि से निवृत्त होकर आचार्य बालक को यज्ञोपवीत धारण करवाता है।[806]मनु कहते हैं उत्कृष्ट ब्रह्मतेज की कामना करने वाले ब्राह्मण का पाँचवे वर्ष में, बल की इच्छा रखने वाले क्षत्रिय का छठे वर्ष में तथा इस संसार में धन की अभिलाषा रखने वाले वैश्य बालक का आठवें वर्ष में उपनयन संस्कार कराना चाहिए।[807]

ब्रह्मचारी उपनयन संस्कार के अनन्तर वेद का अध्ययन एवं धनुर्विद्या इत्यादि को प्रारम्भ कर देता है। रघु के पिता दिलीप स्वयं ही धनुर्वेद के ज्ञाता थे इसलिए रघु ने अपने पिता से ही धनुर्विद्या का अध्ययन प्रारम्भ किया। यहाँ कवि वर्णन करते हैं कि रघु जब धनुर्विद्या सीख रहा है तो रघु ने रुरु मृग के चर्म से बना उत्तरीय वस्त्र धारण किया हुआ है।[808] भगवान् शंकर जब ब्रह्मचारी का वेश धारण कर माता पार्वती के समक्ष उपस्थित हुए तो उस समय उन्होंने मृगचर्म धारण किया हुआ था और उनके हाथ में पलाश का दण्ड था। यहाँ कवि ने मृगचर्म के लिए अजिन शब्द का प्रयोग किया है।[809] जिसका अर्थ मल्लिनाथ ने कृष्णमृगचर्म किया है। बोधायन गृह्य सूत्र के अनुसार तथा मनुस्मृति के अनुसार किस वर्ण के ब्रह्मचारी को कोन सा उत्तरीय वस्त्र धारण करना चाहिए , इस विषय का वर्णन किया गया है । ब्राह्मण ब्रह्मचारी कृष्णमृग के चर्म से निर्मित उत्तरीय वस्त्र धारण करे ,क्षत्रिय ब्रह्मचारी रुरुमृग के चर्म से निर्मित उत्तरीय वस्त्र धारण करे। वैश्य ब्रह्मचारी अजचर्म से निर्मित उत्तरीय वस्त्रादि धारण करे। बोधायन गृह्यसूत्र में दण्ड का भी वर्णन किया गया है किस वर्ण के ब्रह्मचारी को कोन सा दण्ड धारण करना चाहिए। ब्राह्मण ब्रह्मचारी को पलाश या बिल्व का, क्षत्रिय ब्रह्मचारी को बरगद का दण्ड और वैश्य को

---

[806] गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयीत गर्भैकादशेषु राजन्यं गर्भद्वादशेषु वैश्यम्।।
वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यं वर्षासु रथकारमिति । सर्वानेव वा वसन्ते।।स्नातं शुचिवाससं बद्धशिखं यज्ञोपवीतं प्रतिमुञ्चन् वाचयति । यज्ञोपवीतं परम पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात् । आयुष्यमग्रियं प्रतिमुञ्च शुभ्र यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः।।बो०गृ०सू० 2.5.1,6,7,
अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद्गर्भाष्टमे वा ।। एकादशवर्षं राजन्यम्।। द्वादशवर्षं वैश्यम् । यथामङ्गलं वा सर्वेषाम्।।पा०गृ०सू०2.2.1–4, गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् । गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः।।मनु० 2.36
गर्भाष्टमेऽष्टमे वाऽब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
राज्ञामेकादशे सैके विशामेके यथाकुलम् ।।याज्ञ०1.14

[807] ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे ।
राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ।।मनु०2.37

[808] त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीमशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत् ।
न केवलं तद्गुरुरेकपार्थिवः क्षितावभूदेकधनुर्धरोऽपि सः।।र०व० 3.31

[809] अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग्ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा ।
विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा ।।कु०स० 2.30

बेर के दण्ड का विधान किया गया है।[810] ब्रह्मचारी वेश में भगवान् शंकर ने पलाश का दण्ड धारण किया हुआ है।

3.12 वेदारम्भसंस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

भारत की शिक्षा व्यवस्था प्राचीन काल से ही सुदृढ़ रही है भारतीय कवियों ने अपनी–अपनी रचनाओं के माध्यम से लोगों को अध्ययन के लिए प्रेरित किया है, चाणक्य लिखते हैं कि वे माता–पिता वैरी हैं जो अपने बच्चों को शिक्षित नहीं करते क्योंकि उनके वे बच्चें सभा में उसी प्रकार सुशोभित नहीं होते जिस प्रकार हंसों की सभा में बगुले सुशोभित नहीं होते।[811] कवि कालिदास का मानना है कि पुत्र और पुत्रियों को बाल्यावस्था से ही विद्याओं का अभ्यास करना चाहिए। इसीलिए भारतीय परम्परा में बाल्यावस्था में उपनयनसंस्कार के अनन्तर ही वेद आदि विद्याओं का अध्ययन प्रारम्भ हो जाता है। गायत्री मन्त्र की दीक्षा के बाद ब्रह्मचारी वेद वेदाङ्ग आदि शास्त्रों का अध्ययन प्रारम्भ कर देता है। विष्णुपुराण के अनुसार उपनयन संस्कार हो जाने पर विधिपूर्वक वेदाध्ययन करना चाहिए।[812] जो उपनयन संस्कार कराकर शिष्य को वेद पढ़ाता है उसे आचार्य कहा गया है ।[813] निरुक्त के अनुसार आचार्य वह है जो शिष्य को आचार का ग्रहण करवाता है ,ज्ञान के विभिन्न विषयों को विधिपूर्वक व्यवस्थित करता है तथा शिष्य की बौद्धिक शक्ति को विधिपूर्वक विकसित करता है।[814] अमरकोश के अनुसार जो मन्त्र की व्याख्या करने वाले है अर्थात् वेद का अध्यापन कराने वाले हैं उन्हें आचार्य की संज्ञा दी गई हैं।[815] छः अंगों व्याकरण, निरुक्त, शिक्षा,कल्प, छन्द, ज्योतिष के सहित जो वेदों का अध्ययन करता है उस आचार्य को अनूचान कहा गया है।[816] कवि ने कुमारसम्भव में शिव का दर्शन कर

---

[810] अथस्मा अजिनं प्रतिमुञ्चन् वाचयति– कृष्णाजिनं ब्राह्मणस्य । रौरवं राजन्यस्य । बस्ताजिनं वैश्यस्य । सर्वेषां वा कृष्णाजिनम् ।। अथास्मै दण्डं प्रयच्छति । पालाशं बैल्वं वा ब्राह्मणस्य । नैयग्रोधं स्कन्धजमवाङ्ग्रं रौहीतकं वा राजन्यस्य । बादरमौदुम्बरं वा वैश्यस्य । सर्वेषां वा वार्क्षम् ।। सोमोसि सोमपं मा कुरु इति पालाशम् । ब्रह्मवर्चसमसि ब्रह्मवर्चसाय त्वा इति बैल्वम् । ओजोस्योजो मयि धेहि इति नैयग्रोधम् । बलमसि बलं मयि धेहि इति रौहीतकम् । पुष्टिरसि पुष्टिं मयि धेहि इति बादरम् । ऊर्गस्यूर्जं मयि धेहि इत्यौदुम्बरम्।।बो०गृ०सू०2.5. 16–23
कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च।।मनु०2.41

[811] माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्य हंसमध्ये बको यथा ।।चा०नी० 2.11,पृ० 23

[812] ततोऽनन्तरसंस्कारसंस्कृतो गुरुवेश्नि ।
यथोक्तविधिमाश्रित्य कुर्याद्विद्यापरिग्रहम् ।।वि०पु० 3.10.12

[813] उपनीय ददद्वेदमाचार्यः स उदाहृतः।।याज्ञ० 1.34

[814] आचार्य आचारं ग्राहयति । आचिनोत्यर्थान् । आचिनोति बुद्धिमिति ।। नि०1.4, निपात निरूपण,पृ०106

[815] मन्त्रव्याख्याकृदाचार्यः।।अ०को० 2., ब्रह्मवर्ग , श्लोक 7

[816] अनूचानः प्रवचने साङ्गेऽधीती गुरोऽस्तु यः।। अ०को०, द्वितीयकाण्ड,ब्रह्मवर्ग,10

प्रसन्न वेद वेदाङ्ग के ज्ञाता सप्तर्षियों के लिए अनूचान शब्द का प्रयोग किया है।[817] महर्षि वाल्मीकि अनूचान है जिन्होंने लव और कुश को वेद वेदाङ्ग का अध्ययन कराया।[818] रघुवंश में राजा दिलीप को वेद वेदाङ्ग का ज्ञाता सभी विद्याओं में निष्णात कहा गया है।[819]

महाभाष्यकार आचार्य पतञ्जलि के अनुसार ब्राह्मण को छः अंगों के सहित वेदों का अध्ययन करना चाहिए।[820] यज्ञ, तप और सभी प्रकार के शुभ कर्मों का ज्ञान कराने के कारण वेद ही परम कल्याणकारी है।[821] सप्तर्षि शिव से कहते हैं कि हमने जो नियमपूर्वक वेदों का अध्ययन किया है, विधिपूर्वक वेदमन्त्रों से जो अग्नि में आहुति दी है, आज उसी का फल हैं कि आपने हमें स्मरण किया है।[822] विधिपूर्वक वेदादि शास्त्रों के अध्ययन से प्राप्त विद्या एक साथ ज्ञान और विनय को जन्म देती हैं।[823] सत्पुरुषों का यह स्वभाव होता है कि ज्ञानादि की समृद्धि से वे विनम्र हो जाते हैं। जैसे वृक्ष फलों के लगने पर झुक जाते हैं।[824] विनम्रता एक ऐसा आभूषण है जो व्यक्ति को सुन्दर बना देता है।[825] कवि ने स्पष्ट शब्दों में कहा कि शिक्षा से विनय की प्राप्ति होती है[826] और यदि शिक्षा प्राप्त करने के बाद हम विनम्र नहीं हुए तो हम शिक्षित होकर के भी अशिक्षित ही है। वेदारम्भ संस्कार का उल्लेख व्यासस्मृति में किया गया है।[827]

कालिदास ने चार विद्याओं की चर्चा की है, उनके अनुसार राजा रघु ने अपनी बुद्धि के गुणों के द्वारा चारों विद्याओं को उसी प्रकार पार कर लिया जैसे भगवान् सूर्य अपने पवन से भी तेज गति से चलने वाले घोड़ों से चारों दिशाओं को पार कर देते हैं।[828] भारतदेश शिक्षा में प्राचीनकाल से ही सर्वश्रेष्ठ रहा है, यहाँ की यह परम्परा रही है कि विद्या

---

[817] इदमूचुरनूचानाः प्रीतिकण्टकितत्वचः।।कु०स० 6.15

[818] साङ्गञ्च वेदमध्याप्य किञ्चिदुत्क्रान्तशैशवौ ।
स्वकृतिं गापयामास कविप्रथमपद्धतिम् ।। र०वं० 15.33

[819] विद्यानां पारदृश्वनः।। र०वं०1.23 विद्यानां वेदवेदाङ्गादीनां पारदृश्वनः पारमन्तं दृष्टवतः। मल्लिनाथव्याख्या

[820] ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च इति। पस्पशा०

[821] यज्ञानां तपसां चैव शुभानां चैव कर्मणाम् ।
वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः ।।याज्ञ०1.40

[822] यद्ब्रह्म सम्यगाम्नातं यदग्नौ विधिना हुतम् ।
यच्च तप्तं तपस्तस्य विपक्वं फलमद्य नः।।कु०स० 6.16

[823] सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव।।र०वं०10.71

[824] भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै र्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्।। अ०शा० 5.12

[825] अधिकं शुशुभे शुभंयुना द्वितयेन द्वयमेव सङ्गतम् ।
पदमृद्धमजेन पैतृकं विनयेनास्य नवञ्च यौवनम् ।।र०वं० 8.6

[826] स्वाभाविकं विनितत्वं तेषां विनयकर्मणा।।र०वं० 10.79

[827] व्या०स्मृ० 1.14

[828] धियः समग्रैः स गुणैरुदारधीः क्रमाच्चतस्रश्चतुरर्णवोपमाः ।
ततार विद्याः पवनातिपातिभिर्दिशो हरिद्भिर्हरितामिवेश्वरः।।र०वं 3.30

अध्ययन के अनन्तर ही गुरु गृहस्थ धर्म में प्रवेश हेतु आज्ञा देते थे। इसका कारण यह भी रहा है कि यदि कोई अशिक्षित व्यक्ति राजा बन जाता है, जिसने दण्डनीति अर्थात् राजनीति का अध्ययन नहीं किया है तो वह शासन चलाने में समर्थ नहीं हो सकता। इसीलिए रघुवंश में राजा कुश ने सर्वप्रथम अपने पुत्र को कुलविद्या अर्थात् आन्वीक्षिकी , त्रयी ,वार्ता और दण्डनीति का अध्ययन कराया तदनन्तर ही उन्हें द्वितीय आश्रम में प्रवेश की अनुमति प्रदान की।[829]

कालिदास ने राजा सुदर्शन की विद्या अध्ययन की विशेषता का वर्णन करते हुए कहा कि राजा सुदर्शन ने धर्म, अर्थ और काम के फल को देने वाली त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति इन तीनों विद्याओं को इतनी शीघ्रता से सीख लिया मानों उन्होंने इन विद्याओं का पूर्व जन्म में ही अध्ययन कर लिया हो।[830]

आचार्य चाणक्य ने अर्थशास्त्र में चार विद्याओं का विवेचन किया है आन्वीक्षिकी ,त्रयी ,वार्ता,दण्डनीति। उनका मत है कि विद्याओं की वास्तविकता यही है कि उनसे धर्म और अधर्म के यथार्थ स्वरूप का बोध हो, त्रयीविद्या जो वेदविद्या है उससे धर्म और अधर्म का बोध होता है, इस वेदत्रयी प्रतिपादित धर्म के द्वारा रक्षा की हुई प्रजा सदा सुखी रहती है। कभी क्लेश को प्राप्त नहीं होती है। वार्ता विद्या के अन्तर्गत कृषि , पशुपालन , वाणिज्य आता है यह वार्ता विद्या धान्य, पशु , हिरण्य , ताँबा आदि अनेक प्रकार की धातु और सेवक देने से राजा और प्रजा का उपकार करने वाली है। इसी वार्ताविद्या से उत्पन्न कोश और सेना से राजा अपनी प्रजा को तथा शत्रु को वश में कर लेता है। यह वार्ताविद्या समय से खेतों में बीज आदि बोने से सफलता और समय पर न बोने से असफलता देने वाली है इसीलिए आचार्य चाणक्य ने इस विद्या को अर्थ और अनर्थ से युक्त बताया है। आन्वीक्षिकी विद्या त्रयी आदि विद्याओं की प्रधानता और अप्रधानता को युक्तियों से निर्धारित करती है, दुःख और सुख में बुद्धि को ठीक रखती है, सोचने , विचारने, बोलने और कार्य करने में चतुराई को पैदा करती है, इसलिए यह लोक का उपकार करने वाली है। दण्डनीति के विषय में चाणक्य कहते हैं आन्वीक्षिकी त्रयी और वार्ता इन सबके योग और क्षेम का साधन दण्ड ही है ,दण्ड के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करने के कारण इसे दण्डनीति कहा जाता है। यह दण्डनीति हि अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त कराने वाली , प्राप्त पदार्थों की रक्षा करने वाली, सुरक्षित पदार्थों की

---

[829] तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदां वरः।
पश्चात् पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत् पिता ।।र०वं० 17.3,पृ० 236

[830] स पूर्वजन्मान्तरदृष्टपाराः स्मरन्निवाक्लेशकरो गुरूणाम्।
तिस्रस्त्रिवर्गाधिगमस्य मूलं जग्राह विद्याः प्रकृतीश्च पित्र्याः।।र०वं० 18.50, पृ० 173

वृद्धि करने वाली और वृद्धि को प्राप्त हुए पदार्थों को उचित स्थानों में लगाने वाली होती है ,संसार की लोकयात्रा इसी उचित दण्डनीति पर निर्भर है।[831]

आचार्य कामन्दक ने सभी विद्याओं के विचार का प्रधान हेतु होने से आन्वीक्षिकी को आत्मविज्ञान , धर्म अधर्म की व्यवस्था का प्रधान हेतु वेदत्रयी, व्यवस्थापित धर्मप्रधान लोक के अर्थ और अनर्थ का हेतु वार्ता (कृषि गौरक्षा वाणिज्यादि), एवं इन सबकी व्यवस्था में विघ्नों के निवारण के लिए न्याय और अन्याय की व्यवस्था के लिए दण्डनीति को माना है इस प्रकार वे भी चार विद्याओं को स्वीकार करते हैं। ये चारों विद्यायें लोक की व्यवस्था की हेतु कही गयी हैं।[832] ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तीन वेद त्रयी कहे गये हैं। वेदत्रयी में प्रतिपादित विधि के अनुसार धर्म का आचरण करने से इस लोक और परलोक दोनों की प्राप्ति होती है। यहाँ आचार्य कामन्दक ने कहा कि वेदत्रयी से केवल तीनों वेदों का ही ग्रहण नहीं होता अपितु चारों वेद, मीमांसा, न्यायशास्त्र सांख्यादि, धर्मशास्त्र मनुस्मृति आदि, पुराणादि ये सभी त्रयी शब्द वाच्य हैं।[833] कालिदास ने वेदत्रयी विषयक सुन्दर उपमा मालविकाग्निमित्र में दी है। कवि वर्णन करते हैं कि साधुनी वेशवाली कौशिकी के साथ सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से सजी हुई महारानी ऐसी दिखाई पड़ रही हैं मानो अध्यात्म विद्या के साथ तीनों वेदों की देवी शरीर धारण किए हुए चली आ रही हो।[834]

आचार्य कामन्दक का मत है कि आन्वीक्षिकी विद्या वेदत्रयी का ही विभाग है। इसलिए मनु के अनुयायी तीन ही विद्याओं वेदत्रयी , वार्ता और दण्डनीति को मानते हैं।[835] कवि

---

[831] आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तादण्डनीतिश्चेति विद्याः।। चतस्र एव विद्या इति कौटिल्यः।। ताभिर्धर्मार्थौ यद्विद्यात्तद्विद्यानां विद्यात्वम्।। धर्माधर्मौ त्रय्याम्।। अ०शा०1.2,विनयाधिकारिक , पृ० 8–9
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ।। अ०शा०1.3.17,विनयाधिकारिक , पृ० 12
कृषिपाशुपाल्येवाणिज्या च वार्ता । धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिप्रदानादौपकारिकी तया स्वपक्षं परपक्षञ्च वशीकरोति कोशदण्डाभ्याम्।। अ०शा०1.4.1–3 , विनयाधिकारिक,पृ० 12
अर्थानर्थौ वार्तायाम्।। अ०शा०1.2.11. विनयाधिकारिक,पृ० 9
बलाबले चौतासां हेतुभिरन्वीक्षमाणा लोकस्योपकरोति व्यसनेऽभ्युदये च । बुद्धिम् अवस्थापयति प्रज्ञावाक्यक्रियावैशारद्यञ्च करोति।। अ०शा०1.2.12. विनयाधिकारिक,पृ० 9
आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डः । तस्यनीतिर्दण्डनीतिः। अलब्धलाभार्था लब्धपरिरक्षणी रक्षितविवर्धिनी वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादनी च । तस्यामायत्तालोकयात्रा ।। यथार्हदण्डः पूज्यः।। अ०शा० 1.4.13, विनयाधिकारिक,पृ०13

[832] आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती ।
विद्याश्चतस्रः एवैता लोकसंस्थितिहेतवः।।का०नी०2.2
आन्वीक्षिक्यात्मज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ ।
अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयेतरौ।। का०नी० 2.7

[833] ऋग्यजुःसामनामानस्त्रयो वेदास्त्रयी स्मृता ।
उभौ लोकाववाप्नोति त्रय्यां तिष्ठन् यथाविधि।।का०नी० 2.12
अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणञ्च त्रयीदं सर्वमुच्यते।।का०नी० 2.13

[834] महासारप्रसवयोः सदृशक्षमयोर्द्वयोः।
धारिणीभूतधारिण्योर्भव भर्ता शरच्छतम् ।।मा०वि०1.15

[835] त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिस्तिस्रो विद्या हि मानवाः।

कालिदास ने धियः समग्रै स गुणैः[836] के द्वारा बुद्धि के जिन गुणों की चर्चा की है उनका विवेचन आचार्य कामन्दक ने नीतिसार में किया है गुरु की सेवा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊहापोह, अर्थविज्ञान , तत्त्वज्ञान ये बुद्धि के गुण हैं।[837] इन बुद्धि के गुणों के द्वारा ही रघु चारों विद्याओं में निष्णात हुए। कालिदास रघु के पुत्र अज के विषय में भी कहते हैं अज ने अपने गुरुजनों से विधिवत् विद्या ग्रहण की। यहाँ कवि ने उपात्तविद्यम्[838] शब्द का प्रयोग अज के लिए किया है अर्थात् जिसे विद्या प्राप्त हो चुकी है। अज ने गुरुजनों से इन सभी शास्त्रो का अध्ययन विधिपूर्वक सम्पन्न किया। ब्रह्मचारी को गुरुकुल में वेदादि शास्त्रों के साथ साथ धनुर्वेद आदि का भी अध्ययन कराया जाता था। ब्रह्मचारी धनुर्वेद में निष्णात होते थे। रघुवंश में महर्षि विश्वामित्र ने श्रीराम को मन्त्रयुक्त शत्रुनाशक अस्त्र का ज्ञान प्रदान किया।[839] महर्षि वाल्मीकि ने श्रीराम को वेद, वेदाङ्ग और धनुर्वेद में निष्णात बताया है।[840]

जो शस्त्र और शास्त्र दोनों में निष्णात तथा जो अकेले ही 10000 हजार योद्धाओं के साथ युद्ध करने का सामर्थ्य रखता था उसे महारथी कहा जाता था।[841] महाराज दशरथ शस्त्र और शास्त्र दोनों में प्रवीण थे। कवि ने दशरथ के लिए महारथ शब्द का प्रयोग किया है।[842]

राजा दिलीप भी शास्त्रों में निष्णात थे और धनुष चलाने में भी पारङ्गत थे।[843] कवि कालिदास ने दो विद्याओं बला और अतिबला की चर्चा की है। जिस विद्या को सीखने पर उसका पाठ करने पर भूख प्यास नहीं लगती हैं बल्कि उबड़ खाबड़ मार्ग में चलने पर भी इस प्रकार अनुभव होता है कि मानों महल में घूम रहे हो।[844] इसी बला और अतिबला भूख प्यास न लगने की विद्या का उल्लेख रामायण में महर्षि वाल्मीकि ने किया है।[845]

त्रय्या एव विभागोऽयं येयमान्वीक्षिकी मता।। का०नी० 2.3

[836] र०वं 3.30

[837] शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा ।
ऊहाऽपोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वविज्ञानञ्च धीगुणाः।।का०नी० 4.21

[838] उपात्तविद्यं विधिवद् गुरुभ्यस्तं यौवनोद्भेदविशेषकान्तम् ।। र०वं०5.38

[839] नैऋतघ्नमथ मन्त्रवन्मुनेः प्रापदस्त्रमवदानतोषितात् ।।र०व० 11.21

[840] वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ।।वा०रा०1.1.14

[841] एको दश सहस्राणि बोधयेद्यस्तु धन्विनाम् ।
शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च स महारथ उच्यते ।।र०व० 9.1, मल्लिनाथव्याख्या में वर्णित

[842] दशरथः प्रशशास महारथः।।र०वं० 9.1

[843] शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता।। र०व० 1.19

[844] तौ बलातिबलयोः प्रभावतो विद्ययोः पथि मुनिप्रदिष्टयोः।
मम्लतुर्न मणिकुट्टिमोचितो मातृपार्श्वपरिवर्तिनाविव।।र०वं० 11.9

[845] क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते नरोत्तम ।

3.13 केशान्त संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

केशान्त संस्कार में ब्रह्मचारी के दाढ़ी मूँछ का सर्व प्रथम क्षौर कर्म होता है। इनकी क्षौर क्रिया के साथ युवा ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य और सदाचरण का स्मरण दिलाया जाता है। केशान्त का अपर नाम गोदान भी है। यहाँ गोदान का अर्थ है गावो लोमानि केशा दीयन्ते खण्ड्यन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या गोदानं केशान्ताख्यं कर्म[846] अर्थात् जिस संस्कार में केशों को काटा जाय वह केशान्त संस्कार है। कवि कालिदास ने केशान्त संस्कार के लिए गोदान शब्द का प्रयोग किया है।[847] मनु कहते हैं ब्राह्मण का केशान्त संस्कार सोलहवें वर्ष में, क्षत्रिय का बाईसवें वर्ष में तथा वैश्य का चौबीसवें वर्ष में सम्पन्न किया जाता है।[848]

3.14 समावर्तन संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

वेदाध्ययन के अनन्तर समावर्तन संस्कार किया जाता है। विष्णुपुराण के अनुसार आचार्य से विद्या अध्ययन करने के अनन्तर गुरु को गुरुदक्षिणा देकर गृहस्थ में जाने की इच्छा हो तो विवाह कर लेना चाहिए।[849] पारस्कर गृह्यसूत्र में कहा गया है कि वेद का विधिपूर्वक अध्ययन करके समावर्तन करे।[850] वेदाध्ययन या व्रतों या दोनों को पूर्ण कर गुरु की आज्ञा से उन्हें दक्षिणा देकर ब्रह्मचारी स्नान करे।[851] कवि कालिदास लिखते हैं कि वेदशास्त्र के विद्वान् कौत्स [852] वेदादि शास्त्रों का अध्ययन समाप्त कर अपने गुरु वरतन्तु को दक्षिणा देने की इच्छा से राजा रघु के पास आये।[853] जब रघु ने कौत्स को देखा तो विधिवत् अर्चन वन्दन किया और कौत्स से पूछा क्या आपके गुरु वरतन्तु महर्षि ने प्रसन्न होकर वेदादि अध्ययन समाप्ति के अनन्तर आपको गृहस्थ धर्म में जाने की आज्ञा दे दी है। क्यों कि सभी ब्रह्मचर्य , वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों के उपकार करने में समर्थ जो दूसरा गृहस्थ आश्रम है उसमें प्रविष्ट होने का यही समय है।[854] मनु भी कहते हैं गुरु से

बलामतिबलां चैव पठतः पथि राघव।।वा०रा०1.22.17

[846] र०वं० 3.33, मल्लिनाथ व्याख्या में

[847] अथास्य गोदानविधेरनन्तरम् ।। र०वं० 3.33

[848] केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते ।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे वैश्यस्य द्व्यधिके ततः।।मनु०2.65

[849] गृहीतविद्यो गुरवे दत्त्वा च गुरुदक्षिणाम् ।
गार्हस्थ्यमिच्छन् भूपाल कुर्याद्दारपरिग्रहम्।।वि०पु० 3.10.13

[850] वेदं समाप्य स्नायात् ।।पा०गृ०सू० 2.6.1

[851] गुरवे तु वरं दत्त्वा स्नायाद्वा तदनुज्ञया ।
वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा।।याज्ञ० 1.51

[852] आवेदितो वेदविदां वरेण।।र०वं०5.23
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः।।र०वं० 5.2

[853] समाप्तविद्येन मया महर्षिर्विज्ञापितोऽभूद् गुरुदक्षिणायै।।र०वं०5.20
उपात्तविद्यो गुरुदक्षिणार्थी कौत्सः प्रपेदे वरतन्तुशिष्यः।।र०वं०5.1

[854] अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय ।
कालो ह्ययं सङ्क्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते।।र०वं० 5.10

अनुमति प्राप्त स्नान करके विधिविधानपूर्वक समावर्तन संस्कार किया हुआ द्विज ब्रह्मचारी शुभलक्षणों से युक्त कन्या से विवाह करे।[855]

वेद अध्ययन के अनन्तर ब्रह्मचारी के पास दो मार्ग होते हैं या तो वह प्रवृत्तिमार्ग स्वीकार करे या निवृत्तिमार्ग। प्रवृत्ति मार्ग के अनुसार वह गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता है[856] और निवृत्ति मार्ग के अनुसार आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करता है। याज्ञवल्क्य भी कहते है नैष्ठिक ब्रह्मचारी तो गुरु की सन्निधि में ही रहे।[857] बोधायन गृह्यसूत्र में कहा गया है कि मन्त्र और ब्राह्मण को वेद कहा गया है, दोनों ही यज्ञ में प्रमाण है अतः इन दोनों का अध्ययन सम्पन्न करके ही स्नान करे।[858] समावर्तन संस्कार का अपर नाम स्नानसंस्कार है। क्योंकि यह इस संस्कार का महत्त्वपूर्ण अंग है। ब्रह्मचर्य के अन्त में ब्रह्मचारी का स्नान करना आवश्यक होता है।

3.15 विवाहसंस्कार एवं कालिदासीयसन्दर्भ

भारतीय परम्परा में विवाह संस्कार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गृहस्थ जीवन का प्रारम्भ यहीं से होता है। सारे सांसारिक व्यवहार विवाह के बाद ही प्रारम्भ होते हैं।[859] विद्या अध्ययन करने के अनन्तर ब्रह्मचारी गृहस्थ में प्रवेश करता है। मनु कहते हैं अखण्ड ब्रह्मचर्य को धारण करने वाला ब्रह्मचारी क्रमशः तीनों वेदों का अथवा दो वेदों का या एक वेद का अपनी शक्ति के अनुसार अध्ययन करके ही गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करे।[860] कवि यह मानते हैं कि गृहस्थ आश्रम सभी आश्रमों का उपकार करने वाला है।[861] मनु ने भी गृहस्थ आश्रम की प्रशंसा की है वे गृहस्थ आश्रम की उपमा वायु से देते हैं। जैसे वायु का आश्रय लेकर सभी प्राणी जीवित रहते हैं उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रय लेकर ही अन्य आश्रम विद्यमान रहते हैं।[862] वर वधू का वैवाहिक बन्धन अत्यधिक पवित्र, अटल और अविच्छेद्य माना गया है। वेदमन्त्रों के द्वारा विधिविधानपूर्वक विवाह संस्कार सम्पन्न होता

---

[855] गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृतो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।।मनु०3.4

[856] अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्।।याज्ञ०1.52

[857] नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु वसेदाचार्यसन्निधौ।।याज्ञ० 1.49

[858]वेदमधीत्य स्नास्यन्नित्युक्तं समावर्तनम्।।मन्त्रब्राह्मणं वेद इत्याचक्षते।।मन्त्रब्राह्मणे यज्ञस्य प्रमाणम्।।
अथकेशश्मश्रुलोमनखावापनेनैव प्रतिपद्यते सिद्धमाच्छत्रादानात्कृत्वा पक्वाजुहोति–आवहन्ती वितन्वाना।।
बो०गृ०सू०2.6.1–8

[859] विवाहपूर्वो व्यवहारः।।अर्थ०शा०

[860] वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत्।।मनु०3.2

[861] सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते।।र०वं० 5.10

[862] यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः।।मनु०3.77

है। कवि का कथन है कि विवाह का प्रयोजन विषयभोग नहीं अपितु अपनी वंश परम्परा बढ़ाने के लिए तथा पितृऋण से मुक्ति हेतु सन्तान की प्राप्ति है।[863]

कवि ने रघु के विवाहसंस्कार की चर्चा की है।[864] मनुस्मृति विष्णुपुराण आदि ग्रन्थों में आठ प्रकार के विवाह का वर्णन किया गया है। ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य ,आसुर , गान्धर्व, राक्षस एवं आठवाँ अत्यन्त निष्कृष्ट पैशाच विवाह होता है।[865] धर्मशास्त्रों में पिशाच ,आसुर और राक्षस विवाह का निषेध किया गया है।[866] जो बलपूर्वक कन्या का हरण कर विवाह करता है वह चौर है और राजा को उसे चौर के समान ही दण्ड देना चाहिए।[867]

- ब्राह्म विवाह वह है जिसमें वर को आमन्त्रित कर उसे यथाशक्ति वस्त्राभूषणादि से अलंकृत कर कन्या दी जाती है।[868]
- जब यज्ञानुष्ठान के समय ऋत्विज को कन्या दी जाय तो यह दैव विवाह कहा जाता है।[869]
- जब वर से एक गाय अथवा गोमिथुन धर्मयागादि के लिए अथवा कन्या को ही दान करने के लिए ग्रहण किया जाय तो यह आर्ष विवाह कहा जाता है । यहां गाय को ग्रहण करने में शुल्क की बुद्धि नहीं होनी चाहिए।[870]
- तुम दोनों एक साथ धर्म का आचरण करो इस प्रकार वाणी से कहने के बाद वस्त्र , अलंकार ,आदि द्वारा वर का पूजन करके कन्या प्रदान करना ही प्राजापत्य विवाह कहा गया है।[871]

---

[863] प्रजायै गृहमेधिनाम्।।र०वं० 1.7,
परिणेतुः प्रसूतये ।।र०व० 1.25

[864] अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्त्तयद् गुरुः।। काशिकावृत्ति
नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः।।र०व० 3.33

[865] ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।।मनु०3.21
ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गान्धर्वराक्षसौ चान्यौ पैशाचश्चाष्टमो मतः।।वि०पु० 3.10.24

[866] पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्त्तव्यौ कदाचन ।।मनु० 3.25

[867] सकृत्प्रदीयते कन्या हरंस्तां चोरदण्डभाक्।।याज्ञ०1.65

[868] आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतिशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया ब्राह्मो धर्मः प्रकीर्तितः।।मनु० 3.27
बाह्मे विवाहे आहूय दीयते शक्त्यलङ्कृता ।। याज्ञ०1.58
कन्यादानं कन्यामलङ्कृत्य ब्राह्मो विवाहः।।अर्थ०

[869] यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते।।मनु०3.28
यज्ञस्थ ऋत्विजे दैवम्।।याज्ञ० 1.59
अन्तर्वेद्यामृत्विजे दानाद् दैवः।। अर्थ०

[870] एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादानाय धर्मतः।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्मः स उच्यते।।मनु०3.29
आदायार्षस्तु गोद्वयम्।।याज्ञ० 1.59
गोमिथुनादानार्षः।।अर्थ० 3.2

- स्वच्छन्दतापूर्वक धन ग्रहण कर जो कन्या दी जाय वह आसुर विवाह कहा जाता है।[872]
- गान्धर्व विवाह परस्पर अनुराग से होता है।[873]
- बलपूर्वक युद्ध में न चाहती हुई कन्या का आहरण करना राक्षस विवाह है।[874]
- छल,कपट आदि के द्वारा कन्या का हरण पैशाच विवाह है।[875]

3.15.1 प्राजापत्य विवाह एवं कालिदासीय सन्दर्भ

कुमारसम्भव में वर्णित शिव पार्वती का विवाह प्राजापत्यविवाह है। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार तुम दोनों एक साथ धर्म का आचरण करो इस प्रकार वाणी से कहने के बाद वस्त्र, अलंकार, आदि द्वारा वर का पूजन करके कन्या प्रदान करना ही प्राजापत्य विवाह कहा गया है।[876] विधिविधान से वेद मन्त्रों से हिमवान् के पुरोहित ने शिवपार्वती का विवाह सम्पन्न किया। हिमालय ने महादेव जी को आसन पर बैठाकर रत्न, अर्घ्य, मधु , दही और नये वस्त्र प्रदान किये।[877] पुरोहित ने पार्वती से कहा आज से ये अग्नि तुम्हारे विवाह के साक्षी है। अब शंका छोड़कर सदा शिव के साथ धर्माचरण करना शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या।[878] भगवान् शंकर भी मानते हैं कि विना पतिव्रता पत्नी से विवाह किए

---

[871] सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः।।मनु०3.30
इत्युक्ता चरतां धर्मं सह या दीयतेऽर्थने ।।याज्ञ०1.60

[872] ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते।।मनु 3.31
आसुरो द्रविणादानात्।।याज्ञ०1.61
शुल्कादानादासुरः।। अर्थ० 3.2, पृ० 261

[873] इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाः वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः।।मनु० 3.32
गान्धर्वः समयान्मिथः।।याज्ञ०1.61

[874] हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते।।मनु०3.33
राक्षसो युद्धहरणात्।।याज्ञ०1.61
प्रसह्यादानाद् राक्षसः।। अर्थ० 3.2

[875] सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः।।मनु०3.34
पैशाचः कन्यकाछलात्।।याज्ञ०1.61
सुप्तादानात् पैशाचः।।अर्थ० 3.2,पृ० 262

[876] सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचानुभाष्य च।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः।।मनु०3.30
इत्युक्ता चरतां धर्मं सह या दीयतेऽर्थने ।।याज्ञ०1.60
सहधर्मचयो प्राजापत्यः।।अर्थ०

[877] तत्रेश्वरो विष्टरभाग्यथावत्सरत्नमर्घ्यं मधुमच्च गव्यम् ।
नवे दुकूले च नगोपनीतं प्रत्यग्रहीत्सर्वममन्त्रवर्जम्।।कु०स० 7.72

[878] वधूं द्विजः प्राह तवैष वत्से ! वह्निर्विवाहं प्रति कर्मसाक्षी।
शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति ।। कु०स० 7.83

धार्मिक क्रियाएँ पूर्ण नहीं होती है।[879] धर्मशास्त्र के अनुसार यज्ञादि कार्य पत्नी के सहित सम्पन्न किये जाते हैं।[880] विष्णुपुराण में कहा गया है सहधर्मचारिणी पत्नी के साथ धर्म का आचरण करते हुए गृहस्थ का पालन करने से गृहस्थ महान् फल देने वाला होता है।[881] कवि कालिदास धर्मशास्त्र के सस्त्रीकः धर्ममाचरेत्[882] इस वचन को स्वीकार करते हैं। कवि वर्णन करते हैं अपने पुत्रों लव और कुश के साथ जब सीता श्रीराम की सभा में उपस्थित हुई, उस समय सभी लोगों के सिर लज्जा के कारण इसलिए झुक गये कि हम लोगों ने व्यर्थ ही सीता पर झूटा आरोप लगाया है।[883] उस समय माता सीता कहती हैं कि यदि मैंने मन, वचन ,कर्म से अपने पातिव्रत्य धर्म को निभाया है तो हे धरती माता तुम मुझे अपनी गोद में धारण करो। धरती माता उसी समय प्रकट हुई और सीता को अपने साथ लेकर चली गई।[884] वाल्मीकिरामायण के अनुसार सीता पृथ्वी से ही प्रकट हुई थी[885] और पृथ्वी में ही समा गई। सीता की अनुपस्थिति में श्रीराम ने सीता की स्वर्णमयी प्रतिमा को अर्द्धाङ्गिनी बनाकर यज्ञ विधिपूर्वक सम्पन्न किया।[886] सीता की अनुपस्थिति में दूसरा विवाह न कर सीता की स्वर्णमयी मूर्ति को रखकर यज्ञ पूर्ण करने से लोगों ने श्रीराम की अत्यन्त प्रशंसा की।[887] श्रीराम के द्वारा स्वर्णमूर्ति बनाकर यज्ञ करने से ही सिद्ध होता है कि गृहस्थ जीवन में यज्ञादि कार्य पत्नी के बिना अकेले सम्पन्न नहीं होते। अतः सह धर्मम् आचरेत् इस धर्मशास्त्र के सिद्धान्त को ही कवि ने प्रकट किया है। महर्षि पाणिनि के अनुसार जो पति के साथ यज्ञकर्म में भाग ग्रहण करती है तथा उस यज्ञ के फल को ग्रहण करने की अधिकारी है वही पत्नी शब्द वाच्य है।[888]

---

[879] क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् ।। कु०स० 6.13

[880] सस्त्रीकः धर्ममाचरेत्।।र०व० 14.87, मल्लिनाथ व्याख्या में उद्धृत

[881] सधर्मचारिणीं प्राप्य गार्हस्थ्यं सहितस्तया ।
समुद्वहेद्ददात्येतत् सम्यग्गूढं महाफलम्।।वि०पु० 3.10.26

[882] र०व० 14.87, मल्लिनाथ व्याख्या में उद्धृत धर्मशास्त्रीयवचन

[883] काषायपरिवीतेन स्वपदार्पितचक्षुषा ।अन्चमीयत शुद्धेति शान्तेन वपुषैव सा ।।
जनास्तदालोकपथात्प्रतिसंहृतचक्षुषः। तस्थुस्तेऽवाङ्मुखाः सर्वे फलिता इव शालयः।।र०वं०15.77–78

[884] वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे । तथा विश्वम्भरे देवि मामन्तर्धातुमर्हसि।।र०व० 15.81
सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृप्रणिहितेक्षणाम् । मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन्पातालमभ्यगात्।।र०वं० 15.84

[885] भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा।
वीर्यशुल्केति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा।।वा०रा० 1.66.14

[886] सीतां हित्वा दशमुखरिपुर्नोपयेमे यदन्यां
तस्या एव प्रतिकृतिसखो यत्क्रतूनामाजहार ।
वृत्तान्तेन श्रवणविषयप्रापिणा तेन भर्तुः
सा दुर्वारं कथमपि परित्यागदुःखं विषेहे।।र०वं० 14.87

[887] श्लाघस्त्यागोऽपि वैदेह्याः पत्युः प्राग्वंशवासिनः।
अनन्यजानेः सैवासीद्यस्माज्जाया हिरण्मयी।।र०वं० 15.61

[888] पत्युर्नो यज्ञसंयोगे।। पा०सू० 4.1.33
"यज्ञसंयोगे" इति। यज्ञसम्बन्धे। कस्य पुनर्यज्ञेन संयोगः? पतिशब्दवाच्यार्थस्य। अथ पतिशब्दस्यैव कस्मान्न भवति? असम्भवात्। तयोर्हि वाच्यवाचकभावलक्षणः सम्बन्धः स्यात्, न केवलः पतिशब्दो यज्ञस्य वाचकः। कथं पुनर्यज्ञेन

हिन्दू परम्परा में विवाह की जो पद्धति है उस पद्धति का विवेचन कवि कालिदास ने शिव पार्वती के विवाह प्रसंग में कुमारसम्भवम् के सप्तम सर्ग में विस्तार से वर्णन किया है।[889] शिव पार्वती का विवाह आदर्श विवाह है। कवि ने इस प्रसंग में सुन्दर लौकिक धर्म को दिखाया है। जहाँ पार्वती शिव की प्राप्ति हेतु तप करती है। तप से प्रसन्न शिव ब्रह्मचारी वेश में आते हैं, पार्वती से उनका संवाद होता है, बाद में पार्वती का दृढ़ निश्चय देखकर शिव प्रसन्न होते है और अपने वास्तविक स्वरूप में उपस्थित होते हैं। पार्वती अपनी सखि से शिव से कहलवाती है कि मेरा विवाह करने वाले मेरे पिता है आप उन से बात कीजिए ।[890] शिव ने पार्वती के पिता हिमालय से बात करने के लिए सप्तर्षियों को भेजा। सप्तर्षियों की बात सुनकर हिमालय ने अपनी पत्नी मेना की ओर देखा क्योंकि जब भी कन्या के सम्बन्ध की कोई बात होती है तो गृहस्थलोग अपनी स्त्रियों से ही सम्मति लिया करते हैं।[891] मेना और हिमालय ने शिव से पार्वती का विवाह सहर्ष स्वीकार किया और विधिविधान से विवाह सम्पन्न हुआ है। आगम शास्त्र में कहा गया है कि विवाह के समय में वर और वधू को पार्वतीपरमेश्वर का स्मरण करना चाहिए।[892] कवि कहते हैं जो पार्वती और शंकर संसार भर में विवाह के समय स्मरण किए जाने पर बहू और वरों की शोभा बढ़ाते हैं उन्हीं पार्वती शंकर का जब स्वयं ही विवाह हो रहा हो तब उनकी शोभा का तो कहना ही क्या है।[893]

3.15.2 गान्धर्वविवाह एवं कालिदासीय सन्दर्भ

मनुस्मृति याज्ञवल्क्य स्मृति और अर्थशास्त्र के अनुसार गान्धर्व विवाह कन्या और वर के परस्पर अनुराग से होता है।[894] दुष्यन्त शकुन्तला का विवाह गान्धर्वविवाह है इसमें दोनों की परस्पर प्रीति ही कारण है। दुष्यन्त शकुन्तला से कहते हैं कि बहुत सारे ऐसे राजा हैं

संयोग इत्याह–– "तत्साधनत्वात्" इति।तस्य यज्ञस्य साधनं तत्साधनम्, तद्भावो यज्ञसाधनत्वम्। तस्माद्यज्ञेन संयोगो भवति। यजमानस्य या भार्या तस्या यागं प्रति साधनभावोऽस्तीति; विना तया तदनिष्पत्तेः। न हि भार्याविरहितस्त्रैर्णिकः केवलो यज्ञेऽधिक्रियते। तस्मात् स तया करणभूतया यज्ञं निष्पादयतीत्यस्ति तस्या यज्ञेन सह क्रियाकारकलक्षणः सम्बन्धः। "तत्फलग्रहीतृत्वाद्वा" इति। यज्ञसंयोगे द्वितीयो हेतुः। अनेन तु स्वस्वामिभावलक्षमः सम्बन्धः प्रतिपाद्यते। यज्ञस्य यत्प्रधानं फलं स्वर्गाख्यं तद्यजमानस्य पत्नी परिगृह्णाति।

[889] समेतबन्धुर्हिमवान्सुताया विवाहदीक्षाविधिमन्वतिष्ठत् ।।र०व० 7.1

[890] अथ विश्वात्मने गौरी संदिदेश मिथः सखीम्।
दाता मे भूभृतां नाथः प्रमाणीक्रियतामिति।।कु०स० 6.1

[891] शैलः सम्पूर्णकामोऽपि मेनामुखमुदैक्षत
प्रायेण गृहिणीनेत्राः कन्यार्थेषु कुटुम्बिनः।।कु०स० 6.85

[892] विवाहसमये गौरीशिवौ वधूवरावनुप्रविशेताम् ।।कु०स० 7.78,मल्लिनाथ टीका

[893] प्रयुक्तपाणिग्रहणं यदन्यद्वधूवरं पुष्यति कान्तिमग्र्याम् ।
सान्निध्ययोगादनयोस्तदानीं किं कथ्यते श्रीरुभयस्य तस्य।।कु०स० 7.78

[894] इच्छयान्योन्यसंयोगः कन्यायाः वरस्य च ।
गान्धर्वः स तु विज्ञेयो मैथुन्यः कामसम्भवः।।मनु० 3.32
गान्धर्वः समयान्मिथः।।याज्ञ०1.61
मिथस्समवायाद् गान्धर्वः।।अर्थ०3.2

जिनकी कन्याओं ने गान्धर्वविवाह किया है और विवाह के अनन्तर उनके परिजनों पिता आदि ने अभिनन्दन भी किया है।[895] कवि ने शकुन्तला और दुष्यन्त के गान्धर्व विवाह का वर्णन किया है किन्तु यहाँ कवि ने सावधान भी किया है कि गान्धर्व विवाह भले ही परस्पर अनुराग से होता है किन्तु इसमें भी अपने गुरुजनो माता पिता आदि की सहमति आवश्यक है।[896] क्योंकि विना सोचे समझे जो काम किया जाता है, वह अन्त में दुःख ही देने वाला होता है। गान्धर्व विवाह सोच समझकर करना चाहिए क्योंकि बिना स्वभाव जाने जो मित्रता की जाती है वह एक न एक दिन शत्रुता बनकर ही रहती है।[897]

3.15.3 स्वयंवर पद्धति एवं कालिदासीय सन्दर्भ

स्वयंवर पद्धति में कन्या के अत्यधिक गुणवती और सुन्दर होने पर राजा अपने मित्र राज्यों के राजाओं को बुलाने के लिए दूत या सन्देश भेजते थे। किन किन राजाओं को इसमें निमन्त्रण देना है इसका निर्णय राजा स्वयं करता था। निमन्त्रित राजा लोग जब उपस्थित होकर सभा में बैठ जाते थे। तो भाट बन्दीगण आदि उनके वंश का बखान करते थे। तदनन्तर कन्या पुष्पमाला लेकर विवाह के वेश में स्वयं पति का वरण करने के लिए सभा में अपनी सखियों के साथ आती थी, जिस राजा के सम्मुख वह खड़ी होती थी। प्रतिहारी उस राजा की महिमा का गान करती थी। उपस्थित राजाओं में कन्या जिसका वरण करना चाहे उसे वर सकती थी। स्वयंवर पद्धति का विवेचन हमें ऋग्वेद में प्राप्त होता है भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्।[898] अमरकोश में स्वयं पति का वरण करने वाली कन्या के लिए स्वयंवरा, पतिंवरा ,वर्या शब्दों का प्रयोग किया गया है ।[899] स्वयं वृणीते पतिं या सा स्वयंवरा। पतिं वृणीते पतिंवरा। व्रियतेऽनया इति वर्या । कवि ने इस विवाहपद्धति का रघुवंश में अजइन्दुमती के विवाह प्रसंग में वर्णन किया है। इन्दुमती के लिए कवि ने पतिंवरा शब्द का प्रयोग किया है।[900] राजा भोज ने अपनी बहिन इन्दुमती का स्वयंवर पद्धति से विवाह करने का निर्णय लिया। उसमें अपने मित्र राजाओं को निमन्त्रित किया। महाराज रघु के युवराजपुत्र अज को दूत भेजकर उन्होनें निमन्त्रित किया। स्वयंवर के समय इन्दुमती जिस–जिस राजा को छोड़कर आगे बढ़ जाती थी वे

---

[895] गान्धर्वेण विवाहेन बहव्यो राजर्षिकन्यकाः।
श्रूयन्ते परिणीतास्ताः पितृभिश्चाभिनन्दिताः।।अ०शा० 3.21

[896] नापेक्षितो गुरुजनोऽनया त्वया पृष्टो न बन्धुजनः।
एकैकमेव चरिते भणामि किमेकमेकस्य।।अ०शा० 5.16

[897] अतः परीक्ष्य कर्त्तव्यं विशेषात्सङ्गतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेव वैरीभवति सौहृदम्।।अ०शा० 5.24

[898] ऋ०10.27.12

[899] स्वयंवरा पतिंवरा च वर्या च।।अ०को० 2, मनुष्यवर्ग, 7

[900] विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा ।।र०वं० 6.10

राजा वैसे ही उदास हो गये जैसे रात को दीपक लेकर चलने पर जो जो राजमार्ग के भवन पीछे छूटते चलते हैं। वे अँधेरे में पड़ जाते हैं।[901] इन्दुमती ने अन्य राजाओं को छोड़कर पुष्पमाला पराक्रमी अज के गले में डाल दी। इस प्रकार अज और इन्दुमती का स्वयंवर पद्धति से विवाहसंस्कार सम्पन्न हुआ।[902] ये प्रणाली विशेषकर क्षत्रियों में प्रचलित थी। कवि ने रघुवंश के षष्ठ सर्ग में विस्तार से स्वयंवर पद्धति का वर्णन किया है।

लक्ष्मीस्वयंवर की चर्चा श्रीमद्भागवत में आयी है जहाँ लक्ष्मी विधिविधान से स्वस्तिवाचन आदि सम्पन्न होने के बाद अपने हाथों में कमल की माला लेकर अन्य सभी देवताओं आदि को छोड़कर सर्वगुण सम्पन्न भगवान् विष्णु के गले में माला पहनाती है और भगवान् विष्णु का इच्छानुसार वरण करती हैं।[903]

3.15.4 वीर्यशुक्ल पद्धति एवं कालिदासीय सन्दर्भ

इस विवाह में कन्या का पिता कोई शुल्क[904] रख देता है, जिस शुल्क को पूर्ण करने के बाद ही वर कन्या को ग्रहण कर सकता था। सीताराम का विवाह इसी पद्धति के अन्तर्गत आता है। वाल्मीकि रामायण में जनक स्वयं कहते हैं मेरी कन्या वीर्यशुल्क[905] है अर्थात् जो शिवधनुष को तोड़ेगा उसी के साथ मेरी पुत्री का विवाह सम्पन्न होगा। श्रीराम ने वीर्यशुल्क को देकर अर्थात् धनुष तोड़कर सीता का वरण किया।[906] महर्षि वाल्मीकि लिखते हैं कि हजारो राजाओं के देखते हुए श्रीराम ने उस धनुष को बिना परिश्रम के ही आसानी से तोड़ डाला।[907] कवि कालिदास लिखते हैं जनक ने रूपवती अयोनिज सीता को श्रीराम को समर्पित किया।[908] महर्षिवाल्मीकि लिखते है जब जनक अग्निचयन के लिए

---

[901] सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः।।र०वं० 6.67

[902] अथेश्वरेण क्रथकौशिकानां स्वयंवरार्थं स्वसुरिन्दुमत्याः।
आप्तः कुमारानयनोत्सुकेन भोजेन दूतो रघवे विसृष्टः।।र०वं० 5.39
विवेश मञ्चान्तरराजमार्गं पतिंवरा क्लृप्तविवाहवेषा । र०वं० 6.10
सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरूः।
आसञ्जयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम्।।र०वं 6.83

[903] श्रीमद्भा० 8.8.17, 23

[904] तस्य वीक्ष्य ललितं वपुः शिशोः पार्थिवः प्रथितवंशजन्मनः।
स्वं विचिन्त्य च धनुर्दुरानमं पीडितो दुहितृशुल्कसंस्थया।।र०वं० 11.38

[905] वीर्यशुल्केति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा।।वा०रा० 1.66.14
मम सत्या प्रतिज्ञा च वीर्यशुल्केति कौशिक।।वा०रा० 1.67.23

[906] दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्यशुल्कमभिन्द्य मैथिलः।
राघवाय तनयामयोनिजां रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत् ।।र०वं०11.47

[907] पश्यतां नृपसहस्राणां बहूनां रघुनन्दनः ।
आरोपयत्स धर्मात्मा सलीलमिव तद्धनुः।।वा०रा०1.67.16
आरोपयित्वा धर्मात्मा पूरयामास तद्धनुः।
तद्बभञ्ज धनुर्मध्ये नरश्रेष्ठो महायशाः।।वा०रा०1.67.17

[908] राघवाय तनयामयोनिजां रूपिणीं श्रियमिव न्यवेदयत् ।।र०वं०11.47

भूमि का शोधन कर रहे थे उसी समय उन्हें सीता प्राप्त हुई थी, किसी माँ के गर्भ से उनका जन्म नहीं हुआ था। इसीलिए सीता को अयोनिज कहा जाता है।[909]

जनक ने विवाह का साक्षी विश्वामित्र को मानकर उन्हीं के सम्मुख अपनी पुत्री श्रीराम को समर्पित किया। कुलशील, अवस्था के अनुसार श्रीराम का विवाह सीता के साथ, भरत का माण्डवी के साथ, लक्ष्मण का उर्मिला के साथ और शत्रुघ्न का श्रुतकीर्ति के साथ विवाह सम्पन्न हुआ।[910]

दुहितृशुल्कविवाहपद्धति का विवेचन महर्षि वेदव्यास ने श्रीमद्भागवतम् में किया है। कोसलदेश के राजा नग्नजित की कन्या नाग्नजिती थी। राजा ने यह प्रतिज्ञा की थी कि जो कोई सात दुर्दान्त बैंलों को जीत लेगा उसी के साथ मेरी कन्या का विवाह होगा। अन्य राजा बैलों का निग्रहण करने में समर्थ नहीं हुए। श्रीकृष्ण ने उन सातों बैलों का निग्रहण किया और नग्नजित् की पुत्री नाग्नजिती से विधिपूर्वक पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न किया।[911]

3.16 अन्त्येष्टि संस्कार एवं कालिदासीय सन्दर्भ

अन्त्येष्टि संस्कार शरीर का अन्तिम संस्कार कहा गया है। गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त षोडशसंस्कार है उनमें यह संस्कार अन्तिम संस्कार है। यह मृत्यु के अनन्तर सम्पन्न होता है। मृतप्राणी के शान्ति लाभ हेतु यह संस्कार सम्पन्न किया जाता है। दाहक्रिया से पहले अनेक धार्मिक संस्कार किए जाते हैं। कवि पिण्डदान के सम्बन्ध में वर्णन करते हैं कि यद्यपि रघु जैसे महात्मा योगबल से शरीर त्याग करके मुक्त हो जाते हैं उन्हें अपने पुत्रों से पिण्ड दान की आवश्यकता नहीं रहती, फिर भी अज तो यह जानते ही थे कि पिता का संस्कार किस प्रकार करना चाहिए। इसलिए उन्होंने बड़ी भक्तिभाव से अपने पिता के श्राद्ध आदि संस्कार सम्पन्न किए।[912]

---

[909] अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गूलादुत्थिता मया।
क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता।।
भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा।
वीर्यशुल्केति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा।।वा०रा०1.66.13–14

[910] भज्यमानमतिमात्रकर्षणात्तेन वज्रपरुषस्वनं धनुः।
भार्गवाय दृढ़मन्यवे पुनः क्षत्रमुद्यतमिव न्यवेदयत्।।र०वं० 11.47
मैथिलः सपदि सत्यसङ्गरो राघवाय तनयामयोनिजाम् ।
सन्निधौ द्युतिमतस्तपोनिधेरग्निसाक्षिक इवातिसृष्टवान्।।र०वं० 11.48
पार्थिवीमुद्वहद्रघूद्वहो लक्ष्मणस्तदनुजामथोर्मिलाम् ।
यौ तयोरवरजौ वरौजसौ तौ कुशध्वजसुते सुमध्यमे।।र०वं० 11.54

[911] श्रीमद्भा०10.58.32,33,47

[912] अकरोत्सतदौर्ध्वदैहिकं पितृभक्तया पितृकार्यकल्पवित् ।
न हि तेन पथा तनुत्यजस्तनयावर्जितपिण्डकाङ्क्षणः।।र०वं० 8.26

रघुवंश में राजा अग्निवर्ण का अन्त्येष्टिसंस्कार पुरोहित ने विधिपूर्वक सम्पन्न किया। यहाँ कवि ने पुरोहित का विशेषण में पश्चिमक्रतुविदा शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है अन्त्येष्टि विधि को जानने वाला अर्थात् उस पुरोहित ने सम्पन्न किया जो अन्त्येष्टिविधि को पूर्ण रूप से जानता था।[913]

कवि वर्णन करते हैं कि इन्दुमती की मृत्यु के अनन्तर विधिविधान से सब क्रियाकर्म शास्त्रज्ञ राजा अज ने शास्त्रीय विधि से दश दिनों के बाद की सब श्राद्ध क्रिया को विस्तार के साथ नगर के उपवन में सम्पन्न किया।[914] यहाँ प्रश्न यह उठता है कि मनु कहते हैं कि ब्राह्मण की शुद्धि दस दिन में तथा क्षत्रिय की शुद्धि बारह दिन में होती है।[915] फिर राजा अज ने दशदिन के बाद ही सब शास्त्रीय कर्म कैसे सम्पन्न कर दिए। इसके उत्तर में पराशर ऋषि का मत मल्लिनाथ उद्धृत करते हैं जो राजा अपने स्वधर्म के पालन में निरन्तर लगा है वह दश दिन में शुद्ध हो जाता है।[916] राजा अज जब पत्नी इन्दुमती के कारण अत्यधिक सन्तप्त हुए तब वसिष्ठ जी ने शिष्य के माध्यम से सन्देश भिजवाया और कहा हे राजन्! शोक छोड़कर पिण्ड दान आदि करके अपनी पत्नी का परलोक सुधारिए क्योंकि शास्त्र कहते हैं कि जब कुटुम्बी बहुत रोते हैं तब उससे प्रेतात्मा को बडा कष्ट होता है।[917] याज्ञवल्क्य कहते हैं कि मृतव्यक्ति बान्धवों द्वारा गिराये गये श्लेष्म तथा अश्रु को न चाहते हुए भी खाता है अतः मृत्यु के बाद रुदन नहीं करना चाहिए और अपनी शक्ति के अनुसार श्राद्ध आदि क्रिया करनी चाहिए।[918]

रघुवंश में श्रीरामादि चारों भाइयों ने अपनी तीनों माताओं का जो अपनी पति की गति को प्राप्त हो चुकी है। उनका क्रमशः तर्पण श्राद्धादि पारलौकिक कर्म किया।[919] कवि ने यहाँ निवाप शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ अमरकोश के अनुसार पितृदान है।[920] पितृभ्यो दानम्, न्युप्यते इति निवापः। श्रद्धा अस्ति अत्र इति श्राद्धं पितृकर्म। पारस्कर गृह्य सूत्र में शव के दाह कर्म के अनन्तर सभी सम्बन्धीजन स्नान के लिए नदी या जलाशय में

---

[913] तं गृहोपवनं एव सङ्गताः पश्चिमक्रतुविदा पुरोधसा ।
रोगशान्तिमपदिश्य मन्त्रिणः सम्भृते शिखिनि गूढ़मादधुः।।र०वं० 19.54

[914] अथ तेन दशाहतः परे गुणशेषामुपदिश्य भामिनीम् ।
विदुषा विधयो महर्द्धयः पुर एवोपवने समापिताः।। र०वं० 8.73

[915] शुद्धयेद्विप्रो दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः।।मनु० 5.83

[916] क्षत्रियस्तु दशाहेन स्वधर्मनिरतः शुचिः।।र०वं० 8.73, मल्लिनाथ टीका

[917] अपशोकमनाः कुटुम्बिनीमनुगृह्णीष्व निवापदत्तिभिः।
स्वजनाश्रु किलातिसन्ततं दहति प्रेतमिति प्रचक्षते ।। र०वं०8.86

[918] श्लेष्माश्रु बान्धवैर्मुक्तं प्रेतो भुङ्क्ते यतोऽवशः।
अतो न रोदितव्यं हि क्रियाः कार्याः स्वशक्तितः।।याज्ञ० 3.11

[919] इत्यारोपितपुत्रास्ते जननीनां जनेश्वराः।
भर्तृलोकप्रपन्नानां निवापान्विदधुः क्रमात् ।।र०वं० 15.91

[920] पितृदानं निवापः स्याच्छ्राद्धं तत्कर्म शास्त्रतः।। अ०को० 2,ब्रह्मवर्ग, श्लोक 31

प्रविष्ट होते हैं। सातवीं पीढ़ी तक अथवा दशमी पीढ़ी तक के जो भी व्यक्ति हों सभी स्नान करते हैं। एक ग्राम में निवास करने वाले जिन्हें अपने सम्बन्ध का स्मरण हो अर्थात् मृतक से जो अपना सम्बन्ध मानते हैं वे भी स्नान करंते हैं। बाँये हाथ की अनामिका अंगुलि से जल को हटाकर अपः नः शोशुचदघमिति[921] इस मन्त्रांश को पढ़े। दक्षिणाभिमुख जल में डुबकी लगावे। मृत व्यक्ति के लिए अञ्जलि से एक बार जल दान करे। तथा उस मृतव्यक्ति के नाम का उच्चारण कर कहे कि हे प्रेत तेरे लिए यह जल अर्पित है। स्नान के पश्चात् पवित्रभूमि पर बैठे हुए सम्बन्धियों को मृतक के गुण वर्णन तथा संसार की अनित्यता नश्वरता का उपदेश कर इनके शोक को दूर करें। तदनन्तर पीछे की ओर मुड़कर न देखते हुए पंक्तिबद्ध होकर तथा छोटी आयु वालों को आगे कर बड़ी आयु वाले पीछे चलते हुए गाँव को आ जाते हैं। मृतक के घर के द्वार पर नीम के पत्ते चबा आचमन करके जल, अग्नि, गोबर ,पीली सरसों के दानों तथा तिल का तैल इनका स्पर्श करके पत्थर पर पैर रखकर घर में प्रवेश करते हैं। प्रेतकर्म के निमित व्यक्ति दिन में ही भोजन करे। मांस भोजन कदापि न करे। प्रेत के लिए पिण्ड दान कर जल के छीटें दें। जितनी बार पिण्ड दान और जल छिड़कने का कार्य होगा उतनी ही बार प्रेत का नाम लेना चाहिए। जिस दिन मृत्यु हुई हो उस रात्रि को मिट्टी के पात्र में दुग्ध एवं जल मिश्रित कर किसी लकड़ी आदि पर टांग दें और कहे प्रेतात्रस्नाहीति ।हे प्रेत!इससे स्नान करो। तीनरात और तीन अहोरात्र मरणाशौच रहता है। कतिपय आचार्यों का मत है दश दिन तक रहता है। उस काल में वेद का पठन पाठन न करे। अशौचकाल पन्द्रह दिन वा एकमास का माना जाता है ।ग्यारहवें दिन विषम संख्या के विद्वानों को भोजन कराना चाहिए। प्रेत के निमित विद्वान् को गाय का दान करना चाहिए। मात्र तीन पूर्व पुरुषों तीन पीढ़ी तक ही पिण्डदान करना चाहिए चतुर्थ को पिण्डदान न करे। कुछ आचार्य एकवर्ष तक उस अकेले को ही पिण्ड देना चाहिए। इस मृतक के निमित्त पुरोहित को प्रतिदिन एकवर्ष तक अन्न जलपूर्ण घट देना चाहिए।[922]

---

[921] यजु०35.6

[922] सर्वे ज्ञातयोऽपोभ्यवयन्त्यासप्तमात्पुरुषाद्दशमाद्वा । समानग्रामवासे यावत्सम्बन्धमनुस्मरेयुः। एकवस्त्राः प्राचीनावीतिनः। सव्यस्यानामिकयाऽपनोद्यापनः शोशुचदघमिति । दक्षिणमखानिमज्जन्ति । प्रेतायोदकं सकृतप्रसिञ्चन्त्यञ्जलिनाऽसावेतत्त उदकमिति । उत्तीर्णान्छुचौ देशे शाड्वलवत्युपविष्टांस्तत्रैतानपवदेयुः। अनवेक्षमाणा ग्राममायान्ति रीतीभूताः कनिष्ठपूर्वाः। निवेशनद्वारे पिचुमन्दपत्राणि विदश्याचम्योदकमग्निं गोमयं गौरसर्षपांस्तैलमालभ्याश्मानमाक्रम्य प्रविशन्ति । त्रिरात्रं ब्रह्मचारिणोऽधः शायिनो न किञ्चन कर्म कुर्वन्ति । क्रीत्वा लब्ध्वा वा दिवैवान्नमश्नीयुरमांसम् । प्रेताय पिण्डं दत्त्वाऽवनेजनदानप्रत्यवनेजनेषु नामग्राहम् । मृन्मये तां रात्रीं क्षीरोदके विहायसि निदध्युः प्रेतात्रस्नाहीति। त्रिरात्रं शावमाशौचम् । दशरात्रमित्येके । स्वाध्यायामधीयीरन् । एकादश्यामयुग्मान्ब्राह्मणान्भोजयित्वा मामसंवत्। प्रेतायोद्दिश्य गामप्येके घ्नन्ति। पिण्डकरणे प्रथमः पितृणां प्रेतः स्यात्पुत्रवांश्चेत्। निवर्तेत चतुर्थः। संवत्सरं पृथगेके। न्यायस्तु न चतुर्थः पिण्डो भवतीति श्रुतेः। अहरहरन्नमस्मै ब्राह्मणायोदकुम्भं च दद्यात्। पा०गृ०सू० 3,10.17–54

विष्णुपुराण के अनुसार शव को स्नान आदि कराकर पुष्पमालाओं से विभूषितकर शव को गाँव से बाहर जलाया जाता है। फिर जलाशय में वस्त्र सहित स्नानकर दक्षिणमुख होकर यत्र–तत्र स्थितायैतदमुकाय (अर्थात् हमलोग अमुक नाम गोत्र वाले प्रेत के निमित वे जहाँ कहीं भी हो यह जल देते हैं) आदि वाक्य का उच्चारण कर जलाञ्जलि दिया जाता है।[923] तदनन्तर गोधूलि के समय तारामण्डल के दिखाई देने पर गाँव में प्रवेश किया जाता है। फिर अशोच आदि कृत्यों को सम्पन्न कर पृथिवी पर शयन किया जाता है। मृत व्यक्ति के लिए प्रतिदिन पिण्ड दान करना चाहिए। केवल दिन के समय मांसहीन भात खाने का विधान है।[924] अशौच के पहले, तीसरे, सातवें अथवा नवें दिन वस्त्र त्यागकर और बहिर्देश में स्नानकर तिलोदक समर्पित करे।[925] मृतक के कुटुम्ब का अन्न दस दिन तक नहीं खाया जाता है क्योंकि उस समय अशौच काल माना जाता है। अशौचकाल में दान ,परिग्रह, होम और स्वाध्याय आदि कर्म भी वर्जित माना जाता है । ब्राह्मण और क्षत्रिय का अशौच बारह दिन का तथा वैश्य तथा शूद्र का क्रमशः पन्द्रह दिन, एक महीने का होता है।[926] अशौच के अनन्तर ब्रह्मभोज करने का तथा फिर प्रतिमास एकवर्ष तक मृत्युतिथि पर एकोदिष्ट श्राद्ध करने का विधान है।[927] एकवर्ष पूर्ण होने पर सपिण्डीकरण किया जाता है। इस सपिण्डीकरण कर्म को भी एकवर्ष, छः महीने में अथवा बारह दिन के अनन्तर एकोदिष्ट श्राद्ध की विधि से ही पूर्ण करने का विधान है। इसमें तिल ,गन्ध और जल से युक्त चार पात्र रखा जाता है इनमें एक पात्र मृतव्यक्ति का तथा तीन पात्र पितृगण के होते हैं। फिर मृतपुरुष के पात्र स्थित जलादि से पितृगण के पात्र का सिञ्चन किया जाता है। इस प्रकार मृतपुरुष को पितृत्व प्राप्त हो जाने पर सम्पूर्ण श्राद्ध कर्मों के द्वारा उस मृतव्यक्ति से ही प्रारम्भ कर पितृगण के पूजन का विधान है।[928]

---

[923] प्रेतदेहं शुभैः स्नानैस्नापितम् स्रग्विभूषितम् ।
दग्ध्वा ग्रामाद्बहिः स्नात्वा सचैलस्सलिलाशये।
यत्र तत्र स्थितायैतदमुकायेति वादिनः।।
दक्षिभिमुखा दद्युर्बान्धवास्सलिलाञ्जलीन् ।।वि०पु०3.13.8–9

[924] प्रविष्टाश्च समं गोभिर्ग्रामं नक्षत्रदर्शने ।
कटकर्म ततः कुर्युभूमौ प्रस्तरशायिनः।।
दातव्योऽनुदिनं पिण्डः प्रेताय भुवि पार्थिव।
दिवा च भक्तं भोक्तव्यम् अमांसं मनुजर्षभ।।वि०पु० 3.13.10–11

[925] प्रथमेऽह्नि तृतीये च सप्तमे नवमे तथा ।
वस्त्रत्यागबहिस्नाने कृत्वा दद्यात्तिलोदकम् ।।वि०पु० 3.13.13

[926] मृतबन्धोर्दशाहनि कुलस्यान्नं न भुज्यते ।
दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्याायश्च निवर्तते।।
विप्रस्यैतद् द्वादशाहं राजन्यस्याप्यशौचकम् ।
अर्धमासं तु वैश्यस्य मासं शूद्रस्य शुद्धये।।वि०पु० 3.13.18–19

[927] एकोदिष्टमयो धर्म इत्थमावत्सरात्स्मृतः।।वि०पु० 3.13.26

[928] एकोदिष्टविधानेन कार्यं तदपि पार्थिव।

3.17 पञ्चमहायज्ञ एवं कालिदासीय सन्दर्भ

वसिष्ठ ऋषि के प्रतिदिन के पञ्चमहायज्ञ नन्दिनी की कृपा से पूर्ण होते थे, कालिदास रघुवंश में वर्णन करते हैं कि नन्दिनी दुग्धादि प्रदान करके वसिष्ठ ऋषि के याग, श्राद्ध, अतिथिसत्कार में सहायता करती है।[929] वस्तुतः पाँच महायज्ञ क्यों करना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर में मनु ने कहा है कि् गृहस्थ के यहाँ पाँच स्थान हिंसा के होते हैं, चूल्हा , चक्की, झाड़ू, ओखली, जलकुम्भ, इनको काम में लाने से पाप लगता है।[930] क्योंकि ये ऐसेस्थान है जहाँ न चाहते हुए भी किसी जीव की हिंसा अनजाने में होती है। इन दोषों को मिटाने के लिए महर्षियों ने गृहस्थों को पाँच यज्ञ नित्य करने को कहा है।[931]

- ब्रह्मयज्ञ– शास्त्रों का अध्ययन अध्यापन
- पितृयज्ञ– पितरों का तर्पण
- देवयज्ञ– देवताओं के निमित होम(हवन)
- भूतयज्ञ– प्राणियों को अन्न आदि देना
- मनुष्ययज्ञ– अतिथिसत्कार करना

इसलिए प्रत्येक गृहस्थ का यह परम कर्त्तव्य है कि उन्हें पञ्चमहायज्ञ अवश्य करने चाहिए।

उपसंहार

कालिदास की कृतियों में धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों का अन्वेषण करने से जो तथ्य प्राप्त हुए है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कालिदास का धर्मशास्त्रीय अध्ययन व्यापक स्तर का रहा है। इसी कारण उन्होंने मनु आदि आचार्यों के द्वारा कथित सिद्धान्तों को काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों अर्थात् उपमा आदि अलंकारों , गुणों आदि के माध्यम से सुन्दर शैली में प्रस्तुत किया है। कालिदास भारतीय परम्परा में वर्णित षोडशसंस्कारों को मानने वाले थे और तत्कालीन भारतीय समाज में ये संस्कार प्रचलन में थे। आज इन संस्कारों

संवत्सरेऽथ षष्ठे वा मासे वा द्वादशेऽह्नि तत्।।
तिलगन्धोदकैर्युक्तं तत्र पात्रचतुष्टयम् ।
पात्रं प्रेतस्य तत्रैकं पैत्रं पात्रत्रयं तथा।।
सेचयेत्पितृपात्रेषु प्रेतपात्रं ततस्त्रिषु।।
ततः पितृत्वमापन्ने तस्मिन्प्रेते महीपते ।
श्राद्धधर्मैरशेषैस्तु तत्पूर्वान् अर्चयेत्पितृन्।। वि०पु० 3.13.27–30

[929] तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थां अन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः ।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना । ।र०वं० 2.16,पृ० 54

[930] पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्।।मनु 3.68,पृ० 77

[931] अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भूतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।।मनु०3.70, पृ० 77

में कुछ संस्कार प्रायशः लुप्त हो गये हैं, जैसे सीमन्तोनयन, पुंसवन इत्यादि। किन्तु इन संस्कारों का व्यक्तित्व के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। भारतीय परम्परा में यह मान्यता है कि संस्कारों से व्यक्ति का दुबारा जन्म होता है इसलिए उसे द्विज कहा जाता है। संस्कार ही व्यक्ति को विनम्र बनाते हैं। अहंकार से युक्त होना और संस्कारविहीन होना ही व्यक्ति के पतन कारण है। इसलिए आचार्यों ने सूक्ष्मविश्लेषण करके इन संस्कारों को विशेष स्थान दिया है। प्रत्येक व्यक्ति से प्रतिदिन जाने अनजाने में पाप हो जाते हैं उन सब के निवारण के लिए पञ्चमहायज्ञ का विधान प्रत्येक व्यक्ति के लिए कहा गया है। कवि यदि शास्त्रीय सिद्धान्तों को सामान्य शैली में यदि प्रस्तुत करता है तो उसके काव्य में वैशिष्ट्य तो आता है किन्तु वह अत्यधिक चमत्कारी नहीं होता किन्तु यदि कवि सामान्याभिधा से अलग विचित्राभिधा के माध्यम से काव्य रचना करता है तो वह काव्य सहृदय आह्लादक होता है। जैसे सरोवर में कमल खिल रहा है यह एक वाक्य सामान्य व्यक्ति द्वारा कहा जाता है यह सामान्याभिधा कहलाती है किन्तु कवि जब इसी वाक्य को विचित्राभिधा में कहता है तो इसमें चमत्कार आ जाता है, भगवान् विष्णु के नेत्रों की समता प्राप्त करने के लिए कमल एक पैर से तपस्या कर रहा है। विचित्राभिधान से कथन ही कवि का वैशिष्ट्य है और इसी कारण उसकी सृष्टि विधाता की सृष्टि से भिन्न है।

चतुर्थ अध्याय

कालिदासीय कृतियों में व्याकरणशास्त्र प्रकरण

4. व्याकरणशास्त्र

व्याकरण शब्द का अर्थ होता है व्याक्रियन्ते शब्दा अनेन अस्मिन् वा। जिसके द्वारा या जिसमें शब्दों को व्याकृत किया जाता है उसे व्याकरण कहा जाता है। किसी भी भाषा को समझने के लिए उस भाषा के व्याकरण का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक होता है। क्योंकि व्याकरणशास्त्र के द्वारा ही हम साधु और असाधु शब्दों को समझने में समर्थ होते हैं। एक शब्द के अनेक अपभ्रंश शब्द होते हैं, किन्तु किस शब्द का प्रयोग करना चाहिए यह ज्ञान व्याकरणशास्त्र ही प्रदान करता है। शब्द के प्रवृत्ति निवृत्ति की व्याख्या व्याकरण द्वारा की जाती है। आचार्य भर्तृहरि ने शब्दप्रवृत्ति के तत्त्वज्ञान से शब्दब्रह्म की प्राप्ति कहकर व्याकरणशास्त्र को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है।[932] आचार्य पतञ्जलि ने व्याकरणशास्त्र के रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा सन्देह इन विशिष्ट प्रयोजनों का तात्त्विक प्रतिपादन किया है।[933] वेदों के स्वरूप की रक्षा के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है। क्योंकि व्याकरण ही वह माध्यम है जिसके द्वारा लोप, आगम आदि वर्णविकारों का प्रतिपादन किया जाता है। व्याकरण के ज्ञान से ही वेदमन्त्रों के अर्थों को समझने में सहायता मिलती है। वैदिकमन्त्रों में सभी लिङ्गों तथा सभी विभक्तियों का निर्देश नहीं किया गया है विभक्ति की कल्पना स्वतः करनी पड़ती है। अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि के प्रसङ्ग में कहे गये सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः में सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि का ऊह करना पड़ता है। वैयाकरण ही समझ सकता है कि अग्नये का सदृश चतुर्थी एकवचन में सूर्याय होगा। प्रकृति और विकृति को बताने हेतु व्याकरणशास्त्र की नितान्त आवश्यकता होती है। आगम प्रतिपादित करता है कि ब्राह्मण को बिना किसी दृष्ट कारण की अपेक्षा के षडङ्ग वेद का अध्ययन करना चाहिए। पदों और पदार्थों का ज्ञान व्याकरणशास्त्र से होता है। इसलिए व्याकरण के ज्ञान होने से ही वाक्यार्थ समझा जा सकता है। प्रतिपद पाठ की अपेक्षा शब्दों के प्रकृति प्रत्ययादि विभागपूर्वक व्याकरणविहित अन्वाख्यान में अत्यधिक लाघव होता है इसलिए लाघवपूर्वक शब्दज्ञानहेतु व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है। अर्थनिर्णय में सन्देहनिवृत्ति के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है। पतञ्जलि ने व्याकरणशास्त्र के पाँच मुख्य प्रयोजन के अतिरिक्त अन्य गौण प्रयोजनों की

---

[932] तस्य प्रवृत्तितत्वज्ञस्तद्ब्रह्मामृतमश्नुते ।वाक्य० 1.132, पृ० 30

[933] रक्षाहोगमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम् ।पस्पशा०,पृ० 13

भी चर्चा की है। आचार्य भर्तृहरि ने व्याकरण के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा कि सभी तपों में अर्थात् ब्रह्मचर्य, अधःशयन, चान्द्रायण इत्यादि में व्याकरणशास्त्र का अध्ययन करना उत्तम तप है। क्योंकि यह शब्दस्वरूप वेदब्रह्म का साक्षात् उपकारक है,यह पवित्रतम प्रकाशस्वरूप शब्दब्रह्म के तात्विकज्ञान का सरलतम साधन है।[934]जिस प्रकार आयुर्वेद शारीरिक दोषों को दूर करने वाला है उसी प्रकार व्याकरणशास्त्र वाणी के दोषों को दूर करने वाला है। मोक्ष चाहने वाले पुरुषों के लिए मोक्षप्राप्ति का यह सीधा राजमार्ग है।[935] आचार्य भर्तृहरि का स्पष्ट मत था कि इस संसार में कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है जो शब्दमूलक न हो, उपदेशक और श्रोता का समस्त ज्ञान शब्द से तादात्म्य सम्बन्ध से सम्बद्ध रहता है।[936]इसका अभिप्राय स्पष्ट है कि शब्द की व्यापक सता है तथा उसमें ऐसा सामर्थ्य है कि वह समस्त ज्ञान का वाचक होता है। शास्त्रीय अध्ययन हेतु व्याकरणशास्त्र का ज्ञान निश्चित ही अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है।

4.1 कालिदास की कृतियों में वैयाकरणों के अभिमत शब्दों के प्रवृत्ति–निमित्त

चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः इस सिद्धान्त का उल्लेख करते हुए कालिदास लिखते हैं कि ब्रह्मा के मुख से निकली वाणी ने अपने को चाररूपों वाला होना सत्य कर दिया।[937] यहाँ वाणी के चाररूपों पर यदि विचार किया जाय तो यहाँ कवि के द्वारा व्याकरणशास्त्र के सिद्धान्त का ही उल्लेख किया गया है। वैयाकरणों का सिद्धान्त है कि शब्द से जो अर्थ बोध होता है। वह प्रवृत्ति–निमित्तों के भेद से चाररूपों में होता है। जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा। अतः शब्द एवम् अर्थ जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा इन चाररूपों में विभक्त होते हैं। मीमांसा सम्प्रदाय के आचार्य केवल जाति को ही शब्द का प्रवृत्ति–निमित्त मानते हैं। इस विषय में वे तर्क देते हैं कि यद्यपि व्यवहार प्रक्रिया का निर्वाह व्यक्तिरूप अर्थ के द्वारा ही होता है तथापि आनन्त्य एवं व्यभिचार दोषों के कारण जातिरूप अर्थ में ही सङ्केत स्वीकार करना चाहिए ,व्यक्ति में नहीं।

4.1.1 आचार्य पाणिनि के अनुसार शब्दप्रवृतिनिमित्त

---

[934] आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।
प्रथमं छन्दासामङ्गं प्राहुर्व्याकरणंबुधाः।वाक्य० 1.11, पृ० 2
यत्पुण्यतमं ज्योतिः तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः।वाक्य० 1.12,पृ० 3

[935] तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।
पवित्रं सर्वविद्यानाम् अधिविद्यं प्रकाशते।।वाक्य० 1.14, पृ० 3
इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः।।वाक्य० 1.16,पृ० 3

[936] न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।वाक्य० 1.123, पृ० 28

[937] पुराणास्य कवेस्तस्य चतुर्मुखसमीरिता ।
प्रवृत्तिरासीच्छब्दानां चरितार्था चतुष्टयी।। कु०स० 2.17

यद्यपि आचार्य पाणिनि ने शब्दतः कहीं भी प्रवृत्ति–निमित्तों की चर्चा नहीं की है, तथापि आचार्य पतञ्जलि इनके सूत्रों के आधार पर इनके अभिप्राय को स्पष्ट करते हैं।[938]पाणिनि ने जाति को पदार्थ मानकर जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्[939] सूत्र का एवं व्यक्ति को पदार्थ मानकर सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ[940] सूत्र का विवेचन किया है। यदि सर्वत्र व्यक्ति को ही पदार्थ माना जाय तो गावः पूज्याः आदि प्रयोगों में व्यक्तियों के अनेकत्व कारण ही बहुवचन सम्भव है। इस स्थिति में पाणिनि द्वारा जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम् सूत्र का विधान व्यर्थ सिद्ध होता है । जबकि पाणिनि के विषय में पतञ्जलि की यह धारणा है कि उनके द्वारा लिखा गया एक वर्ण भी निरर्थक नहीं है। अतः पाणिनि के इस सूत्र विधान से सिद्ध होता है कि इन्हें जातिरूप पदार्थ मान्य था। किन्तु यदि जाति को ही पदार्थ मान लिया जाय तो सर्वत्र जाति के एक होने से एक शब्द से ही प्रयोगनिर्वाह हो जायेगा, समान रूप वाले अनेक शब्दों का प्रसंग न होने के कारण एकविभक्ति में समान आकृति वाले शब्दों के एक शेष का विधायक सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ सूत्र निरर्थक सिद्ध होता है। अतः पाणिनि द्वारा इस सूत्र का विधान यह इङ्गित करता है कि उनको व्यक्तिरूप पदार्थ भी स्वीकार्य था। क्रियारूप अर्थ को इन्होंने उपसर्गाः क्रियायोगे।[941] सूत्र के द्वारा क्रिया के योग में उपसर्गसंज्ञा का विधान कर मान्यता दी है । इसी प्रकार पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन।[942] इस सूत्र से आचार्य ने पूरणगुणाद्यर्थक तथा सत् आदि शब्दों के साथ प्राप्त षष्ठीसमास के निषेध का विधान किया है। इससे सिद्ध होता है कि इन्हें गुणरूप पदार्थ भी अभीष्ट है। पाणिनि ने अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्[943] इस सूत्र का विधान कर अव्युत्पन्न यदृच्छा शब्दों को मान्यता दी है। इस प्रकार उक्तसूत्रों के विवेचन से आचार्य पाणिनि शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त चाररूपों में मानते हैं।

4.1.2 जातिवादी आचार्य वाजप्यायन का मत

इस सन्दर्भ में आचार्य वाजप्यायन जो कि जातिवादी हैं उनका मत है कि गौः यह उच्चारण करने पर गोत्व सामान्य का बोध होता है। शुक्ल, नील, आदि गुणों का बोध नहीं होता , एक गाय के ज्ञात हो जाने पर रूप, अवस्था, आकार आदि के भिन्न–भिन्न

---

[938] किं पुनराकृत्तिः पदार्थः आहोस्विद् द्रव्यम् ? उभयमित्याह । उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि । म०भा०,पस्पशाह्निक

[939] पा०सू० 1.2.58

[940] पा०सू० 1.2.64

[941] पा०सू० 1.4.59

[942] पा०सू० 2.2.11

[943] पा०सू० 1.2.45

होने पर भी गौः गौः इस एकाकार प्रतीति के कारण सम्पूर्ण गाय व्यक्तियों का ज्ञान हो जाता है। एकाकार प्रतीति के कारण ही सम्पूर्ण व्यक्तियों में सामान्य अर्थात् जाति का सद्भाव तथा एकत्व माना जाता है। धर्मशात्र में प्रतिपादित विधियों से भी जातिरूप पदार्थ की सिद्धि होती है, ब्राह्मण का वध नहीं करना चाहिए, इस विधिवाक्य का अभिप्राय ब्राह्मणमात्र अर्थात् जितने भी ब्राह्मण हैं सभी की हत्या का निषेध करना है। अन्यथा एक ब्राह्मण को न मारने से एक के अतिरिक्त समस्त ब्राह्मणों को मार देने पर भी धर्मशास्त्र की विधि पूरी हो सकती है। अतः विधिवाक्यों की संगति के लिए जातिरूप पदार्थ अवश्य स्वीकार्य होता है। जाति को पदार्थ मान लेने पर ब्राह्मणत्व से युक्त सम्पूर्ण ब्राह्मणों के वध का प्रतिषेध संगत हो जाता है। आचार्य वाजप्यायन को जाति का व्यापकस्वरूप अभिप्रेत था। जैसे एक समय में अनेकत्र आहूत इन्द्र उन–उन स्थानों में पहुँचा रहता है, उसी प्रकार जाति भी सर्वत्र व्याप्त रहती है। शब्द यदि केवल द्रव्य को ही कहने वाले होते तो जाति का बोध न होने से शब्द से समस्त द्रव्यों का ज्ञान नहीं हो सकता था। इसीलिए आचार्य वाजप्यायन यह मानते हैं कि शब्द का अर्थ जाति रूप ही होता है।[944]

4.1.3 द्रव्यवादी आचार्य व्याडि का मत

आचार्य व्याडि शब्द का अभिधेय द्रव्य अर्थात् व्यक्ति को ही मानते हैं। इन्होंने जाति को अर्थ मानने में दोष दिखाकर जातिवाद का खण्डन किया है। वार्तिककार कात्यायन तथा भाष्यकार पतञ्जलि ने व्याडि के अभिमत द्रव्यवाद या व्यक्तिवाद को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आचार्य व्याडि द्रव्य से ही शब्द का अभिधान उचित मानते हैं। शब्द का अभिधेय द्रव्य मान लेने से व्यक्ति के अनुरूप लिङ्गों एवं वचनों की सिद्धि हो जाती है। पुल्लिङ्ग में ब्राह्मण , स्त्रीलिङ्ग में ब्राह्मणी, बहुवचन में ब्राह्मणाः आदि प्रयोग संगत हो जाते हैं। धर्मशास्त्रों के आदेशों से भी द्रव्य ही अभिधेय है इसकी सिद्धि हो जाती है। जाति को अभिधेय मानने पर गौरनुबन्ध्यः आदि शास्त्रविधियों में व्यवस्था नहीं बनेगी । इस वाक्य का एक व्यक्ति के आलम्भन में तात्पर्य है। समस्त गाय जाति के आलम्भन में तात्पर्य नहीं है। यह व्यवस्था तभी सम्भव है जब व्यक्तिरूप अर्थ माना जाय। यह उचित नहीं हैं कि शब्द से जाति का अभिधान हो तथा आलम्भन आदि कार्य द्रव्य में हों, जैसा

---

[944]आकृत्याभिधानाद्वैकं शब्दं विभक्तौ वाजप्यायनः आचार्यो न्याय्यं मन्यते । एका आकृतिः ,सा चाभिधीयते । नहि गौरित्युक्ते विशेषः प्रख्यायते , शुक्ला, नीला , कपिला कपोतिकेति।अव्यपवर्गतेश्च मन्यामहे आकृतिरभिधीयते इति । धर्मशास्त्रञ्च तथा (वा०) एवञ्च कृत्वा धर्मशास्त्रं प्रवृत्तं " ब्राह्मणो न हन्तव्यः " सुरा न पेयेति " ब्राह्मणमात्रं न हन्यते , सुरामात्रञ्च न पीयते । यदि द्रव्यं पदार्थः स्यादेकं ब्राह्मणमहत्वैकां सुरामपीत्वान्यत्र कामचारः स्यात् । अस्ति खल्वप्येकमनेकाधिकरणस्थं युगपल्लभ्यते । तद्यथा एक इन्द्रोऽनेकस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति । एवम् आकृतिरपि युगपत् सर्वत्र भविष्यति । द्रव्याभिधाने सत्याकृतेरसंप्रत्ययः स्यात् । तत्रासर्वद्रव्यगतिः प्राप्नोति । म०भा०1.2.64, पृ० 125–128

कि जातिवादियों को स्वीकार करना पड़ता है। जातिवादियों का अभिमत एक वस्तु का अनेक अधिकरण में रहना भी असंगत ही है क्योंकि एक ही देवदत्त सुग्घ्न देश में तथा मथुरा में एक साथ नहीं रह सकता। जाति को पदार्थ मान लेने पर एक का विनाश होने पर सम्पूर्ण जाति का विनाश तथा एक के उत्पन्न होने पर सम्पूर्ण जाति ही उत्पन्न होने लगेगी। एक कुते की मृत्यु के बाद लोक से कुत्ता नाम ही समाप्त हो जाना चाहिए तथा एक गाय के उत्पन्न हो जाने पर समस्त गोसमुदाय उत्पन्न नहीं होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के स्वरूप में भिन्नता स्पष्ट है, जाति को पदार्थ मानने पर यह असंगत होगा। क्योंकि भिन्नता एवम् अभिन्नता दो विरुद्धधर्म एक साथ नहीं रह सकते। गौश्च गौश्च जैसे विग्रहों का एक अर्थ की वाचकता में पर्यायों की तरह एक साथ प्रयोग भी असंगत होगा। अतः जाति को पदार्थ न मानकर व्यक्ति को ही पदार्थ मानना चाहिए।[945]

4.1.4 पतञ्जलि का शब्दप्रवृतिनिमित्त विषयक मत

पतञ्जलि ने शब्दप्रवृत्ति विषय पर गम्भीरता से विचार किया है कि शब्द के द्वारा जो संकेत किया जाता है वह किन अर्थों का ज्ञान कराता है उनका कथन है कि शब्द की अर्थ में जो प्रवृत्ति होती है वह चार प्रकार की होती है।[946]जातिरूप में, गुणरूप में, क्रियारूप में तथा यदृच्छारूप में। ऋलृक् इस शिवसूत्र के व्याख्यान में पतञ्जलि ने यदृ च्छा शब्दों के विषय में कहा कि आचार्य पाणिनि ने इकोयणचि सूत्र द्वारा लृकार का विशेष उपदेश यदृच्छा शब्दों के लिए किया है। स्वेच्छा से यदि किसी का नाम लृतक रख दिया जाता है तो वह यदृच्छा शब्द की कोटि में ही आयेगा। इस प्रकार के शब्दों में भी अच् प्रत्याहार प्रयुक्त कार्य हों, इसके लिए आचार्य का लृकारोपदेश सार्थक है । इसी प्रकार दध्य्लृतकाय देहि आदि उदाहरण साधु माने गये हैं। अतः शब्दों की चतुष्टयी प्रवृत्ति सिद्ध होती है।[947]

कैयट और नागेश ने यदृच्छा शब्द का विवेचन करते हुए कहा है कि यदृच्छाशब्द उसे कहते हैं जिसे वक्ता अपनी ही इच्छा से किसी अर्थ में प्रयोग करता है। इसमें अर्थ के

---

[945] द्रव्याभिधानं व्याडिः (वा०)द्रव्याभिधानं व्याडिराचार्यो न्याय्यं मन्यते. द्रव्यमभिधीयते इति।एवं च कृत्वा लिङ्गवचनानि सिद्धानि भवन्ति। ब्राह्मणी ब्राह्मणः ब्राह्मणौ ब्राह्मणा इति। चोदनासु च तस्यारम्भान्मन्यामहे. द्रव्यमभिधीयत इति। आकृतौ चोदितायां द्रव्ये आरम्भणालम्भनप्रोक्षणविशसनादीनि क्रियन्ते। न खल्वप्येकमनेकाधिकरणस्थं युगपदुपलभ्यते। नह्येको देवदत्तो युगपत्स्रुघ्ने भवति मथुरायां च। विनाशे प्रादुर्भावे च सर्वं तथा स्यात् ।श्वा मृतः इति, श्वा नाम लोके न प्रचरेत्। गौर्जातः इति, सर्वं गोभूतमनवकाशं स्यात्। अस्ति खल्वपि वैरूप्यम्– गौश्च गौश्च, एवं च कृत्वा विग्रह उपपन्नो भवति। म०भा०1.2.64 , पृ० 131–133

[946] चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः, जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः।।महाभा० ऋलृक् सूत्र , पृ० 90

[947]लृकारोपदेश क्रियते यदृच्छाशब्दार्थो । यदृच्छाशब्दार्थस्तावत् यदृच्छया कश्चिद्लृतको नाम। तस्मिन्नच्कार्याणि स्युः , दध्य्लृतकाय देहि । चतुष्टयीशब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः।। म०भा० ,ऋलृक्

निमित्त पर ध्यान न देकर केवल प्रयोक्ता के अभिप्राय पर ही मुख्यता रहती है। इस प्रकार के शब्दों को ऐच्छिक शब्द समझना चाहिए। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति ने एक वस्तु का नाम डित्थ या डवित्थ रख दिया, दूसरे ने उसका नाम हरि या हर रख दिया, ये शब्द व्यक्तिविशेष के बोधक हैं, इनमें व्यक्ति के अतिरिक्त और कोई प्रवृत्ति का कारण नहीं है , अतः इनमें अनन्तता और अव्यवस्था नहीं होती। नागेश का कहना है कि नाम रखने वाले व्यक्ति विशेष ही होते हैं समुदाय नहीं। यदृच्छा शब्द अनेक प्रकार के हैं। एक व्यक्ति के द्वारा रखे गये नाम डित्थ आदि एक वस्तु है। व्यक्ति के अतिरिक्त व्यक्तिवाची शब्दों का और कोई प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है। अनेकत्ववादी अर्थात् जातिवादी के मत में वह शब्द व्यक्ति के लिए संकेत न रहकर व्यक्ति के द्वारा संकेतित जाति का बोध कराते हैं। शब्द के द्वारा बोध्य व्यक्ति अनन्त है अतः वह शब्द जाति का बोधक है जैसे टि, घु, भ आदि संज्ञाएँ।[948] नागेश ने ऐच्छिक शब्द के दो स्वरूप स्वीकार किये हैं, एक व्यक्तिविशेष और दूसरा जाति। व्यक्ति वाचक नाम को रखने वाल व्यक्तिविशेष ही होता है व्यक्ति या द्रव्यवाचक शब्दों का नाम प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ऐच्छिक रूप से रखता है। उदाहरण के लिए प्रत्येक व्यक्ति के देवदत्त और यज्ञदत्त आदि नाम। इसी प्रकार जातिवाचक शब्दों के नाम भी व्यक्तिविशेष ही रखता है, जैसे टि, घु, भ आदि संज्ञाओं के नाम पाणिनि ने रखा है। संसार में दो ही प्रकार के शब्द है जातिवाची या व्यक्तिवाची। सूक्ष्मदृष्टि से सब शब्द जाति के वाचक है और अत्यन्त स्थूल दृष्टि से व्यक्ति अर्थात् स्थूल दृश्य पदार्थों के वाचक है दोनों प्रकार के अर्थों को नाम देने वाले स्थूल बुद्धि वाले या सूक्ष्मबुद्धि वाले व्यक्तिविशेष ही होते हैं।

पतञ्जलि ने यदृच्छा शब्दों के अस्तित्त्व को अस्वीकृत करते हुए कहा कि शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त तीन ही होते हैं जाति, गुण और क्रिया। अतः शब्द तीन ही प्रकार के हैं जातिवाचक, गुणवाचक और क्रियावाचक। यदृच्छाशब्द नहीं है।[949]

पतञ्जलि का अभिप्राय यह है कि ऋतक शब्द भले ही लृतक का निवर्तक न हो किन्तु शिष्टों के प्रयोग के कारण तो लृतक की निवृत्ति हो ही जायेगी। शिष्ट व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त शब्दों में साधुता के कारण अव्युत्पन्नसंज्ञाशब्द पक्ष में भी परम्परा से प्राप्त शिष्टों द्वारा

---

[948] शब्दानांमर्थे या प्रवृत्तिः सा प्रवृत्तिनिमित्तभेदाप्रकारचतुष्टयवतीत्यर्थः। तत्र यदृच्छा शब्दो नाम वक्ता स्वेच्छया सन्निवेशितः। स चानेकविधः दृएकव्यक्तिसन्निवेशितो डित्थादिरेकः, तत्र न किञ्चिदतिरिक्तं प्रवृत्तिनिमित्तमानन्त्यव्यभिचारयोरभावात् । अनेकत्वमते तत्तत्जात्युपलक्षिते सा।। टिघुभादीनां तु तच्छक्यानामानन्त्यात्तत्पदमेव प्रवृत्तिनिमितम्।। उद्योत, महाभा० ,ऋलृक् सूत्र , पृ० 90

यदृच्छेति । अर्थगतं प्रवृत्तिनिमित्तमनपेक्ष्य यः शब्दः प्रयोक्तृभिप्रायेणैव प्रवर्तते स यदृच्छाशब्दो डित्थादिः।। प्रदीप ,महाभा० ,ऋलृक् सूत्र , पृ० 90

[949] त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दा इति । न सन्ति यदृच्छाशब्दः।। महाभा० ,ऋलृक् सूत्र , पृ० 91

प्रयुक्त संज्ञाओं से ही व्यवहार करना चाहिए। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो जो यदृच्छा शब्द शिष्टों द्वारा प्रयुक्त नहीं हैं वे असाधु होने के कारण शास्त्र के विषय नहीं बनते। यही पतञ्जलि का तात्पर्य है शास्त्रविषयता के लिए यदृच्छा शब्दों में पहले गुण, क्रिया आदि का आरोप करना पड़ता है। इनसे भी यदृच्छा रूप अर्थ के बोध में पतञ्जलि को कोई आपत्ति नहीं है। कैयट ने पतञ्जलि के भाव को स्पष्ट करते हुए कहा कि आज भी जब कोई नाम रखा जाता है तब प्रशस्त क्रिया या गुण का उसमें आरोप किया जाता है।[950] टि , घु , भ आदि पाणिनि आदि शिष्टों के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण साधु है अतः ये शास्त्रों के विषय बनते हैं। यदृच्छा रूप अर्थों में दोनों प्रकार के यदृच्छा शब्दों की प्रवृत्ति होती है। अतः शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त को चार ही प्रकार का माना गया है।[951]

पतञ्जलि ने वाजप्यायन एवं व्याडि के मतों की समालोचना करके जाति और व्यक्ति दोनों को ही पदार्थ मानने में अपनी स्वीकृति दी है। व्यक्तिवादियों का आक्षेप था कि जाति को पदार्थ मानने पर लिङ्ग और वचन की व्यवस्था असंगत हो जायेगी, इसके समाधान में इन्होंने माना कि गुणवचन शब्दों के समान लिङ्ग एवं वचन की व्यवस्था सम्भव है। जैसे शब्दों के आश्रय से गुणवाचकोंके लिङ्ग एवं वचन उपस्थित होते हैं अर्थात् गुण जिस द्रव्य के लिए प्रयुक्त होते हैं। उसी के अनुरूप उनके लिङ्ग एवं वचन निर्धारित किए जाते हैं शुक्लं वस्त्रम्, शुक्ला शाटी, शुक्लः कम्बलः, शुक्लौ कम्बलौ, शुक्लाः कम्बलाः आदि । इसी प्रकार आकृति जिस द्रव्य का आश्रय ग्रहण करती है उस द्रव्य के जो लिङ्ग एवं वचन होंगे वहीं लिङ्ग एवं वचन आकृत्ति के भी होंगे । जाति , व्यक्ति दोनों को पदार्थ मान लेने पर जाति का आश्रय द्रव्य में आलम्भन आदि भी उपपन्न हो जाते हैं। अनेक अधिकरणों में एक साथ की आपत्ति भी निराकृत हो जाती है और द्रव्य के विनष्ट हो जाने पर भी जाति का विनाश नहीं होता, क्योंकि जिस प्रकार द्रव्य के अधीन स्थिति होने के कारण गुणों का द्रव्याश्रितत्व है उस प्रकार जाति का नहीं। यह एक है, नित्य है तथा सर्वत्र व्याप्त है। द्रव्य का स्वरूप इससे भिन्न है इसलिए द्रव्य के विनष्ट हो जाने पर भी इसका विनाश नहीं होता। वृक्ष में चढ़ा हुआ वितान वृक्ष के कट जाने पर भी जैसे विनष्ट नहीं होता उसी प्रकार यह भी विनष्ट नहीं होगी। द्रव्य के भेद का आश्रय

---

[950] अद्यत्वेऽपि यदा नाम क्रियते तदा प्रशस्यरूपा क्रिया गुणो बाध्यारोप्यत इति भावः।।प्रदीप ,महाभा० ,ऋलृक् सूत्र , पृ० 91

[951] न्यायः ऋतकशब्दः शास्त्रान्वितोऽस्ति। स कल्पयितव्यः साधुः संज्ञादिषु ऋतक एवासौ न लृतकः। सन्ति यदृच्छा शब्दा इति कृत्वा प्रयोजनमुक्तम्, न सन्तीति परिहारः। समाने चार्थे शास्त्रान्वितोऽशास्त्रान्वितस्य निवर्तको भवति । महाभा० ऋलृक् सूत्र , पृ० 92

लेकर वैरुप्य एवं विग्रह भी उपपन्न हो जायेगें। अतः जाति एवं व्यक्ति दोनों को पदार्थ मानना चाहिए।[952]

आचार्य भर्तृहरि भी पतञ्जलि का समर्थन करते हैं इन्होंने स्पष्ट किया कि समस्त शब्द जाति अथवा व्यक्ति का अभिधान करते हैं। शब्दों द्वारा अभिधीयमान जाति एवं व्यक्तिरूप पदार्थ नित्य ही माने गये हैं।[953] भर्तृहरि के इस विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि इन्हें दोनों प्रकार के पदार्थ स्वीकृत थे।

4.1.5 आचार्य मम्मट के अनुसार शब्दप्रवृतिनिमित्त

शब्दप्रवृत्तिनिमित्त के विषय में आचार्य मम्मट का विवेचन इसलिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्योंकि इनका सिद्धान्त वैयाकरणासम्मत ही है। उनका कहना है कि साक्षात् संकेतित अर्थ को कहने वाले शब्द वाचक शब्द है, यद्यपि व्यवहार की दृष्टि से व्यक्ति ही प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के योग्य होता है किन्तु आनन्त्य और व्यभिचार दोष के कारण व्यक्ति में संकेतग्रह नहीं माना जा सकता। इसलिए उपाधि में अर्थात् जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा रूप अर्थों में संकेतग्रह माना जाता है, शब्द भी इन्हीं चारों भेदों से चार प्रकार के होते हैं। जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा ये वाच्य अर्थ हैं तथा इन के बोधक संकेतयुक्त ध्वनियाँ वाचक शब्द हैं। जिस शब्द में संङ्केतग्रह नहीं होता उससे अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती, अतः शब्द का जिस अर्थ में सङ्केत होता है वह उसका अर्थ होता है। शब्द से सबसे पहले प्रतीत होने वाला प्रसिद्ध अर्थ मुख्यार्थ कहलाता है, इसी को अभिधेयार्थ और वाच्यार्थ कहा जाता है। इसलिए जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा को वाच्यार्थ कहा जाता है। आनन्त्य व्यभिचार दोषों के कारण व्यक्ति में संकेतग्रह सम्भव नहीं है तथा गौः शुक्लः चलः डित्थः पदों का अनेकार्थत्वेन बोध न हो अतः शब्दों की उपाधि में सङ्केत मानना चाहिए।[954]

---

[952] गुणवचनवद्वा लिङ्गवचनानि भविष्यन्ति। तद्यथा– गुणवचनानां शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति– शुक्लं वस्त्रम् , शुक्ला शाटी , शुक्लः कम्बलः , शुक्लौ कम्बलौ , शुक्लाः कम्बला इति। यदसौ द्रव्यं श्रितो भवति गुणस्तस्य यल्लिङ्गं वचनं च तद् गुणस्यापि भवति। एवमिहापि यदसौ द्रव्यं श्रिताऽऽकृतिस्तस्य यल्लिङ्गं वचनं च तदाकृतेरपि भविष्यति। आकृतिसहचरिते द्रव्ये आरम्भणादीनि भविष्यन्ति।द्रव्यविनाशे आकृतेरविनाशः।कुतः? अनाश्रितत्वात्। अनाश्रिताऽऽकृतिर्द्रव्यम्। द्रव्यविनाशे आकृतेरविनाशः। कुतः? अनैकात्म्यात् अनेक आत्माऽऽकृतेर्द्रव्यस्य च। तद्यथा– वृक्षस्थो वितानो वृक्षे छिन्नेऽपि न विनश्यति।वैरूप्यविग्रहावपि द्रव्यभेदाद्भविष्यतः।।म०भा० 1.2.64,पृ० 137–139

[953] स्वं रूपमिति कैश्चित्तु व्यक्तिः संज्ञोपदिश्यते ।
व्यक्तेः कार्याणि संसृष्टा जातिस्तु प्रतिपद्यते ।।
सञ्जिनीं व्यक्तिमिच्छन्ति सूत्रे ग्राह्यमथापरे ।
जातिप्रत्यायिता व्यक्तिः प्रदेशेषूपतिष्ठते ।। वाक्य० 1.68–89

[954] जातिः क्रियागुणः संज्ञा वाच्योऽर्थः समितध्वनिः।
अगृहीतसङ्केतस्य शब्दस्यार्थप्रत्तिपत्तेरभावात् सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थं प्रतिपादयति । तेन सम्मितः शब्दस्यार्थप्रतिपत्तेरभावात् सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थं प्रतिपादयति । तेन सम्मितः सङ्केतितो ध्वनिः शब्दो यत्र सोऽर्थः। पूर्वमुपलभ्यमानत्वान्न तु विश्रान्तिधामत्वान्मुख्य इति प्रसिद्धो वाच्योऽभिधेयार्थः । तथा चाह जातिरित्यादिः।

उपाधि का अभिप्राय जाति ,गुण, क्रिया एवं यदृच्छा। मम्मट ने जाति को पदार्थ का प्राणप्रद धर्म कहा है , उनका कहना है कि पदार्थों में व्यवहारयोग्यता पदार्थों के कारण ही है , जाति के बिना व्यवहारयोग्यता सम्भव नहीं है। इन्होंने आचार्य भर्तृहरि के मत को ही प्रकाशित किया है, जाति के विषय में आचार्य भर्तृहरि का मत है कि वस्तु का व्यवहार जाति के बिना असम्भव हैं। संसार का समस्त व्यवहार जाति पर ही आश्रित है। जाति के संसर्ग होने पर ही संसार की समस्त वस्तुओं का भिन्नाभिन्न रूप होता है।[955] वस्तुओं का एकत्व , नानात्व, सत्व एवं असत्व का व्यवहार , जाति का वस्तु से सम्बन्ध मानने पर ही सम्भव होता है।[956] हेलाराज का मत है कि पूर्ण ब्रह्मतत्त्व का शब्दों से अभिधान असम्भव है, इसलिए अविद्यापरिकल्पित घटत्व आदि जाति घटादि शब्द के व्यवहार का विषय बनते हैं। इसी प्रकार रक्त शब्द से गुण का अभिधान होता है। तात्त्विक दृष्टि से समस्त प्रपञ्च ब्रह्म है, वह साक्षात् कभी भी व्यवहार का विषय नहीं हो सकता। वह मूलतत्त्व द्रव्य है, जव द्रव्य में जाति का समावेश होता है तब वह व्यवहार के योग्य होता है, गाय को गाय के सम्बन्ध के बिना न गाय कह सकते हैं, न ही गाय से भिन्न, उसको गोत्व जाति के सम्बन्ध होने पर ही गाय कहा जाता है।[957] मम्मट ने गुण को विशेषाधान का हेतु कहा है। शुक्ल आदि गुण सत्ता प्राप्त वस्तुओं का सजातीयों से वैशिष्ट्य बताकर व्यावर्तन करते हैं। जाति का द्रव्य से नित्य सम्बन्ध होता है जबकि गुण का द्रव्य से सम्बन्ध रहता है भी और नहीं भी रहता है। यही जाति एवं गुण में भेदक तत्त्व है। पतञ्जलि के अनुसार गुण द्रव्य से सम्बद्ध होता है, नहीं भी होता है। यह अनेक प्रकार के द्रव्यों में दिखाई पड़ता है इसलिए जाति से पृथक् है, गुण उत्पाद्य तथा अनुत्पाद्य दोनों है अतः क्रिया एवं द्रव्य दोनों से भिन्न है।[958] भर्तृहरि ने गुण को अपने आधार से संसृष्ट अपने आधार द्रव्य का अन्य द्रव्य से व्यवच्देदक तथा व्यावर्तकत्वरूप व्यापार से युक्त माना है। परतन्त्र होने के कारण से इसे गुण कहते हैं।[959]

इह यद्यपि प्रवृत्तिनिवृतिविषया व्यक्तिरेव तथाप्यानन्त्याद्व्यभिचाराच्च तत्र सङ्केतः कर्तुं न पार्यत इति गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनामनेकार्थत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति च शब्दानामुपाधावेव सङ्केतः।।शब्दव्यापारविचार ,पृ० 2

[955] भिन्ना इति परोपाधिरभिन्ना इति वा पुनः।
भावात्मसु प्रपञ्चोऽयं संसृष्टेष्वेव जायते।। वाक्य० क्रि०स० 20

[956] नैकत्वं नापि नानात्वं न सत्त्वं न च नास्तिता ।
आत्मतत्त्वेषु भावानां असंसृष्टेषु विद्यते।।वाक्य०जा०स० 21

[957] संसर्गदर्शने स्वतो गौर्न गौः, गोत्वाभिसंबन्धाद्गौरिति ब्रह्मकल्पं
साक्षादव्यवहार्यमेव द्रव्यं परोपधीयमानरूपविशेषं व्यवहारमनुपतति ।
वाक्य० ,हेलाराज, पृ० 161

[958] सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथक्जातिषु दृश्यते ।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुण ।।म०भा० 4.1.44

[959] सव्यापारो गुणस् तस्मात् स्वप्रकर्षनिबन्धनः ।

क्रिया के विषय में भतृहरि का मत है कि सिद्ध अथवा असिद्ध समस्त व्यापार साध्यत्वेन कहा जाता है, अधिश्रयण से लेकर अवतारण तक के व्यापार समूह का क्रमरूप से आश्रय लेने के कारण वह व्यापार ही क्रिया है।[960] इसी आधार पर मम्मट ने क्रिया की व्याख्या प्रस्तुत की है कि पूर्वापरतया जिसमें व्यापार होता है ऐसा साध्य क्रियारूप है।[961]

यदृच्छा उपाधि के विषय का कथन है कि डित्थ, डवित्थ, चैत्र, देवदत्त, यज्ञदत्त आदि संज्ञा शब्दों के पूर्व वर्णानुभव से उत्पन्न संस्कार से युक्त, अन्त्य वर्णबुद्धि के द्वारा अभिव्यक्त,वर्णक्रम से शून्य , स्फोटाख्य शब्दरूप को वक्ता अपनी इच्छा से विशेषतया डित्थादि अर्थों में कल्पित कर लेता है। अतएव संज्ञारूप ये शब्द यदृच्छा शब्द है तथा यदृच्छा रूप उपाधि के कारण यदृच्छा रूप अर्थ का प्रतिपादन करते हैं।[962]

मम्मट ने महाभाष्यकार के मतानुसार ही यदृच्छा शब्दों के स्वरूप का विवेचन किया है उपाधि में संकेतग्रह का विवेचन करते हुए मम्मट ने भाष्यकार पतञ्जलि के वचन गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः। को प्रमाण माना है। इसी आधार पर इनको व्याकरण मत का अनुयायी कहा जाता है, मम्मट ने विरोध अलंकार के जात्यादि चारों के आधार पर 10 भेद माने हैं। वास्तविक रूप से विरोध न होने पर भी दो पदार्थों का विरुद्धत्वेन अभिधान विरोध नामक अलङ्कार है। विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक पदादि के अन्यार्थपरक होने के कारण वस्तुतः अविरोध में भी आपाततः विरोध की प्रतीति होती है । मम्मट ने महाभाष्यकार को सम्मत जाति , गुण , क्रिया एवं द्रव्य रूप चार पदार्थों के परस्पर विरोध के आधार पर इस विरोध अलङ्कार के दस भेद प्रतिपादित किये हैं। जाति का जात्यादि चारों से , गुण का गुण, क्रिया एवं द्रव्य से , क्रिया का क्रिया एवं द्रव्य से तथा द्रव्य का द्रव्य से विरोध हो सकता है। इसलिए विरोध के दश भेद माने गये हैं।[963]

मम्मट ने जाति को ही प्रवृत्तिनिमित्त मानने वालों का खण्डन किया है। जाति को ही प्रवृत्ति–निमित्त मानने वालों का कथन है कि दूध तथा शङ्ख आदि हैं आश्रय जिनके , ऐसे शुक्ल आदि गुणों में जिस कारण यह शुक्ल है यह शुक्ल है इस प्रकार का अभिन्न

द्रव्यात्मानं भिनत्त्येव स्वप्रकर्षं निवेशयन।।वाक्य० 3,गुणस०का० 8

[960] यावत् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते ।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते।।वाक्य० 3,क्रि०स० 1

[961] साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः।।का०प्र०

[962] डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्ता यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधित्वेन सन्निवेश्यत इति सोऽयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति ।। का०प्र०

[963] जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद्गुणस्त्रिभिः।
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश।।का०प्र०

कथन और बोध होता है वह शुक्लत्व आदि जाति ही है । इसी कारण गुड , तण्डुल आदि का, पाक आदि क्रियाओं में पाकत्व जाति के कारण ही परस्पर भेद होने पर भी अभिन्न अभिधान एवं ज्ञान होते हैं।

शुक, सारिका, बालक, वृद्ध आदि के द्वारा उच्चारण किये गये डित्थ आदि शब्दों में भेद होते हुए भी यह एक ही डित्थ शब्द है, ऐसा अभिधान एवं बोध होता है तथा प्रतिक्षण परिवर्तन के कारण परस्पर भिन्न डित्थ आदि अर्थों में यह डित्थ पदार्थ है, ऐसा अभिधान एवं ज्ञान होता है। यहाँ भी डित्थत्व जाति ही हेतु है अतः शब्दों की चतुर्धा प्रवृत्ति असङ्गत हैं ? इस शङ्का का उत्तर देते हुए मम्मट कहते हैं कि संस्थान, स्वरूप, प्रमाण एवं वर्ण केअनुसार व्यक्तियों में परस्पर भेद होते हुए भी यह गाय चितकबरी है, यह गाय सफेद है इत्यादि प्रकार के परस्पर भेद होते हुए भी गायों में एकता की प्रतीति का कारण जाति ही है। इसी तरह हंस ,हार, आदि, घृत, गुड आदि, शुकसारिकादि द्वारा उच्चारित डित्थ आदि शब्दों तथा विविध अवस्थाओं में स्थित डित्थादि अर्थों में परस्पर भेद होते हुए भी हंस श्वेत है, हार श्वेत है, घी पक रहा है, गुड पक रहा है, यह डित्थ शब्द है, यह डित्थ वस्तु है इत्यादि में एकाकार प्रतीति होने से इन गुण, क्रिया, यदृच्छा शब्दों एवं यदृच्छा अर्थों में एकरूपता अवश्य है, अतः भिन्न पदार्थों में अभिन्नता के अभिधान एवं प्रत्यय के हेतु जाति में गुण, क्रिया आदि का अन्तर्भाव सम्भव नहीं है अतः चारों ही जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा शब्दप्रवृत्तिनिमित्त है।[964]

4.2 कालिदास की कृतियों में उत्सर्ग–अपवाद सिद्धान्त

कालिदास ने व्याकरणशास्त्र के उत्सर्ग और अपवाद सिद्धान्त को उपमा के माध्यम से प्रस्तुत किया है, जैसे व्याकरणशास्त्र में कोई अपवाद सूत्र उत्सर्गसूत्र का बाध करने में समर्थ होता है उसी प्रकार रघुवंश में जन्म लेने वाला शत्रुओं का बाध करने में समर्थ था।[965] उन्होंने इसी सिद्धान्त को आधार बनाकर कुमारसम्भव में भी कहा कि जैसे

---

[964] संस्थानावस्थानप्रमाणवर्णैः भेदेऽपि व्यक्तीनां शाबलेयो गौः धावलेयो गौरित्याद्येकप्रत्ययहेतुत्वं जातेरेव। हंसहारादीनां घृतगुडादीनां शुकसारिकाद्युदीरितडित्थादिशब्दानां नानावस्थडित्थाद्यर्थानां च भेदेऽपि हंसः शुक्लः, हारः शुक्लः, घृतं पच्यते , गुडं पच्यते, डित्थशब्दो डित्थशब्दः डित्थो डित्थ इत्येकाकारावगतिनिबन्धनत्वादेकरूपत्वमेव गुणक्रियायदृच्छानामिति नैतासां भिन्नेष्वभिन्नाधानप्रत्ययहेतुर्जातिर्घटते इति चत्वार्येव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानि ।
शब्दव्यापारविचार , पृ० 5

[965] यः कश्चन रघूणां हि परमेकः परंतपः।
अपवाद इवोत्सर्गं व्यावर्तयितुमीश्वरः।। र०वं० 15.7,पृ० 496

व्याकरणशास्त्र में अपवादसूत्र उत्सर्गसूत्र को व्यर्थ कर देता है ,उसी प्रकार पराक्रमी शत्रु तारकासुर ने देवताओं को व्यर्थ कर दिया ,उनका अधिकार छीन लिया।[966]

व्याकरणशास्त्र में सामान्य विधि को उत्सर्ग तथा विशेषविधि को अपवाद कहते हैं ,विशेष विधि सामान्य विधि की बाधक होती है। सामान्य विधि विशेषविधि के विषय को छोड़कर अन्यत्र प्रवृत्त होती है। महाभाष्य में कहा गया है प्रकल्प्य (परित्यज्य) चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते।[967]

लोक में भी यह देखा जाता है–ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय[968] ब्राह्मणों को अर्थात् ब्राह्मण मात्र को दही दिया जाये और कुण्डिनगोत्रज ब्राह्मण को तक्र अर्थात् मठा दिया जाये, ऐसा कहने से सामान्यविधि से प्राप्त दहीदान विशेषविधि से तक्रदान से बाधित हो जाता है। कौण्डिन्य ब्राह्मण को दही नहीं वल्कि मठा ही दिया जाता है। अतः अपवाद विधि उत्सर्ग विधि को नित्य बाधती है।

महाभाष्यकार कहते हैं[969] कुछ सामान्य और विशेष धर्मों से युक्त ऐसे सूत्र बनाये जाँय, जिनसे थोड़े प्रयास में ही बड़े–बड़े शब्दसमूह जाने जा सकें। कुछ सामान्य नियम बनाये जाँय और कुछ उनके अपवाद। सामान्य नियम बनायें जाँय जो अधिक स्थानों में व्याप्त हो सकें। जैसे कर्मण्यण्[970] अर्थात् उपपद् संज्ञा वाले कर्म से युक्त धातु के आगे कर्ता अर्थ में अण् प्रत्यय होता है यथा कुम्भं करोति इति कुम्भकारः। सामान्य नियम के विशेष–विशेष स्थलों में अपवाद कहे जायँ जैसे–आतोऽनुपसर्गे कः[971] अर्थात् उपसर्ग रहित आकारान्त धातु से कर्ता अर्थ में 'क' प्रत्यय होता है, यदि धातु उपपद संज्ञा वाले कर्म से युक्त हो यथा धनदः,कम्बलदः, गोदः यहाँ 'दा' धातु आकारान्त है। व्याकरणशास्त्र में उत्सर्ग और अपवाद सूत्रों में अपवादशास्त्र बलवान् होता है। "कर्मण्यण्" उत्सर्ग सूत्र है, इसका क्षेत्र व्यापक होता है जबकि "आतोऽनुपसर्गे कः" अल्पदेशव्यापक और निरवकाश है, इसी दृष्टि से यह सूत्र "कर्मण्यण" का बाधक बनता है।

अन्य उदाहरण–व्याकरणशास्त्र में उत्सर्ग सूत्र की प्रवृत्ति को अपवाद सूत्र रोक लेता है। यथा–राम् अम् यहाँ सबसे पहले "आदगुणः"[972] सूत्र गुण के लिए प्रवृत्त हुआ, तो उसे

---

[966] लब्धप्रतिष्ठाः प्रथमं यूयं किं बलवत्तरैः।
अपवादैरिवोत्सर्गाः कृतव्यावृत्तयः परैः।। कु०स० 2.27, पृ० 195

[967] महाभा०

[968] तृणह इम् ।।पा०सू० 7.3.92 ,वै०सि०कौ०,बालमनोरमाव्याख्या पृ० 212

[969] पस्पशा०

[970] पा०सू०, 3.2.1, पृ० 490

[971] वही,3.2.3,पृ०491

[972] पा०सू० 6.1.87, पृ०18

"अकः सवर्णे दीर्घः"[973] सूत्र ने रोका। क्योंकि आदगुणः उत्सर्ग विधि है, जबकि अकःसवर्णे दीर्घःअपवाद विधि है,व्याकरणशास्त्र का नियम है कि व्यापक उत्सर्ग विधि से अपवाद विधि ज्यादा बलवान् होती है, जब "अकः सवर्णे दीर्घः" दीर्घ करने के लिए प्रवृत्त हुआ तो उसे "अतो गुणे[974] सूत्र ने दीर्घ करने से रोका, जब "अतोगुणे" सूत्र पररूप के लिए प्रवृत्त हुआ तो उसे "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः[975] सूत्र ने रोका, जब "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" पूर्वसवर्ण के लिए प्रवृत्त हुआ तो उसे "अमि पूर्वः"[976] सूत्र ने रोका, तदनन्तर "अमिपूर्वः" सूत्र से पूर्वरूप एकादेश होकर रामम् यह प्रयोग सिद्ध होता है। महाकवि कालिदास ने यहाँ व्याकरणशास्त्र के उत्सर्गापवाद सिद्धान्त को प्रकाशित किया है।

4.3 पाणिनीय ओमाङ्गोश्च सूत्र में आङ् ग्रहण विषयक शास्त्रीय मत एवं कालिदासीय सन्दर्भ

कालिदास ने रघुवंश में अवेहि शब्द का प्रयोग किया है, अवेहि मांकिङ्करमष्टमूर्तेः[977] न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम्[978] यहाँ शङ्का यह होती है कि यदि ओमाङोश्च[979] सूत्र में यदि आङ् का ग्रहण न भी करें तो भी अवेहि यह रूप निष्पन्न हो जायेगा क्योंकि अव–आ इहि यहाँ पहले अकः सवर्णे दीर्घः[980] सूत्र से सवर्ण दीर्घ करने पर अवा–इहि बन जायेगा। पुनः आदगुणः[981] से गुण एकादेश करने पर अवेहि रूप सिद्ध हो जायेगा। तो ओमाङोश्च[982] सूत्र में आङ् ग्रहण क्यों किया गया। इसके समाधान में भाष्यकार का मत है कि असिद्धं बहिरङलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे[983] जहाँ अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग कार्य एक साथ उपस्थित हो वहाँ वहाँ बहिरङ्ग को असिद्ध समझकर प्रथम अन्तरङ्ग कार्य कर लेना चाहिए। धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम् अर्थात् धातु और उपसर्ग का पारस्परिक कार्य अन्तरङ्ग होता है। अव –आ –इहि यहाँ आ यह उपसर्ग तथा इहि इण् गतौ[984] धातु का ही इहि है, अतः आ –इ के स्थान पर गुण कार्य अन्तरङ्ग होने से पहले होगा। सवर्णदीर्घ बहिरङ्ग होने से पहले नहीं होगा। इस से जब अव–एहि बन

---

[973] वही 6.1.101,पृ०21
[974] पा०सू० 6.1.97,पृ० 43
[975] वही,6.1.102,पृ० 35
[976] वही, 6.1.107,पृ० 44
[977] र०वं०2.35,पृ० 28
[978] र०वं० 2.63,पृ०18
[979] पा०सू० 6.1.95 ,पृ० 21
[980] पा०सू० 6.1.101,पृ० 21
[981] पा०सू० 6.1.87, पृ०18
[982] पा०सू० 6.1.95, पृ० 21
[983] महाभा० ,अचः परस्मिन् पूर्वविधौ।। 1.1.56, पृ० 433
[984] अदादि, धा०सं० 1045,पृ० 160

जायेगा। तब यदि ओमाङ्गोश्च सूत्र में आङ् का ग्रहण नहीं करेंगे तो वृद्धिरेचि[985] सूत्र से वृद्धि एकादेश होकर अवैहि यह अनिष्ट रूप सिद्ध होगा, अतः इसकी निवृत्ति के लिए सूत्र में आङ् का ग्रहण अत्यावश्यक था। यह विवेचन ओमाङोश्च सूत्र की व्याख्या में शिवेहि की सिद्धि में तत्त्वबोधिनी में किया गया है।[986]

लोक उदाहरण के द्वारा महाभाष्य में पतञ्जलि ने असिद्धं बहिरङलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे इस परिभाषा को समझाते हुए कहा कि यह परिभाषा बहुत प्रयोजनों वाली है, इसे अवश्य करना चाहिए ,लोक प्रत्यङ्गवर्ती होता है। उसे अपने समीप के प्रति व्यवहार करते देखा जाता है। जैसे मनुष्य जब शयन से प्रातःकाल उठता है। तब वह सबसे पहले अपने शरीर का कार्य करता है, फिर अपने सुहृदों मित्र ,पत्नी, पुत्र आदि का काम करता है, इसके बाद सम्बन्ध रखने वाले लोगों का काम करता है।[987]

4.4 व्याकरणशास्त्र में धातु, स्थानी, आदेश एवं कालिदासीय सन्दर्भ

व्याकरणशास्त्र में जिसके स्थान में अन्य का विधान किया जाता है वह स्थानी कहा जाता है जिसके विधान से अन्य प्रसक्त की निवृत्ति होती है वह आदेश कहलाता है।[988] कालिदास ने रघुवंश में लिखा कि श्रीराम ने बाली को मारकर उसके सिंहासन पर सुग्रीव को वैसे ही बैठा दिया, जैसे कोई वैयाकरण धातु के स्थान मे आदेश को बैठा देता है। पतञ्जलि कहते हैं कि जो किसी के स्थान में आदिष्ट होते हैं वे आदेश हैं, स्थानी वह होता है जो आदेश होने से पहले रहे तथा आदेश होने के बाद न रहे। आदेश वह होता है जो पूर्व में न होकर बाद में हो जाय। यह स्थानी तथा आदेश नित्य शब्दों में सम्भव नहीं होता कि जो विद्यमान का विनाश हो और अविद्यमान का प्रादुर्भाव हो। लोकिक –वैदिक सिद्धान्तों में अभूतपूर्व के विषय में भी स्थान शब्द का प्रयोग देखा जाता है। जैसे

---

[985] पा०सू० 6.1.88, पृ०19

[986] ननु शिव आ इहीत्यत्र सवर्णदीर्घे कृते पश्चादादगुणे च सिद्ध मिष्टं तत्किमाङ्ग्रहणेन?। सत्यम्। पूर्वं धातुरूपसर्गेण युज्यते । इति दर्शने धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गमिति पूर्वं गुणे कृते वृद्धिः स्यात् तन्मा भूदित्याङ्ग्रहणम्।। सि०कौ०,तत्त्वबोधिनी,पृ० 21

[987] असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे इति बहुप्रयोजनैषा परिभाषा। अवश्यमेवैषा कर्त्तव्या । सा चाप्येषा लोकतः सिद्धा। कथम् ? प्रत्यङ्गवर्ती लोको लक्ष्यते । तद्यथा – पुरूषोयं प्रातरुत्थाय यान्यस्य प्रतिशरीरं कार्याणि तानि तावत्करोति, ततः सुहृदां ततः सम्बन्धिनाम् ।।महाभा० 1.1.57, पृ० 434

[988] यस्य स्थाने अन्यद्विधीयते तत् स्थानि । येन विधीयमानेन अन्यत् प्रसक्तं निवर्तते स आदेशः। स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ। पा०सू० 1.1.56,बालमनोरमा, पृ० 47

लोक में उपाध्याय के स्थान में शिष्य ऐसा कहा जाता है। वहाँ उपाध्याय भूतपूर्व विनष्ट नहीं होता।[989]

पाणिनि सूत्र अस्तेर्भूः[990] इस सूत्र से अस् धातु के स्थान में भू इस आदेश का विधान किया जाता है।[991] इकोयणचि[992] सूत्र में इक् के स्थान में यण होता है यदि अच् परे हो तो । यहाँ इक् स्थानी है क्योंकि यण् आदेश इक् के स्थान में ही होता है। स्थानी –इक् । आदेश–यण्। उदाहरण यद्यपि यदि–अपि यहाँ इ को हटाकर य् स्वयं बैठ गया।

कालिदास ने धातोः स्थानमिवादेशम्[993] में धातु के स्थान में आदेश की चर्चा की, वस्तुतः धातु का स्वरूप क्या है ? धातु का अर्थ क्या है यह जानना आवश्यक है। पाणिनि ने भूवादयः धातवः[994] सूत्र के द्वारा धातुसंज्ञा का विधान किया है। क्रियावाची भू, वा है आदि में जिनके अर्थात् भू आदि और वा सदृश वे सभी धातुसंज्ञक होते हैं।

4.4.1 धातु का अर्थ

कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषण में कहा कि क्रिया का वाचक धातु है, उस धातु के दो अर्थ हैं 1. क्रिया का फल 2. व्यापार। तिङ् प्रत्ययों का अर्थ है 1. फल का आश्रय अर्थात् कर्म 2. व्यापार का आश्रय कर्ता।[995]

फल व्यापार का विशेषण है। व्यापार विशेष्य है। अत एव फल में व्यापार की प्रधानता रहती है। जैसे चावल पकाता है, कथन में चावल का गीला होना फल है। उसमें क्रिया की प्रधानता रहती है। कर्ता, कर्म, संख्या और काल ये चारों तिङ् प्रत्ययों के अर्थ है। संख्या कर्ता में प्रत्यय होने पर कर्ता में और कर्म में प्रत्यय होने पर कर्म में रहती है, अतः संख्या फल और व्यापार दोनों का विशेषण है। काल व्यापार का विशेषण होता है।

---

[989] आदिश्यते यः स आदेशः। स्थानी आदेश इत्येतन्नित्येषु शब्देषु नोपपद्यते । किं कारणम् ? नित्यशब्दत्वात् । स्थानी हि नाम यो भूत्वा न भवति । आदेशो हि नाम योऽभूत्वा भवति। एतच्च नित्येषु शब्देषु नोपपद्यते यत्सतो नाम विनाशः स्यादसतो वा प्रादुर्भाव इति । सिद्धमेतत् । कथम् ? यथा लौकिकवैदिकेषु च कृतानेतेशु अभूतपूर्वेऽपि स्थानशब्दो वर्तते । लोके तावद् उपाध्यायस्य स्थाने शिष्य इत्युच्यते । न च तत्र उपाध्यायो भूतपूर्वो भवति।महाभा० ,पा०सू० 1.1.56,पृ० 733,734

[990] पा०सू० 2.4.52,पृ० 396

[991] स हत्वा बालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते।
धातोः स्थानम् इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत्।।र०वं 12–58,पृ० 409
आदेशो नाम शब्दान्तरस्य स्थाने विधीयमानं शब्दान्तरम् अभिधीयते। यथा अस्तेर्भूः इत्यनेन सूत्रेण 'अस् धातोः स्थाने 'भू' इत्ययमादेशो भवति । मल्लिनाथ टीका, पृ० 409

[992] पा०सू० 6.1.77,पृ० 7

[993] र०वं 12–58,पृ० 409

[994] पा०सू० 1.3.1,पृ०28

[995] फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः।।
फले प्रधानं व्यापारस्तिङ्गर्थस्तु विशेषणम्।। वै०भू०सा० , का० 2, पृ० 17

नागेश ने मञ्जूषा में धात्वर्थनिरूपण में धातु का अर्थ किया है कि फल के अनुकूल यत्नसंयुक्त व्यापार धातु का अर्थ है। फल उसे कहते हैं जो कि व्यापार से उत्पन्न होने वाला हो और कर्तृवाच्य में व्यापार का विशेषण बनकर रहता है, व्यापार विशेष्य होता है। कर्मवाच्य में फल विशेष्य होता है। व्यापार का अर्थ है, धातु के अर्थरूप फल का जनक होते धातु का वाच्य होना। फल के अनुकूल कथन का अभिप्राय यह है कि फल में जो जन्यता है उसका जनक होना।

नागेश ने फल और व्यापार दोनों को पृथक् धातु का अर्थ मानने में यह आपत्ति की है कि दोनों का उद्देश्य और विधेय रूप में अन्वय होने लगेगा। फल को विशेषण और व्यापार को विशेष्य। ऐसे अर्थज्ञान में कर्तृवाच्य व्यापार को कारण मानना होगा और इसके विपरीत फल को विशेष्य और व्यापार को विशेषण। ऐसे अर्थ में कर्मवाच्य फल की उपस्थिति को कारण मानना होगा। इस प्रकार दो कार्य कारण भाव की कल्पना करनी पड़ेगी। धातु के दो अर्थों के लिए दो शक्तियों की कल्पना, धात्वर्थ के बोधजनक दो सम्बन्धों की कल्पना में अत्यधिक गौरव है। अतः नागेश का मत है कि फलयुक्त व्यापार या व्यापारयुक्त फल धातु का अर्थ है। कहाँ पर कौन सा अर्थ है इसका निर्णय कर्तृवाच्यप्रत्यय या कर्मवाच्यप्रत्यय करेंगे।[996]

पतञ्जलि ने क्रिया के स्वरूप पर भूवादयो धातवः[997] सूत्र के भाष्य में कहा है कि जो क्रियावाची है वह धातु का लक्षण है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्रिया कहते किसे हैं ? ईहा को क्रिया कहते हैं, ईहा चेष्टा को कहा जाता है और चेष्टा व्यापार को कहा जाता है। पतञ्जलि कहते हैं कि ये तो क्रिया के पर्यायवाची शब्द बता दिये गये हैं। कोई भी वस्तु उपस्थित करके नहीं बताया कि इसे क्रिया कहते हैं। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि क्रिया अत्यन्त अदृश्य है, यह सम्भव नहीं कि उसे मूर्तरूप में दिखाया जा सके। जैसे गर्भ में स्थित बालक को प्रत्यक्ष नहीं दिखाया जा सकता। क्रिया का ज्ञान तो अनुमान से होता है। जिस साधन के होने पर पचति पकाता है यह प्रयोग होता है वह क्रिया है अथवा जिसके कारण कोई भी व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुँचता है वह क्रिया है ,पतञ्जलि का कथन स्पष्ट है कि क्रिया का वही अर्थ है जो ईहा, चेष्टा, व्यापार शब्द से प्रकट होता है। पचादि धातुएँ क्रियावाची हैं इसे स्पष्ट करते हुए पतञ्जलि ने कहा इनकी कृ धातु के साथ समानाधिकरणता है। क्योंकि कृ धातु का अर्थ है करना। पच आदि धातु और कृ धातु एक साथ रहती हैं। जब यह पूछा जाता है कि क्या करता है? तो उत्तर

---

[996] फलानुकूलो यत्नसहितो व्यापारः धात्वर्थः।मंजूषा, धात्वर्थनिरूपण

[997] पा०सू० 1.3.1,पृ०28

मिलता है कि पकाता है, क्या किया? पकाया, क्या करेगा ? पकायेगा। कृ धातु के प्रश्न का उत्तर पच् धातु से देने से कृ के सदृश पच् आदि धातु भी क्रियावाची ज्ञात होती है।[998]

भर्तृहरि ने पतञ्जलि के भाव को लेकर क्रिया की व्याख्या करते हुए कहा कि जो सिद्ध या असिद्ध अर्थात् पूर्ण या अपूर्ण जब साध्य रूप में वर्णन किया जाता है, तब वह क्रम का संचार होने से क्रिया कहा जाता है।[999] उदाहरणरूप में पकाना क्रिया में आग के जलाने से प्रारम्भ करके पात्र रखना, अन्न डालना आदि सारे कार्य एक साथ में एक बार में नहीं हो सकतें सब कार्य क्रमशः ही होंगे।

4.4.2 सकर्मक और अकर्मक धातु

नागेश ने परमलघुमञ्जुषा में कहा है सकर्मकत्वञ्च फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वम् , फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वम् अकर्मकत्वम्।[1000] धातु का अर्थ फल और व्यापार कहा गया है। जब फल और व्यापार दोनों एक ही में रहते हैं तब धातु अकर्मक होती है। जब फल और व्यापार दो पृथक् आश्रयों में रहते हैं तब धातु सकर्मक होती है।[1001] प्रत्येक धातु में फल और व्यापार रहता है। उदाहरण के लिए गम धातु में एक गमन का व्यापार है और दूसरा उसका फल स्थानान्तर की प्राप्ति है। जाने का व्यापार कर्ता में रहता है और उसका फल ग्राम आदि कर्म में रहता है। दोनों की पृथक् स्थिति होने से धातु सकर्मक है। किन्तु भू होना ,स्था रहना आदि धातुओं का व्यापार और फल एक में रहता है अतः ये अकर्मक हैं।

भर्तृहरि ने धातु की अकर्मकता पर एक महत्त्वपूर्ण बात कही है वह यह कि कर्म के पृथक् रहने पर भी चार प्रकार से सकर्मक धातु अकर्मक हो जाती है।

1.धातु अपने प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ में प्रयुक्त हो। उदाहरण के लिए वह् धातु सकर्मक है इसका अर्थ हि ढ़ोना, ले जाना, भारं वहति भार ले जाता है। किन्तु जब इस

---

[998] का पुनश्चेष्टा ? व्यापारः। सर्वथा भवान् शब्देनैव शब्दानाचष्टे न किञ्चिदर्थजातं निदर्शयत्येवञ्जातीयिका क्रियेति। क्रिया नामेयमत्यन्ताऽपरिदृष्टा। अशक्या क्रिया पिण्डीभूता निदर्शयितुं यथा गर्भोऽनिर्लुठितः। साऽसावनुमानगम्या। कोऽसावनुमानः। इस सर्वेषु साधनेषु संनिहेतेषु कदाचित् पचतीत्येतद् भवति। कदाचिन्न भवति। यस्मिन्न साधने सन्निहिते पचत्तीत्येतद् भवति सा नूनं क्रिया । अथवा यया देवदत्त इह भूत्वा पाटलिपुत्रे भवति सा नूनं क्रिया । कथं पुनर्ज्ञायते क्रियावचनाः पचादय इति ? यदेतेषां करोतिना सामानाधिकरण्यम् । किं करोति? पचति।किं करिष्यति ?पक्ष्यति। किमकार्षीत् ? अपाक्षीदिति।। महाभा० ,भूवादयो धातवः 1.3.1, पृ०244–246

[999] यावत् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते ।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेति प्रतीयते । वाक्य० 3 ,पृ० 296

[1000] प०ल०म० ,धात्वर्थनिरूपणम् ,पृ०99

[1001] फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायामकर्मकः।
धातुस्तस्योर्धर्मिभेदे सकर्मक उदाहृतः।। भूषण, कारिका 1.3

धातु का अर्थ बहने अर्थ में प्रयोग होता है तब यह धातु अकर्मक हो जाती है जैसे नदी वहति नदी बहती है।

2. धातु के अर्थ में ही कर्म का अन्तर्भाव होने से जैसे प्राणान् धारयति प्राणों को धारण करता है, प्राणान् जहाति प्राणों को त्यागता है , सकर्मक प्रयोग है। परन्तु इनके स्थान पर क्रमशः जीव और मृ धातु का प्रयोग करने से उनके अर्थ में कर्म प्राण का समावेश हो जाता है और दोनों ही धातुएं अकर्मक हो जाती हैं वह जीता है वह मरता है।

3. प्रसिद्धि के कारण कर्म का प्रयोग न होना यथा देवो जलं वर्षति मेघ जल बरसाता है परन्तु प्रसिद्धि के कारण वर्षति ही कहा जाता है कर्म का प्रयोग नहीं होता। अतः धातु अकर्मक हो जाती है।

4. कर्म की अविवक्षा से धातु सकर्मक होने पर भी जब उसके कर्म को न कहना अभीष्ट होता है, तब धातु अकर्मक हो जाती है। दा देना धातु सकर्मक है परन्तु दीक्षितो न ददाति, न पचति, न जुहोति (संन्यास की दीक्षा को प्राप्त व्यक्ति न देता है न पकाता है और ना ही हवन करता है, प्रयोग में देना, पकाना, यज्ञ करना धातुएँ सकर्मक होते हुए भी कर्म की अविवक्षा से अकर्मक हैं।[1002] भर्तृहरि का कथन है कि यह चार प्रकार सामान्य रूप से बताये गये हैं , इनके अतिरिक्त उपसर्ग काल आदि के भेद से भी सकर्मक धातु अकर्मक हो जाती है , यह भेद कई प्रकार का है जैसे चर जाना धातु सकर्मक है किन्तु बाष्प उच्चरति भाप उठती है। धूम उच्चरति। धुआँ उठता है। इन प्रयोगों में धातु अकर्मक है।[1003] इसके विपरीत कितनी ही धातुएँ जो अकर्मक हैं, उपसर्ग लगने से सकर्मक हो जाती हैं। भू होना अकर्मक है परन्तु अनुभू अनुभव करना, जैसे सुखम् अनुभवति। यहाँ भू धातु सकर्मक हैं।[1004]

4.5 कालिदास प्रयुक्त इङ् धातु विषयक व्याकरणशास्त्रीय उपमा

व्याकरणशास्त्र में इङ् अध्ययने[1005] धातु के साथ अधि उपसर्ग का प्रयोग नित्य होता है। यहाँ अधि अर्थसाधक इङ् धातु की सन्निधिमात्र से अधि उपसर्ग उपकारक होता है, व्याकरणशास्त्र के इस सिद्धान्त की सुन्दर उपमा कालिदास ने दी है। उन्होंने विवेचन किया कि लवणासुर को शत्रुघ्न ही मारने में समर्थ है किन्तु सेना तो इङ् धातु में लगे हुए

[1002] धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात् ।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया।।वाक्य० 3, पृ० 234

[1003] वाक्य० 3 ,पृ० 235

[1004] अकर्मका अपि सोपसर्गाः सकर्मका भवन्ति।।महाभा० 1.1.43

[1005] धा०सं०1046,पृ० 163

अधि उपसर्ग के समान केवल सन्निधिमात्र से उपकारक है।[1006] अध्ययन तभी कहा जायेगा जब उसमें निरन्तरता बनी रहती है, इङ् अध्ययने धातु में अधि उपसर्ग नियमपूर्वक पठन का बोध करा रहा है, महाभाष्य में अधि का अर्थ है उपरिभाव अर्थात् नियमपूर्वक पठन करना।[1007]

4.6 प्रकृतिप्रत्ययसंयोग एवं कालिदासीय सन्दर्भ

जिससे सन् ,अच आदि प्रत्ययों का विधान किया जाता है उसे प्रकृति कहते है और जो विधान किया जाता है उसे प्रत्यय कहते हैं। कालिदास ने सुन्दर उपमा के माध्यम से व्याकरण के इस सिद्धान्त को समझाने का प्रयास किया है। कुलशील, अवस्था के अनुसार श्रीराम का सीता के साथ, भरत का माण्डवी के साथ, लक्ष्मण का उर्मिला के साथ और शत्रुघ्न का श्रुतकीर्ति के साथ विवाह सम्पन्न हुआ। यहाँ वर और वधू का मिलन ऐसा हुआ जैसे प्रत्ययों का प्रकृति के साथ संयोग हो गया हो।[1008] जिस प्रकार पच[1009] आदि प्रकृति तथा अच् आदि प्रत्यय पृथक्–पृथक् रहने पर किसी वाच्यार्थ को कहने में अशक्त होने से निरर्थक होते हैं। तथा वे दोनों मिलकर पचः शब्द बनकर सार्थक पकाना इस अर्थ के वाचक हो जाते हैं। वैसे ही उन वधूवरों का समागम भी सार्थक हुआ ।कृत्तद्धितसमासाश्च[1010] यह सूत्र प्रातिपादिक संज्ञा का विधान करता है कृत् और तद्धित अकेले अर्थ वाले नहीं होते हैं किन्तु जब प्रकृति से युक्त होते हैं तभी अर्थ वाले होते हैं। इसलिए यहाँ कृत् से कृदन्त तथा तद्धित से तद्धितान्त का ग्रहण होता है। अष्टाध्यायी के तृतीय अध्याय में कृदतिङ्[1011] के अधिकार में कृत् प्रत्यय तथा चतुर्थ अध्याय के तद्धिताः[1012] के अधिकार में तद्धित प्रत्यय कहे गये हैं। ये प्रत्यय जिसके अन्त में होंगे उस समुदाय अर्थात् इन के सहित प्रकृति की प्रातिपदिक संज्ञा होगी।

शब्दों के विषय में विद्वानों में दो मत प्रचलित हैं व्युत्पत्तिपक्ष और अव्युतपत्तिपक्ष। अव्युत्पत्ति पक्ष मानने वाले विद्वानों का कहना है कि किसी वस्तु की संज्ञा अपने संज्ञी को समुदायशक्ति के माध्यम से ही बताती है उसमें अवयवार्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिए।

[1006] रामादेशानुगता सेना तस्यार्थसिद्धये।
पश्चादध्ययनार्थस्य धातोरधिरिवाभवत्।।र०वं० 15.9, पृ० 219

[1007] अधिरुपरिभावे।उपरिभावश्च पठने नियमपूर्वकत्वमिति भ्वादिसूत्रे भाष्ये स्पष्टम्।।वै०सि०कौ०, इङ् अध्ययने।। धा०सं० 1046, तत्त्वबोधिनी ,पृ० 163

[1008] ता नराधिपसुता नृपात्मजैस्ते च ताभिरगमन्कृतार्थताम् ।
सोऽभवद्वरवधूसमागमः प्रत्ययप्रकृतियोगसन्निभः।।र०वं० 11.56,

[1009] नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः पा०सू० 3–1–134,पृ०399

[1010] पा०सू० 1.2.46,पृ०123

[1011] पा०सू० 3.1.93 ,पृ० 262

[1012] पा०सू० 4.1.76 पृ० 388

जैसे राम यह संज्ञा समुदायशक्ति से ही दशरथपुत्र रूप संज्ञी को प्रकट करती है इसमें अवयवार्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिए। यही पक्ष अव्युत्पत्तिपक्ष कहलाता है।

व्युत्पत्तिपक्ष को मानने वाले विद्वानों का मानना है कि प्रत्येक वस्तु की संज्ञा का कोई न कोई अर्थ जो उसके अवयवों से निष्पन्न होता है। जैसे राम शब्द में रम क्रीडायाम् [1013] धातु से जब घञ् प्रत्यय किया जाता है तो रम का अर्थ है खेलना और घञ् प्रत्यय का अर्थ है अधिकरण। रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः अर्थात् जिस में योगी लोग रमण करते हैं वह राम है। यही व्युत्पत्तिपक्ष है। जिस शब्द का कुछ न कुछ अर्थ होता हो वह प्रातिपदिक होता है ।यहाँ कवि ने व्याकरण शास्त्र के सिद्धान्त को प्रकट किया है।

4.7 पाणिनीय अकथितञ्च सूत्र एवं कालिदासीय सन्दर्भ

भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथुपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्। यहाँ पृथुपदिष्टां धरित्रीम् में अपादान होने से पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग होना चाहिए था किन्तु यहाँ पाणिनि के अकथितञ्च[1014] सूत्र से अपादानादि की विवक्षा न होने पर अविवक्षित कारक अपादान की कर्मसंज्ञा हुई है, इसीलिए पृथुपदिष्टां धरित्रीम् में द्वितीया विभक्ति हुई है। यह गौणकर्म है प्रधान कर्म तो भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च है। बहुत से ऐसे पदार्थ है जो कई एक धातुओं के कर्मों के साथ नियतरूप से सम्बद्ध रहते हैं और वस्तुतः वे कर्म के अतिरिक्त अन्य कारकों के अर्थ को द्योतित करते हैं। वे ही गौणकर्म के रूप में स्वीकार कर लिए जाते हैं। अतः इनके लिए द्वितीया विभक्ति का ही विधान होता है। किन्तु यह नियम प्रस्तुत कारिका में गिनाई गई धातुओं के लिए ही है–

दुह्याच् पच् दण्ड रुधि प्रच्छिचिब्रूशासुजिमथमुषाम्
कर्मयुक्स्यादकथितं तथा नी ह्व कृष् वहाम् ।।[1015]

भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्।[1016] उक्त श्लोक में 'भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च' भास्वन्ति च भास्वत्यश्च भास्वन्ति द्युतिमन्ति। औषधिविशेषणं चैतत्।[1017] यहाँ पर भास्वन्ति शब्द औषधि का विशेषण है,औषधि शब्द स्त्रीलिङ्ग और रत्न शब्द नपुंसकलिङ्ग है। इसलिए यहाँ पर नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम् [1018] इस सूत्र से 'भास्वन्ति' शब्द में नपुंसकलिङ्ग हुआ। क्योंकि नपुंसकलिङ्ग शब्द नपुंसकलिङ्ग भिन्न शब्दों के साथ, अर्थात् स्त्रीलिङ्ग पुँल्लिङ्ग शब्दों के साथ शेष रह जाता है।

[1013] धा०सं०753,पृ० 117
[1014] पा०सू० 1.4.51
[1015] वै०सि०कौ०,कारकप्रकरण, पृ० 87
[1016] कु०स० 1.2,पृ० 175
[1017] कु०स० 1.2,पृ०2,आचार्य मल्लिनाथ द्वारा विवेचित
[1018] पा०सू० 1.2.69,पृ० 207

4.8 पाणिनीय एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः सूत्र एवं शास्त्रीयसन्दर्भ

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयम्[1019]उत्तरेण शब्द का मूल शब्द उत्तर में एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः।[1020] इस पाणिनिसूत्र से एनप् प्रत्यय हुआ है अपञ्चम्यन्त उत्तर, अधर, दक्षिण दिग्शब्दों से एनप् प्रत्यय विकल्प से होता है यदि निकटता गम्यमान हो तो अर्थात् यक्ष कहता है कि कुबेर के भवन से निकट ही मेरा घर है उत्तर की दिशा की ओर। यहाँ उत्तरेण में एनप् प्रत्यय के होने से एनपा द्वितीया।[1021] इस पाणिनि सूत्र से एनप् प्रत्ययान्त उत्तरेण के योग में गृहान् में द्वितीया विभक्ति हुई है। एनप् प्रत्ययान्त शब्दों के साथ द्वितीया या षष्ठी विभक्ति होती है।[1022] उत्तरेण गृहान् गृहस्य वा।

4.9 आचार्य भागुरि का मत एवं कालिदासीय सन्दर्भ

कुमारसम्भव के प्रथम श्लोक के **पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य**[1023] यहाँ कवि ने अवगाह्य के स्थान पर वगाह्य शब्द का प्रयोग किया है। वगाह्य शब्द में अकार का लोप हुआ है ,आचार्य भागुरि के मतानुसार अव तथा अपि उपसर्ग के अकार का लोप होता है। भट्टोजीदीक्षित ने कारिका में इस मत का उल्लेख किया है–वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।[1024] व्याकरणशास्त्र में आचार्य के नाम का ग्रहण करने से विकल्प का बोध होता है आचार्यग्रहणे विभाषा वक्तव्या। इसीलिए एकपक्ष में अकार का लोप होगा और एक पक्ष में अकार का लोप नहीं होगा, इसप्रकार वगाह्य और अवगाह्य दोनों रूप निष्पन्न होंगे।

4.10 कालिदासीय कृदन्तप्रकरण

4.10.1 कृत्यप्रत्ययान्त एवं कालिदासीय सन्दर्भ

कृत्य प्रत्यय सात हैं तव्यत्, तव्य, अनीयर, केलिमर, यत्, क्यप् और ण्यत्। ये प्रत्यय कृ त्याः[1025] इस पाणिनि सूत्र से कृत्यसंज्ञक और तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः[1026] पाणिनि सूत्र से कर्मवाच्य तथा भाववाच्य में प्रयुक्त होते हैं। कृत्य प्रत्ययान्त शब्द प्रायः भाववाच्य और कर्मवाच्य में ही प्रयुक्त होते हैं किन्तु कुछ कृत्यान्त शब्द कर्तृवाच्य में भी प्रयुक्त होते हैं।

[1019] मे०दू० 2.15, पृ० 127
[1020] पा०सू० 5.3.35
[1021] पा०सू० 2.3.31,पृ० 447
[1022] एनपा इति योगविभागात्वष्ट्यपि।। वै०सि०कौ० , पा०सू० 2.3.31,पृ० 447
[1023] कु०स० 1.1,पृ०1
[1024] वै०सि०कौ०, अव्ययप्रकरण , पृ० 72
[1025] पा०सू० 3.1.95,पृ० 320
[1026] पा०सू० 3.4.70,पृ० 382

यथा वास्तव्यः (वसने वाला) गेयः (गाने वाला) इत्यादि। ये संज्ञाओं के विशेषण स्वरूप में भी प्रयोग आते हैं यथा दानीयो ब्राह्मणः।

दम्यः

रघुवंश में धुर्येण दम्यः सदृशं बिभर्ति।[1027] यहाँ दमु उपशमे[1028] धातु से अचो यत्[1029] इस पाणिनि सूत्र से यत् प्रत्यय होने पर दम्यः रूप निष्पन्न होता है।

शब्द	धातु	प्रत्यय	कालिदासीय प्रयोग
वन्द्यैः	वदिअभिवादनस्तुत्योः[1030]	यत्	वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु [1031]
पेयम्	पा पाने[1032]	यत्	श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम्[1033]
सेव्यम्	षेवृ सेवने[1034]	यत्	सेव्यचन्द्रांशुहारः[1035]

गन्तव्या

मेघदूत में गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणाम् [1036] यहाँ गम्लृ गतौ [1037] धातु से तव्यत्तव्यानीयरः[1038] सूत्र से तव्य् प्रत्यय हुआ ,तव्य् प्रत्यय कृत्य प्रत्ययों के अन्तर्गत् आता है, अतः कृत्याः [1039] इस पाणिनिसूत्र से तव्य की कृत्यसंज्ञा होती है ,स्त्रीलिङ्ग में टाप् होकर , प्रातिपदिकसंज्ञा ,स्वादि उत्पत्ति होकर गन्तव्या शब्द निष्पन्न होता है। यहाँ कृ त्यानां कर्त्तरि च[1040] इस पाणिनि सूत्र से कृत्यप्रत्ययान्तों के प्रयोग में अनभिहित कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी होती है। इस प्रकार गन्तव्या के साथ कर्त्ता में षष्ठी ते (तव) का

[1027] र०वं० 6.78, पृ० 206
[1028] धा०सं० 1203, पृ० 195
[1029] पा०सू० 3.1.97, पृ० 385
[1030] भ्वादि,धा०सं० 11,पृ० 51
[1031] मे०दू० 1.12,पृ० 28
[1032] भ्वादि,धा०सं० 925,पृ० 126
[1033] मे०दू० 1.13,पृ० 28
[1034] भ्वादि,धा०सं० 501,पृ० 90
[1035] ऋ०सं० 1.28,पृ० 5
[1036] मे०दू० 1.7,पृ० 17
[1037] धा०सं० 982,पृ० 138
[1038] पा०सू० 3.1.96 ,पृ० 321
[1039] पा०सू० 3.1.95,पृ० 320
[1040] पा०सू० 2.3.71,पृ० 219

प्रयोग एवं तृतीया त्वया का प्रयोग दोनों ही साधु हैं। इस प्रकार दो वाक्य बनते हैं – ते (तव) अलका गन्तव्या और दूसरा त्वया अलका गन्तव्या।

शब्द	धातु	प्रत्यय	कालिदासीय प्रयोग
प्रयोक्तव्यम्	प्र उपसर्ग युजिर् योगे[1041]	तव्यत्	नाटकमस्मिन् वसन्तोत्सवे प्रयोक्तव्यम्[1042]

अनीयर प्रत्यय

अनतिक्रमणीयानि

अभिज्ञानशाकुन्तल में अनतिक्रमणीयानि श्रेयांसि[1043] नञ् , अति उपसर्ग , क्रमु पादविक्षेपे[1044] धातु से तव्यत्तव्यानीयरः[1045] इस सूत्र से अनीयर् प्रत्यय भाव में होने पर अनतिक्रमणीयम् प्रयोग निष्पन्न होता है और प्रथमा बहुवचन में अनतिक्रमणीयानि रूप बनता है।

शब्द	धातु	प्रत्यय	कालिदासीय प्रयोग
प्रेक्षणीयम्	ईक्ष दर्शने[1046]	अनीयर	प्रेक्षणीयं ददर्श।[1047]
प्रापणीयाः	प्र उपसर्ग आप्लृ व्याप्तौ[1048]	अनीयर	क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।[1049]
स्पृहणीयम्	स्पृह ईप्सायाम्[1050]	अनीयर	प्रचण्डसूर्यःस्पृहणीयचन्द्रमाः।[1051]
रमणीयः	रमु क्रीडायाम्[1052]	अनीयर	बहुगुणरमणीयः।[1053]

[1041] रुधादि,धा०सं०1445,पृ० 413
[1042] मा०वि० 1,पृ० 569
[1043] अ०शा० 7,पृ० 544
[1044] भ्वादि ,धा०सं० 473,पृ० 88
[1045] पा०सू० 3.1.96,पृ० 382
[1046] भ्वादि,धा०सं० 610,पृ० 370
[1047] मे०दू० 1.2,पृ० 27
[1048] स्वादि, धा०सं० 1261,पृ० 200
[1049] मे०दू० 1.5,पृ०27
[1050] चुरादि,धा०सं०1871,पृ०50
[1051] ऋ०सं० 1.1,पृ० 3
[1052] भ्वादि, धा०सं० 753 पृ० 117
[1053] ऋ०सं० 2.29,पृ० 8

उपहास्यता

गमिष्याम्युपहास्यताम् ।।[1054]उपहास्यता शब्द में उप् उपसर्ग पूर्वक हसे हसने[1055] धातु का अनुबन्ध लोप होने के अनन्तर हलन्त होने के कारण ऋहलोर्ण्यत्[1056] सूत्र ्से ण्यत् प्रत्यय होने पर ण्यत् का अनुबन्ध लोप होने पर य् शेष रहता है , अत उपधाया[1057] ये उपधा अकार को वृद्धि होने पर , प्रातिपदिक संज्ञा, सु आदि प्रत्यय होकर उपहास्यम् प्रयोग सिद्ध होता है ,उपहास्यस्य भावःएव उपहास्यता यहाँ षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से भाव अर्थ में तस्यभावस्त्वतलौ[1058] इस सूत्र से तल् प्रत्यय , टाप् होने पर ,प्रातिपदिकसंज्ञा सुआदि प्रत्यय , उपहास्यता रूप सिद्ध होता है। जिस गुण के होने से किसी शब्द का किसी अर्थ के साथ वाच्यवाचक सम्बन्ध होता है उसे ही यहाँ भाव शब्द से कहा गया है। अर्थात् मनुषय जैसा स्वभाव होने से ही वह मनुष्य कहा जायेगा।

4.10.2 भूतकालिक कृदन्त एवं कालिदासीय सन्दर्भ

भूतकाल के लिए कृत प्रत्ययों में क्त और क्तवतु प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है, इन दोनों प्रत्ययों का नाम निष्ठा है,[1059] निष्ठा का अर्थ समाप्ति है। इसलिए क्त और क्तवतु प्रत्यय किसी कार्य के समाप्ति के सूचक है। यथा येन गतम् अर्थात् जाने का कार्य समाप्त हुआ। इसी प्रकार क्तवतु में सः पुस्तकं पठितवान् अर्थात् पुस्तक पढ़ने का कार्य समाप्त हुआ। क्त और क्तवतु प्रत्ययान्त शब्दों के रूप तीनों लिङ्गों और सातो विभक्तियों में विशेष्य के अनुसार चलते हैं। क्त प्रत्ययान्त शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में अकारान्त और स्त्रीलिङ्ग में आकारान्त होते हैं। क्तवतु प्रत्ययान्त शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में तकारान्त धीमत् के समान् और स्त्रीलिङ्ग में नदी के समान चलते हैं।

यज्वा

ततः पर तेन मखाय यज्वना।[1060] यज्वभिः सम्भृतं हव्यं विततेष्वध्वरेषु सः।[1061] इष्टवान् इति यज्वा सविधिकृतयज्ञो यजमानः जिसने विधिपूर्वक यज्ञ किया हो। यज्वा शब्द में यज् देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु [1062] धातु में सुयजोर्ङ्वनिप् [1063] इस पाणिनि सूत्र से भूतकाल

[1054] र०वं० 1.3,पृ० 5
[1055] भ्वादि, धा०सं० 721, पृ०100
[1056] पा०सू० 3.1.125 , पृ० 332
[1057] पा०सू० 7.2.116,पृ०382
[1058] पा०सू० 5.1.118,पृ० 288
[1059] क्तक्तवतु निष्ठा।।पा०सू० 1.1.25,पृ० 16
[1060] र०वं 3.39, पृ० 25
[1061] कु०स० 2.46, पृ० 196
[1062] भ्वादि, धा०सं० 1002, पृ० 142
[1063] पा०सू० 3.2.103 ,पृ० 382

अर्थ में ङ्वनिप् प्रत्यय होता है, ङ्वनिप् का अनुबन्ध हट जाने पर वन् रह जाता है । यज् वन् इस स्थिति में , प्रातिपदिकसंज्ञा, नलोप ,सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ[1064] से नान्त उपधा को दीर्घ हो जाता है , इस प्रकार यज्वा यह प्रयोग निष्पन्न होता है।

सम्पृक्तः

वागर्थाविव सम्पृक्तौ [1065] यहाँ पृची सम्पर्के [1066] धातु से से भूतकाल के अर्थ में क्तक्तवतू निष्ठा इस पाणिनि सूत्र से क्त प्रत्यय हुआ। क्त और क्तवतु ये दोनों प्रत्यय कार्य की समाप्ति के सूचक हैं ,क्त प्रत्यय भाव और कर्म में और क्तवतु प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में होता है । सम् उपसर्ग पूर्वक् पृच् क्त, कृत्तद्धितसमासाश्च[1067] से प्रातिपदिक संज्ञा सु आदि की उत्पत्ति प्रथमा एकवचन में सम्पृक्तः, द्विवचन में सम्पृक्तौ रूप निष्पन्न होता है।

गीतम्

सुतन्त्रिगीतम्।[1068] यहाँ गै शब्दे[1069] इस धातु से क्तक्तवतूनिष्ठा इस पाणिनि सूत्र से क्त प्रत्यय भूतकाल अर्थ में हुआ ,यहाँ गै धातु एजन्त है अतः आदेच उपदेशे ऽशिति[1070] इस सूत्र से आकारादेश हो जाता है , घुमास्थागापाजहातिसां हलि[1071] इस सूत्र से घुसंज्ञक , मा , स्था , गा , पा, ओहाक् त्यागे तथा षो अन्तकर्मणि इन् अंगों को कित् , ङित् अर्थ आर्धधातुक के परे रहते ईकारादेश होता है , यहाँ गा क्त इस स्थिति में गकारोत्तरवर्ती आकार को ईकारादेश हो जाता है, गीत ,प्रातिपदिकसंज्ञा , सु आदि नपुंसकलिङ्ग एकवचन में गीतम् यह प्रयोग निष्पन्न होता है।

सम्भृतः

त्यागाय सम्भृतार्थानाम्।[1072] सम् उपसर्ग भृ भरणे[1073] धातु से क्त प्रत्यय ,प्रातिपदिक , स्वादि, सम्भृतः।

अनुजातः

असौ कुमारस्तमजोऽनुजातः।[1074] यहां अनुजातः शब्द में जनि प्रादुर्भावे[1075] धातु से गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च[1076] इस सूत्र से क्त प्रत्यय कर्ता अर्थ

[1064] पा०सू० 6.4.8,पृ० 230
[1065] र०वं० 1.1, पृ० 4,
[1066] धा०सं० 1463,पृ० 213
[1067] पा०सू० 1.2.46, पृ० 123
[1068] ऋ०सं० 1.3,पृ० 3
[1069] भ्वादि ,धा०सं० 917,पृ० 125
[1070] पा०सू० 6.1.144,पृ० 19
[1071] पा०सू० 6.4.66,पृ० 254
[1072] र०वं० 1.7,पृ० 6
[1073] भ्वादि, धा०सं० 898 पृ० 121

में होता है। अनु उपसर्ग पूर्वक जनि धातु से क्त प्रत्यय ,प्रातिपादिकसंज्ञा , स्वादि की उत्पति , अनुजातः प्रयोग निष्पन्न होता है। तं रघुम् अनुजातः। उक्त सूत्र का अर्थ है गत्यर्थक , अकर्मक , श्लिष , शीङ् ,स्था, वस , जन, रुह, तथा जृ धातुओं से विहित जो क्त प्रत्यय है वह कर्ता में होता है ,सूत्र में चकार ग्रहण से यथाप्राप्त भाव कर्म में भी होता है। इसी प्रकार गत्यर्थक गम्लृ गतौ[1077] धातु का कर्ता अर्थ में प्रयोग कालिदास ने किया है–**समागतो राजवदुद्धतद्युतिर्घनागमः**।[1078]

समुत्कीर्णः

मणौ वज्रसमुत्कीर्णे।[1079] कृ विक्षेपे धातु[1080] से सम् उत् उपसर्ग पूर्वक ऋत इद्धातोः[1081] सूत्र से ऋकारान्त धातु के अंग को इकारादेश होता है। यहाँ इस सूत्र से इत्व , रपरत्व , तदनन्तर रदाभ्यां निष्णातो नः पूर्वस्य च दः[1082] इस सूत्र से निष्ठा के तकार को नकार हो जाता है। फिर रषाभ्यां नो णः समानपदे[1083] से णत्व होकर हलि च [1084] से रेफान्त एवं वकारान्त धातु की उपधा इक् को दीर्घ होता है, दीर्घ होने पर समुत्कीर्णः शब्द निष्पन्न होता है।

इसी प्रकार क्त प्रत्ययान्त अवकीर्णः प्रयोग निष्पन्न होता है वहति विगतमेघं चन्द्रतारावकीर्णम्।[1085]

इसी प्रकार अभिज्ञान शाकुन्तल में अवतीर्णोऽपि रथो न लक्ष्यते।।[1086] में क्त प्रत्ययान्त **अवतीर्णः** प्रयोग सिद्ध होता है।

इसीप्रकार ऋतुसंहार में शीर्णपर्णद्रुमस्थः[1087] यहाँ शॄ हिंसायाम्[1088] धातु से क्त प्रत्यय होकर **शीर्णः** शब्द निष्पन्न होता है।

शब्द	धातु	प्रत्यय	कालिदासीय प्रयोग

[1074] र०वं० 6.78 पृ० 97
[1075] धा०सं० 1149, पृ० 33
[1076] पा०सू० 3.4.72,पृ० 441
[1077] भ्वादि,धा०सं० 982,पृ० 138
[1078] ऋ०सं० 2.1,पृ० 6
[1079] र०वं० 1.4,पृ० 5
[1080] तुदादि ,धा०सं० 1410,पृ० 207
[1081] पा०सू० 7.1.100,पृ० 336
[1082] पा०सू० 8.2.42,पृ०527
[1083] पा०सू० 8.4.1 ,पृ० 607
[1084] पा०सू० 8.2.77,पृ० 540
[1085] ऋ०सं० 3.21पृ० 11
[1086] अ०शा० 7.10,पृ० 545
[1087] ऋ०सं० 1.23,पृ० 4
[1088] क्रयादि ,धा०सं० 1489,पृ० 4

गर्जितम्	गर्ज शब्दे[1089]	क्त	श्रवणसुभगंगर्जितं मानसोत्काः[1090]
संयन्त्रितः	यहाँ सम् उपसर्ग पूर्वक यत्रि सङ्कोचे[1091]	क्त	संयन्त्रितो मया रथः[1092]
भूषिता	भूष अलंकारे[1093]	क्त	विभातिशुक्लेतररत्नभूषिता[1094]
अङ्कितम्	अकि लक्षणे[1095]	क्त	रघुपतिपदैरङ्कितम्[1096]
हुतः	हु दानादनयोः[1097]	क्त	यथाविधिहुताग्नीनाम्[1098]
अर्चितः	अर्च पूजायाम्[1099]	क्त	यथाकामार्चितार्थिनाम्[1100]
शुद्धः	शुध शौचे[1101]	क्त	सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्[1102]
प्रस्थिता	प्र उपसर्ग पूर्वक ष्ठा गतिनिवृतौ [1103]	क्त	सखि! कुत्र प्रस्थितासि[1104]
दृष्टा	दृशिर् प्रेक्षणे[1105]	क्त	सा कथं भर्त्रा दृष्टा।[1106]
आलिखिता	लिख अक्षरविन्यासे[1107]	क्त	देव्या आसन्ना आलिखिता किन्नामधेया।[1108]
शोभितम्	शुभ दीप्तौ[1109]	क्त	विकीर्णविस्तीर्णकलापिशोभितम्। ऋ०सं० 2.5,पृ० 6
निरीक्षितम्	निउपसर्ग ईक्ष दर्शने[1110]	क्त	ससाध्वसैर्भेककुलैर्निरीक्षितम् ऋ०सं० 2.13,पृ० 7
मुदितः	मुद हर्षे[1111]	क्त	मुदित इव कदम्बैर्जातपुष्पैः

[1089] भ्वादि,धा०सं० 226,पृ०67
[1090] मे०दू० 1.11,पृ० 28
[1091] चुरादि ,धा०सं० 1537,पृ० 222
[1092] अ०शा० 7,पृ० 545
[1093] भ्वादि, धा०सं० 98,पृ० 98
[1094] ऋ०सं० 2.5,पृ० 6
[1095] भ्वादि,धा०सं०87,पृ० 62
[1096] मे०दू० 1.12,पृ० 28
[1097] जुहोत्यादि,धा०सं० 1083,पृ० 179
[1098] र०वं० 1.6,पृ०6
[1099] भ्वादि,धा०सं० 204,पृ० 66
[1100] र०वं० 1.6,पृ० 6
[1101] दिवादि, धा०सं० 1191,पृ० 193
[1102] र०वं० 1.5,पृ० 5
[1103] भ्वादि,धा०सं० 928ए पृ० 126
[1104] माल० 1,पृ० 571
[1105] भ्वादि, धा०सं० 988,पृ० 387
[1106] माल० 1,पृ० 571
[1107] तुदादि,धा०सं० 1366,पृ०206
[1108] माल०1,पृ० 572
[1109] भ्वादि,धा०सं० 750,पृ० 374
[1110] भ्वादि,धा०सं 610,पृ०17
[1111] भ्वादि, धा०सं०16 पृ० 51

			समन्तात् ।[1112]
हसितम्	हसे हसने[1113]	क्त	हसितमिव विधत्ते ।[1114]
समुपजनिम्	सम् उप उपसर्ग पूर्वक जनी प्रादुर्भावे[1115]	क्त	समुपजनिततापं ह्लादयन्तीव विन्ध्यम् ।[1116]
वाञ्छितानि	वाछि इच्छायाम्[1117]	क्त	दिशतु तव हितानि प्रायशो वाञ्छितानि ।[1118]
हितानि	डुधाञ्धारणपोषण योः[1119]	क्त	दिशतु तव हितानि ।[1120]
प्राप्ता	प्रउपसर्ग आप्ल्ॢ व्याप्तौ[1121]	क्त	प्राप्ता शरन्नववधूरिव रूपरम्या ।[1122]
शुक्लीकृतानि	डुकृञ् करणे[1123]	च्वि ,क्त	शुक्लीकृतान्युपवनानि च मालतीभिः ।[1124]
प्रयातैः	प्र उपसर्ग या प्रापणे[1125]	क्त	लघुतया शतशः प्रयातैः[1126]
नादितम्	प्रति उपसर्ग णद भाषार्थः[1127]	क्त	स्वस्थस्थिताण्डजकुलप्रतिनादितानि ।[1128]
उपेतः	इण् गतौ[1129]	क्त	तत्सङ्गमादधिकशीतलतामुपेतः ।[1130]

4.10.3 वर्तमानकालिक शतृ ,शानच् प्रत्ययान्त शब्द एवं कालिदासीय सन्दर्भ

लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे[1131]

धातु से लट् के स्थान में शतृ तथा शानच् प्रत्यय होते हैं, कार्य करता हुआ , खाता हुआ ,जाता हुआ आदि अर्थ को बताने के लिए शतृ शानच् वर्तमान् कालिक प्रत्ययों का प्रयोग

[1112] ऋ०सं० 2.24,पृ० 8
[1113] भ्वादि, धा०सं०721 पृ०100
[1114] ऋ०सं० 2.24,पृ० 8
[1115] दिवादि,धा०सं० 1149 पृ० 189
[1116] ऋ०सं० 2.28,पृ० 8
[1117] भ्वादि, धा०सं०208 पृ० 66
[1118] ऋ०सं० 2.29,पृ० 8
[1119] जुहोत्यादि,धा०सं०1092 पृ० 182
[1120] ऋ०सं० 2.29,पृ० 8
[1121] स्वादि,धा०सं० 1261,पृ० 199
[1122] ऋ०सं० 3.1,पृ० 9
[1123] तनादि,धा०सं० 1473 पृ० 214
[1124] ऋ०सं० 3.2,पृ०9
[1125] अदादि,धा०सं० 1049, पृ० 166
[1126] ऋ०सं० 3.4 पृ० 9
[1127] चुरादि, धा०सं०1779,पृ०230
[1128] ऋ०सं० 3.14,पृ०10
[1129] अदादि, धा०सं०1045,पृ०160
[1130] ऋ०सं० 3.15,पृ०11
[1131] पा०सू० 3.2.124,पृ० 391

किया जाता है। इन्हें सत् भी कहते है सत् का अर्थ है विद्यमान या वर्तमान। परस्मैपदी धातुओं में शतृ और आत्मनेपदी धातुओं में शानच् प्रत्यय लगाया जाता है तथा उभयपदी धातुओं से शतृ , शानच् दोनों होते हैं। शतृ शानच् प्रत्ययान्त शब्द कर्त्ता के विशेषण होते हैं।

इच्छन्

ऋतुसंहार में भ्रमति गवययूथः सर्वतस्तोयमिच्छन्।[1132] इषु इच्छायाम्[1133] धातु से लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे[1134] शतृ प्रत्यय होता है ,धातु से लट् के स्थान में शतृ तथा शानच् प्रत्यय होते हैं। इषुगमियमां छः[1135] इषु अंग को छकार आदेश होता है , शित् प्रत्यय परे रहते। शित् प्रत्यय शतृ है अतः अन्त्य अल् को छकारादेश होता है। तिङ् शित् सार्वधातुकम्[1136] सूत्र के द्वारा शतृ के सार्वधातुक होने के कारण कर्त्तरि शप[1137] से शप् प्रत्यय होकर शकार पकार का लोप होने पर इष्छ अ अत् अतोगुणे[1138] से पररूप एकादेश करने इच्छत् , प्रातिपदिकसंज्ञा , सु आदि, इच्छत् स् इस स्थिति में शतृ के ऋकार की इत्संज्ञा हुई है अतः यह उगित् है इस से परे सु यह सर्वनामस्थान भी विद्यमान है। अतः उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः[1139] से नुम् आगम् ,अन्त्य अच से परे हुआ , स् ,त् का लोप होकर इच्छन् यह प्रयोग निष्पन्न होता है।

कालिदास ने ऋतुसंहार में प्रयोग किया है–अवाङ्मुखो जिह्मगतिः श्वसन् मुहुः फणी मयूरस्य तले निषीदति।[1140] यहाँ श्वस प्राणने[1141] धातु से शतृ प्रत्यय करने पर **श्वसन्** शब्द निष्पन्न होता है।

शब्द	धातु	प्रत्यय	कालिदासीय प्रयोग
परिहरन्	हृञ् हरणे[1142]	शतृ	दिङ्नागानां पथि परिहरन्[1143]
अपरिगणयन्	गण सङ्ख्याने[1144]	नञ, शतृ	अपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे[1145]
अवेक्षमाणम्	अव उपसर्ग ईक्ष	शानच्	अवेक्षमाणम् महिषीकुलं जलम्।[1147]

[1132] ऋ०सं० 1.23,पृ० 4
[1133] ,तुदादि, धा०सं० 1352,पृ० 206
[1134] पा०सू० 3.2.124 ,पृ० 391
[1135] पा०सू०7.3.77पृ० 413
[1136] पा०सू०3.4.113, पृ० 545
[1137] पा०सू० 3.1.68 पृ० 307
[1138] पा०सू०6.1.94,पृ० 40
[1139] पा०सू० 7.1.70, पृ० 324
[1140] ऋ०सं० 1.13,पृ० 4
[1141] अदादि, धा०सं०1069,पृ० 172
[1142] भ्वादि, धा ०सं० 899 ,पृ०121
[1143] मे०दू० 1.14,पृ० 29
[1144] चुरादि, धा ०सं०1854,पृ०233
[1145] मे०दू० 1.5,पृ० 27

	दर्शने[1146]		
निपातयन्ती	पत गतौ[1148]	शतृ स्त्रीलिङ्गे	निपातयन्त्यः परितस्तटद्रुमान्[1149]
विकम्पयन्	कपि चलने[1150]	णिजन्त, शतृ	विकम्पयँस्तत्कुसुमाधिवासितः।[1151]
आदधानः	डुधाञ् धारणपोषणयोः[1152]	शानच्	नवजलकणसङ्गाच्छीतलामादधानः।[1153]
उपवीज्यमानः	उप ,वि उपसर्ग यज देवपूजासङ्गतिकरणादानेषु,[1154]	शानचकर्म में	राजेव चामरशतैरुपवीज्यमानः।[1155]
उद्वहन्ती	वह प्रापणे[1156]	शतृ	तारागणप्रवरभूषणमुद्वहन्ती।[1157]
आनर्तयन्	नृती गात्रविक्षेपे[1158]	णिजन्त शतृ	आनर्तयँस्तरुवरान् कुसुमावनम्रान्।[1159]
विधुन्वन्	वि उपसर्ग धूञ् कम्पने[1160]	शतृ	नलिनीं विधुन्वन्।[1161]
विधूयमानः	धूञ् कम्पने[1162]		पत्रान्तलग्नतुहिनाम्बुविधूयमानः।[1163]

4.10.3.1 भविष्यत्कालिक कृदन्त एवं कालिदासीय सन्दर्भ

लृटः सद्वा[1164]

भविष्यत् काल में विहित जो लृट् उसके स्थान में सत् संज्ञा वाले शतृ , शानच् प्रत्यय विकल्प से होते हैं। यथा करिष्यन्तं करिष्यमाणं वा यज्ञदत्तं पश्य अर्थात् जो करेगा ऐसे यज्ञदत्त को देखो। भविष्यत्कालिक शतृ, शानच् प्रत्ययान्त का अर्थ गमिष्यन् जाने वाला ,खादिष्यन् खाने वाला होता है।

[1147] ऋ०सं० 1.21,पृ०4
[1146] भ्वादि,धा०सं 610,पृ०17
[1148] चुरादि,धा०सं०1862,पृ० 233
[1149] ऋ०सं० 2.7,पृ०6
[1150] भ्वादि,धा०सं० 375,पृ० 77
[1151] ऋ०सं० 2.17,पृ० 7
[1152] जुहोत्यादि, धा०सं०1092 पृ० 182
[1153] ऋ०सं० 2.27,पृ० 8
[1154] भ्वादि,धा०सं० 1002 ,पृ० 142
[1155] ऋ०सं०3.4 पृ० 9
[1156] भ्वादि,धा०सं० 1004 पृ० 143
[1157] ऋ०सं० 3.7,पृ० 9
[1158] दिवादि, धा०सं० 1116,पृ० 186
[1159] ऋ०सं० 3.10,पृ० 10
[1160] स्वादि,धा०सं०1256,पृ० 199
[1161] ऋ०सं० 3.10,पृ०10
[1162] स्वादि, धा०सं०1256,पृ०199
[1163] ऋ०सं० 3.15,पृ०11
[1164] पा०सू० 3.3.14,पृ 425

शब्द	धातु	प्रत्यय	कालिदासीय प्रयोग
हारयिष्यन्	ह्वञ् हरणे[1165]	भविष्यत्कालिक शतृ। प्रेरणा अर्थ में धातु से णिच् प्रत्यय हुआ है।	जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन् प्रवृत्तिम्।[1166]
निध्यायन्ती	नि उपसर्ग ध्यै चिन्तायाम्[1167]	शतृ	स्निग्धं निध्यायन्ती[1168]

4.10.4 कर्तृवाचक कृदन्त एवं कालिदासीय सन्दर्भ

तितीर्षुः

तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्[1169] यहाँ तितीर्षुः (तरीतुम् इच्छुः) शब्द में तॄ प्लवनतरणयोः[1170] धातु का सन्नन्त शब्द तितीर्ष से शील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ता अर्थ में सनाशंसभिक्ष उः[1171] सूत्र से उ प्रत्यय होकर ,प्रातिपदिकसंज्ञा, स्वादि उत्पत्ति, तितीर्षुः रूप सिद्ध होता है।

शब्द	धातु	प्रत्यय	कालिदासीय प्रयोग
यियासुः (यातुमिच्छति)	या प्रापणे[1172]	सन् उ	मत्प्रियार्थं यियासोः[1173]
यियक्षुः (यष्टुमिच्छति)	यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु [1174]	सन् उ	गुरोर्यियक्षोः कपिलेन मेध्ये रसातलं संक्रमिते तुरङ्गे।[1175]
विजिगीषुः	विउपसर्गजि जये[1176]	सन् उ	यशसे विजिगीषूणाम्[1177]

[1165] भ्वादि,धा०सं० 899,पृ० 381
[1166] मे०दू० 1.4,पृ० 27
[1167] भ्वादि ,धा०सं०909,पृ० 383
[1168] मा०वि०1,पृ० 571
[1169] र०वं० 1.2,पृ० 4
[1170] धा०सं० 969,पृ० 234
[1171] पा०सू० 3.2.68,पृ० 453
[1172] अदादि, धा०सं० 1049,पृ० 166
[1173] मे०दू० 1.22,पृ०30
[1174] भ्वादि , धा०सं० 1002,पृ० 142
[1175] र०वं० 13.3,पृ० 120
[1176] भ्वादि धा०सं०561,पृ० 92

जिगमिषुः	गम्लृ गतौ[1178]	सन् उ	जिगमिषुर्धनदाध्युषितां दिशं।[1179]

पतिम्वरा

प्राचीनकाल में विवाह में एक प्रथा प्रचलित थी जिसे स्वयंवर प्रथा कहा जाता था। इस प्रथा के अनुसार कन्या का पिता कन्या के वरण हेतु राजाओं को निमन्त्रित करता था। इन उपस्थित राजाओं में कन्या जिसका वरण करती थी उसी के साथ उसका पाणिग्रहण संस्कार किया जाता था। कालिदास ने इस पद्धति का विवेचन रघुवंश में किया है।[1180] पतिम्वरा शब्द का अर्थ है पतिं वृणोतीति पतिम्वरा अथ स्वयम्वरा पतिम्वरा वर्या च।[1181] यहाँ व्याकरणानुसार संज्ञायां भृतृवृजिधारिसहितपिदमः[1182] इस सूत्र से खच् प्रत्यय होता है, संज्ञा गम्यमान हो तो कर्म अथवा सुबन्त उपपद रहते भृ, तृ ,वृ, जि, धृ, सह् , तप् , दम् इन धातुओं से खच् प्रत्यय होता है। पति उपपद रहते वृञ् वरणे[1183] धातु से उक्त सूत्र से खच् प्रत्यय हुआ। उपपदमतिङ्[1184] सूत्र से समास तथा सुपोधातुप्रातिपदिकयोः[1185] सूत्र से सुप् का लोप् हुआ । लशक्वतद्धिते[1186] सूत्र से खच् के खकार की इत्संज्ञा तथा हलन्त्यम्[1187] सूत्र से खच् के चकार की इत्संज्ञा तदनन्तर तस्य लोपः[1188] सूत्र से इत्संज्ञकों का लोप, अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्[1189] सूत्र से मुम् आगम्। मिदचोऽन्त्यात् परः[1190] सूत्र से अन्तिम अच् से पर मुम् आगम हुआ। मोऽनुस्वारः[1191] से मान्त पद को अनुस्वार, अजाद्यतष्टाप[1192] प्रकृत सूत्र से स्त्रीत्व अर्थ बोधन के लिए टाप् प्रत्यय हुआ पतिम् –वृ –खच्–टाप् ङ्याप्प्रातिपदिकात्[1193] सूत्र से सु उत्पत्ति तथा हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं

[1177] र०वं 1.7,पृ० 6
[1178] भ्वादि,धा०सं० 982,पृ० 138
[1179] र०वं० 9.25,पृ० 168
[1180] पतिम्वरा क्लृप्तविवाहवेषा।। र०वं० 6.10,पृ० 171
[1181] अ०को० द्वितीयकाण्ड, मनुष्यवर्ग –7, पृ० 121
[1182] पा०सू० 3.2.46, पृ० 495
[1183] धातुसङ्ख्या–1255, पृ 407
[1184] पा०सू० 2.2.19,पृ० 183
[1185] वही 2.4.71, पृ० 160
[1186] वही 1.3.8,पृ० 44
[1187] वही 1.3.3,पृ० 2
[1188] वही 1.3.9,पृ० 17
[1189] वही 6.6.67,पृ० 493
[1190] वही 1.1.47,पृ०10
[1191] वही 8.3.23, पृ० 29
[1192] वही 4.1.4,पृ०109
[1193] वही 4.1.1,पृ० 41

हल्।[1194] इस् सूत्र से आबन्त से परे अपृक्त सकार का लोप होकर पतिम्वरा शब्द निष्पन्न होता है।

शत्रुघ्नः

शत्रु हमारे बाहर भी होते हैं और भीतर भी। बाहरी शत्रुओं पर विजय प्राप्त की जा सकती है किन्तु आन्तरिक शत्रु काम ,क्रोध , मद ,मोह आदि पर विजय पाना अत्यधिक कठिन है। किन्तु जो इन दोनों पर विजय प्राप्त करता है ,वही शत्रुघ्न होता है। कालिदास लिखते हैं कि श्रीराम ने शत्रुघ्न को लवणासुर को मारने के लिए इसलिए भेजा मानो शत्रुघ्न का नाम शत्रून् हन्ति इति शत्रुघ्नः को चरितार्थ करना चाहते हैं।[1195] यहाँ अमनुष्यकर्तृके च[1196] इस पाणिनि सूत्र से मनुष्यभिन्न कर्तृक अर्थ में वर्तमान हन् धातु से कर्म उपपद रहते टक् प्रत्यय होता है। उदाहरण के लिए श्लेष्मघ्नं मधु। पित्तघ्नं घृतम्। किन्तु शत्रुघ्न शब्द में मनुष्यकर्तृक हन् धातु है फिर शत्रुघ्न शब्द की निष्पत्ति कैसे सम्भव है। मल्लिनाथ ने आचार्य दुर्गसिंह का मत दिया है वे कहते हैं अमनुष्यकर्तृके च इस सूत्र में चकार से कृतघ्न शत्रुघ्न आदि शब्दों की सिद्धि हो जायेगी। भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में मूलविभुजादिभ्यः कः इस वार्तिक से क प्रत्यय किये जाने पर शत्रुघ्नः इस शब्द की सिद्धि मानी है।[1197] मूलविभुजादि आकृति गण है आकृति से ही इस गण की पहचान की जाती है।

अग्रणी

कालिदास ने मेघदूत में अग्रण्यः [1198] शब्द का प्रयोग किया है यहाँ अग्रण्यः शब्द का अर्थ है अग्रं नयन्ति इति अग्रण्यः आगे ले जाने वाले सेनानायक। णीञ् प्रापणे [1199] धातु से अग्र सुबन्त उपपद रहते सत्सूद्विषद्रुहदुहयुजविदभिदच्छिदजिनीराजामुपसर्गेऽपि क्विप् इस पाणिनि सूत्र से क्विप् प्रत्यय होता है। सद् , सू, द्विष द्रुह , युज, विद, भिद, छिद, जि , नी, राज् धातुओं से सोपसर्ग हो तो भी तथा निरुपसर्ग हो तो भी सुबन्त उपपद रहते क्विप् प्रत्यय होता है।[1200] क्विप् का सर्वापहार लोप होकर अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्यः[1201] से नकार को णकार होकर अग्रणी शब्द का बहुवचन में अग्रण्यः रूप निष्पन्न होता है।

[1194] वही 6.1.68,पृ० 58

[1195] आदिदेशाथ शत्रुघ्नं तेषां क्षेमाय राघवः।
करिष्यन्निति नामास्य यथार्थमरिनिग्रहात् ।।र०वं० 15.6

[1196] पा०सू० 3.2.53, पृ० 416

[1197] वै०सि०कौ० , अमनुष्यकर्तृके च।।पा०सू० 3.3.53, की वृत्ति में ,पृ० 416

[1198] योधाग्रण्यः प्रतिदशमुखं संयुगे तस्थिवांसः।। मे०दू० 2.13, पृ० 124

[1199] धा०सं० 901,पृ० 122

[1200] पा०सू०3.2.61, पृ० 417

[1201] वै०सि०कौ० ,पूर्वकृदन्तप्रकरण, पृ० 418

दिवाकरः

रश्मिभिः शशिदिवाकराविव।[1202] दिवाकरादर्शनबद्धकोशे।[1203] दिवसं करोतीति दिवाकरः। दिवा उपपद रहते डुकृञ् करणे[1204] धातु से दिवाविभानिशाप्रभा–भास्करान्तानन्तादिबहुनान्दीकिंलिपिलिबिबलिभक्तिकर्तृ–चित्रक्षेत्रसङ्ख्या जङ्घाबाह्वहर्यत्तद्धनुररुष्षु[1205] इस पाणिनि सूत्र से ट प्रत्यय होता है। इस सूत्र के अनुसार यदि कृ धातु के पूर्व दिवा , विभा , निशा, प्रभा आदि शब्द कर्म रूप में आते हैं तो ट प्रत्यय होता है। ट का अ शेष रहता है, प्रातिपदिक संज्ञा, सु आदि , दिवाकरः शब्द निष्पन्न होता है।

इसी प्रकार इसी सूत्र में आयें भास् उपपद रहते कृञ् धातु से ट प्रत्यय होकर भाष्करः शब्द सिद्ध होता है। भास्करस्य मधुमाधवाविव।[1206]

इसी प्रकार इसी सूत्र में आये प्रभा उपपद रहते कृञ् धातु से ट् प्रत्यय होकर प्रभाकर शब्द निष्पन्न होता है–कृशानुरपधूमत्वात्प्रसन्नत्वात्प्रभाकरः।[1207]

दूषणः

कालिदास दूषण शब्द का प्रयोग करते हैं–न चक्षमे शुभाचारः स दूषणमिवात्मनः।[1208] यहाँ दुष् वैकृत्ये[1209] धातु से हेतुमति च[1210] से णिच् प्रत्यय होता है, पुगन्तलघूपधस्य च [1211] इस सूत्र से आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर गुण, दोषो णौ[1212] इस सूत्र से दोष अंग की उपधा को ऊकार आदेश होता है। नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः[1213] इस सूत्र से कर्त्ता अर्थ में ल्यु प्रत्यय होता है, युवोरनाको[1214] इस सूत्र से अन होकर , णत्व , प्रातिपदिकसंज्ञा, स्वादि, दूषणः प्रयोग सिद्ध होता है। कालिदास लिखते हैं कि जिस प्रकार सदाचारी पुरुष अपने ऊपर नीच पुरुषों द्वारा लगाया गया दूषण या कलङ्क नहीं सहन करता उसी प्रकार श्रीराम भी युद्ध में दूषण राक्षस को न सह सके।[1215]

[1202] र०व० 11.24,पृ० 125
[1203] र०वं० 6.66, पृ० 148
[1204] डुकृञ् करणे तनादि, धा०सं० 1473,पृ० 214
[1205] पा०सू० 3.2.21,पृ० 350
[1206] र०वं० 11.7, पृ० 183
[1207] र०वं० 10.74 पृ०324
[1208] र०वं० 12.46,पृ० 114
[1209] दिवादि, धा०सं० 11.85,पृ० 192
[1210] पा०सू० 3.1.26,पृ०289
[1211] पा०सू० 7.3.86,पृ० 416
[1212] पा०सू० 6.4.90,पृ०263
[1213] पा०सू० 3.1.134,पृ० 337
[1214] पा०सू० 7.1.1, ,पृ० 299
[1215] र०वं० 12.46,पृ० 114

कामी

अनुभवन्ति कामिनः।[1216] कामी शब्द णिनि प्रत्ययान्त है , णिनि प्रत्यय का प्रयोग किसी एक वस्तु का दूसरी वस्तु में होना , सूचित करने के लिए (तद् अस्य अस्ति अथवा तद् अस्मिन् अस्ति) किया जाता है ,कमु कान्तौ[1217] भ्वादि , धातु से नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः[1218] इस सूत्र से कर्त्ता अर्थ में णिनि प्रत्यय होता है , उसका इन् शेष रहता है ,कामिन् शब्द से प्रथमा विभक्ति एकवचन् में कामी और बहुवचन में कामिनः प्रयोग निष्पन्न होता है।

शब्द	धातु	प्रत्यय	कालिदासीय प्रयोग
मितभाषी	भाष्व्यक्तायां वाचि[1219]	णिनि	सत्यायमितभाषिणाम्[1220]
गृहमेधी	मेधृ सङ्गमे[1221]	णिनि	प्रजायै गृहमेधिनाम[1222]

राजा

रघुवंश में कवि ने राजा शब्द को स्पष्ट किया है– जैसे सबको आनन्द देकर चन्द्रमा ने अपना नाम सार्थक किया और सबको तपाकर सूर्य ने अपना नाम सार्थक किया था, वैसे ही रघु ने भी प्रजा को प्रसन्न करके और उन्हें सुख देकर अपना 'राजा' यह नाम सार्थक कर दिया ।[1223] राजते इति राजा इस अर्थ में राजन् शब्द दीप्त्यर्थक अथवा शोभार्थक. 'राजृ दीप्तौ'[1224] धातु युवृषिताक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः [1225] इस सूत्र से औणादिक् कनिन् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। कालिदास ने रञ्ज् धातु[1226] से भी राजन् शब्द की सिद्धि मानी है। दुष्यन्त शारद्वत से कहता है कि मेरा राजा शब्द वस्तुतः सार्थक है अर्थवान्खलु मे राजशब्दः।[1227] अतः राजते इति रञ्जयति लोकान् इति वा राजा। राजा वह जो प्रजा को प्रसन्न रखता हो और प्रजा के लिए हितकारी हो।

प्रियसखः

[1216] ऋ०सं ० 1.3,पृ० 4
[1217] धा०सं० 443,पृ० 81
[1218] पा०सू० 3.1.134,पृ० 337
[1219] भ्वादि, धा०सं०612,पृ० 94
[1220] र०वं० 1.7,पृ० 6
[1221] भ्वादि, धा०सं०870,पृ० 119
[1222] र०वं० 1.7,पृ० 6
[1223] यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा ।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात्।। र०वं० 4.12,पृ० 110
[1224] भ्वादि, धा०सं० 822, पृ० 115
[1225] वै०सि०कौ०,उणादि प्रकरण,पृ० 479
[1226] भ्वादि ,धा०स०999,पृ० 142
[1227] अ०शा० 5, पृ० 416

मेघदूतम् में आपृच्छस्व प्रियसखममुम्।[1228] प्रियसखः शब्द में राजाहः सखिभ्यश्टच्।[1229] इस सूत्र से टच् प्रत्यय हुआ है। राजन्, अहन् और सखि शब्द अन्त वाले शब्दों से समासान्त टच् प्रत्यय होता है। यहाँ सखि शब्द से पूर्व प्रिय शब्द है अतः समासान्त टच् प्रत्यय हुआ है –प्रियश्चासौ सखा च प्रियसखः।

श्रोत्रियः

भारतीय परम्परा में वेदों के अध्ययन की एक वैज्ञानिक पद्धति रही है, छात्र स्वयं वेदों का अध्ययन प्रारम्भ नहीं करते बल्कि उनका पहले यज्ञोपवीत संस्कार होता है, तदनन्तर वे गुरुमुख से वेदों का अध्ययन करते हैं। ये परम्परा इसलिए वैज्ञानिक है क्योंकि गुरु वेदों का वही उच्चारण अपने शिष्यों को करवाता है जो उसे अपनी गुरुपरम्परा से प्राप्त हुआ है। श्रवणपरम्परा से वेदों का ज्ञान शिष्य प्राप्त करते हैं इसलिए वेदों का एक नाम श्रुति भी है जो लोग श्रुति का अध्ययन करने वाले हैं उन्हें श्रोत्रिय कहा जाता है। कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल में श्रोत्रियः[1230] शब्द का प्रयोग किया है। पाणिनि के श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते[1231] सूत्र से छन्दस् को श्रोत्र आदेश और घन् प्रत्यय निपातन से किया जाता है –श्रोत्र घ(इय) श्रोत्रियः। धर्मशास्त्र के अनुसार वेद की एक शाखा का अध्ययन करने वाला श्रोत्रिय कहलाता है।[1232]

तृच् प्रत्यय

वक्ता –वच परिभाषणे[1233]– कालिदासीय प्रयोग–विकचपद्ममनोज्ञवक्त्रा।[1234]

घिनुण् प्रत्यय

कुछ धातुओं से तत्स्वभावता, उस धर्म वाला गुण वाला होना इस अर्थ में कर्त्ता अर्थ में घिनुण् प्रत्यय होता है। घिनुण् का इन् शेष रहता है।

प्रवासी

[1228] मे०दू० 1.12
[1229] पा०सू० 5.4.91
[1230] अनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः।।अ०शा० 6.1,पृ० 512
[1231] पा०सू० 5.2.84, पृ 302
[1232] यश्छन्दोऽधीते सः श्रोत्रियो भवति ।अत्र भाष्ये छ्न्दोऽधीते इत्यस्य वाक्यस्यार्थे श्रोत्रियन्नित्येतत्पदं निपात्यते इति वाक्यार्थे पदवचनपक्षः। छन्दसो वा श्रोत्रभावो निपात्यते , तदधीत इत्यस्मिन्नर्थे , घश्च प्रत्ययः इति पक्षान्तरं च स्थितम् । व्याख्यातं च कैयटेन वाक्यार्थस्य सम्बन्धरूपस्य क्रियारूपस्य वाऽसत्त्वरूपत्वात् ,श्रोत्रियशब्दस्य च सत्त्वरूपार्थाभिधायित्वाद्वाक्यार्थग्रहणेन तदाश्रयश्छन्दोऽध्यायी अभिधीयत इति। एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियो भवतीति धर्मशास्त्रम्।। वै०सि०कौ०, श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते।। पा०सू० 5.2.83, तत्त्वबोधिनी व्याख्या, पृ० 812
[1233] अदादि, धा०सं०1063 पृ० 167
[1234] ऋ०सं० 3.1,पृ० 9

कालिदास ने प्रयोग किया–चेतः प्रसभं प्रवासिनाम्।[1235] यहाँ प्रेलपसृद्रुमथवदवसः।[1236] इस पाणिनि सूत्र से प्र उपसर्ग पूर्वक वस निवासे चुरादि,धा०सं० 1943,पृ० 243 धातु से घिनुण् प्रत्यय होने पर प्रातिपदिकसंज्ञा, सु प्रत्यय होकर प्रवासी पद निष्पन्न होता है।

क्विप् प्रत्यय

जलमुच्

कालिदास प्रयोग करते हैं श्रुत्वा ध्वनिं जलमुचां त्वरितं प्रदोषे।[1237] यहाँ जल उपपद रहते मुच्लृ मोक्षणे[1238] धातु से कर्ता अर्थ में क्विप च[1239] सूत्र से सभी धातुओं से सोपपद हो या निरुपपद क्विप् प्रत्यय होता है, उसका सर्वापहार लोप होकर, प्रातिपदिक संज्ञा होकर सु आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। षष्ठी के बहुवचन में जलमुचाम् प्रयोग सिद्ध होता है।

ण्वुल् प्रत्यय

धातु मात्र से कर्ता अर्थ में ण्वुल् और तृच् प्रत्यय होते हैं।[1240] कालिदास ने प्रहृलादकः शिशिरसीकरवारिवर्षी।[1241] श्लोक में ण्वुल् प्रत्ययान्त शब्द प्रहृलादकः का प्रयोग किया है। हृलादी सुखे च।[1242] इस धातु से ण्वुल् प्रत्यय होता है, ण्वुल् के वु के स्थान में युवोरनाकौ।[1243] इस सूत्र से अक प्रत्यय होकर, प्रातिपदिकसंज्ञा, सु आदि की उत्पत्ति , प्रहृलादकः रूप निष्पन्न होता है।

4.10.5 भावार्थ कृत्प्रत्यय एवं कालिदासीय सन्दर्भ

प्रतिपत्तिः

वागर्थप्रतिपत्तये।[1244] यहाँ प्रतिपत्ति शब्द में प्रति उपसर्ग पद गतौ[1245] धातु से स्त्रियां क्तिन्[1246]इस सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में भाव अर्थ में क्तिन् प्रत्यय होता है। क्तिन् प्रत्यय , प्रातिपदिकसंज्ञा,स्वादि उत्पत्ति होकर प्रतिपत्तिः शब्द निष्पन्न होता है इसके चतुर्थी

[1235] ऋ०सं०2.4,पृ० 6
[1236] पा०सू० 3.2.145,पृ० 401
[1237] ऋ०सं० 2.22,पृ० 7
[1238] तुदादि, धा०सं० 1431,पृ० 209
[1239] पा०सू० 3.2.76,पृ० 373
[1240] ण्वुल्तृचौ।।पा०सू० 3.1.133,पृ० 336
[1241] ऋ०सं० 3.9,पृ० 10
[1242] भ्वादि,धा०सं० 27पृ० 54
[1243] पा०सू० 7.1.1,पृ० 299
[1244] र०वं० 1.1,पृ० 4
[1245] दिवादि, धा०सं० 1169,पृ० 50
[1246] पा०सू० 3.3.94,पृ० 453

एकवचन में प्रतिपत्तये रूप बनता है। इसी प्रकार क्व चाल्पविषया मतिः।[1247] में मतिशब्द क्तिन् प्रत्ययान्त है।

प्रभवः

क्व सूर्यप्रभवो वंशः।[1248] प्रभवः शब्द में भू सतायाम्[1249] धातु के उवर्णान्त होने से ऋदोरप्[1250] से भाव अर्थ में अप् प्रत्यय होता है। तदनन्तर प्रातिपदिकसंज्ञा ,सु आदि की उत्पत्ति होकर प्रभवः रूप निष्पन्न होता है। मल्लिनाथ ने प्रभव शब्द की व्युत्पत्ति की है प्रभवत्यस्मादि्त प्रभवः कारणम्। सूर्य प्रभवो यस्य स सूर्यप्रभवो वंशः।[1251] ऋकारान्त तथा उवर्णान्त धातुओं से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में अप् प्रत्यय होता है। यह घञ् का अपवाद सूत्र है।

दुस्तरः

दुस्तरं मोहात्।[1252] यहाँ दुस्तरः शब्द में तृ प्लवनतरणयोः[1253] ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थेषु खल्[1254] इस सूत्र से दुस्तर शब्द में दुर् उपपद रहते कृच्छ्रार्थ (कष्टार्थ) में तृ धातु से भाव और कर्म में खल् प्रत्यय होता है। तदनन्तर प्रातिपदिकसंज्ञा ,सु आदि की उत्पत्ति होकर दुस्तरः शब्द निष्पन्न होता है। कृच्छ्र अर्थ वाले तथा अकृच्छ्र अर्थ वाले ईषत् ,दुर् तथा सु ये उपपद हों तो धातु से खल् प्रत्यय होता है। तयोरेवकृत्यखलर्थाः इस सूत्र से खलर्थ प्रत्यय भाव और कर्म में ही होता है। दुर् शब्द कृच्छ्र तथा ईषत् और सु शब्द अकृच्छ्र अर्थ में होता है।

त्यागः

रघुवंश में त्यागाय सम्भृतार्थानाम्।[1255] त्यागाय सत्पात्रे विनियोगस्त्यागस्तस्मै। यहाँ त्यज् हानौ धातु से भावे[1256] सूत्र से भाव में घञ् प्रत्यय होता है, अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्।[1257] सूत्र से कर्त्ताभिन्न कारक में धातु से परे घञ् प्रत्यय संज्ञा के विषय में

[1247] र०वं० ,1.2, पृ० 1
[1248] र०वं० 1.2, पृ०4
[1249] भ्वादि, धा०सं० 1,पृ०10
[1250] पा०सू० सूत्र 3.3.57,पृ० 441
[1251] र०वं० 1.2,पृ० 2 , मल्लिनाथव्याख्या
[1252] र०वं० 1.2,पृ० 4
[1253] धा०सं० 969,पृ० 234
[1254] पा०सू० 3.3.126 ,पृ० 469
[1255] र०वं० 1.7,पृ० 7
[1256] पा०सू० 3.3.18,पृ० 427
[1257] पा०सू० 3.3.19,पृ० 427

होता है। त्यज् घञ्। प्रत्यय के अनुबन्धों का लोप , अत उपधायाः[1258] से उपधा के अकार को वृद्धि हो जाती है, त्याज् घञ्। घित् प्रत्यय के परे होने पर चजोः कु घिण्यतोः[1259] से धातु के जकार को कुत्व गकार होने पर त्याग प्रातिपदिक बना, अब इससे परे प्रथमा एकवचन में सु प्रत्यय लाने पर सकार को रुत्व विसर्ग करने पर त्यागः प्रयोग सिद्ध होता है।

भाव अर्थात् धात्वर्थ वाच्य हो तो धातुमात्र से घञ् प्रत्यय होता है। धातु के अर्थ (क्रिया) को ही भाव कहते हैं। वह धात्वर्थ दो प्रकार का होता है। साध्यावस्थापन्न , सिद्धावस्थापन्न। भवति , पठति , पचति , हसति आदि तिङन्तों में धात्वर्थ साध्यावस्थापन्न होता है। त्यागः ,पाकः , पठनम् , गमनम् , हसितम् आदि कृदन्तों में सिद्धावस्थापन्न होता है। जब धात्वर्थ सिद्धावस्था में होता है तब वह द्रव्य की तरह भासता है।[1260] अतः उसके साथ लिंग और संख्या का योग हो सकता है। प्रस्तुत सूत्र से इसी सिद्धावस्थापन्न भाव के वाच्य होने पर धातु से घञ् प्रत्यय होता है।

लेखः

कालिदास लिखते हैं लेखमात्रम् अपि न विसृजति।[1261] न संनिहितानि पुनर्लेखसाधनानि।[1262] लिख अक्षरविन्यासे[1263] धातु से धातु का अर्थ बतलाने के लिए तथा कर्त्ता को छोड़कर अन्य कारक का अर्थ बतलाने के लिए भावे , अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् सूत्र से घञ् प्रत्यय होता है, अचोञ्णिति [1264]सूत्र से अजन्त अङ्ग को वृद्धि होती है ञित् णित् प्रत्यय परे रहते। लेख , प्रातिपदिक ,स्वादि, लेखः शब्द निष्पन्न होता है।

यज्ञः

यहाँ यज् देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु[1265] धातु से यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्।[1266] इस सूत्र से कर्तृभिन्न कारक संज्ञा में तथा भाव में नङ् प्रत्यय होता है। यज् नङ् इस अवस्था

[1258] पा०सू० 7.2.116,पृ० 382
[1259] पा०सू० 7.3.52,पृ० 405
[1260] कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते।। महाभा०
[1261] अ०शा०4, पृ० 481
[1262] अ०शा० 3,पृ० 466
[1263] तुदादि,धा०सं० 1366,पृ०206
[1264] पा०सू० 7.2.115,पृ० 382
[1265] भ्वादि, धा०सं० 1002, पृ० 142
[1266] पा०सू० 3.3.90, पृ० 452

में अनुवन्ध लोप होकर स्तो श्चुना श्चुः।[1267]सूत्र से न को ञ् होने पर यज्ञ प्रातिपदिक , सुआदि उत्पत्ति,यज्ञः प्रयोग निष्पन्न होता है।

याच्ञा

इसी प्रकार याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा।[1268] में याच्ञा शब्द यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्।[1269] सूत्र से नङ् प्रत्यय होता है। याच् न , श्चुत्व , टाप् होकर याच्ञा प्रयोग निष्पन्न होता है।

मनिन् प्रत्यय

आजन्मशुद्धानाम्[1270] यहाँ जनि प्रादुर्भावे[1271] धातु से सर्वधातुभ्यो मनिन्[1272] इस सूत्र से मनिन् प्रत्यय अनुबन्ध लोप होकर जन्म प्रातिपदिक बनता है इसके रूप नपुंसकलिंग में चलते हैं।

शब्द	धातु	प्रत्यय	कालिदासीय प्रयोग
वर्त्मन्	वृतु वर्तने[1273]	मनिन्	आनाकरथवर्त्मनाम्[1274]

4.10.6 तुमुन् प्रत्यय एवं कालिदासीय सन्दर्भ

तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्[1275]

क्रियार्थ क्रिया उपपद हो तो धातु से तुमुन् तथा ण्वुल् प्रत्यय भविष्यत् काल में होते हैं। क्रिया के लिए जो क्रिया हो वह क्रियार्थक्रिया क्रिया होती है। उदाहरण के लिए सः खादितुं गच्छति ,यहाँ जाना क्रिया खाने के लिए हो रही है। अतः गच्छति क्रियार्थक्रिया है

श्रोतुम्

तं सन्तः श्रोतुम्।[1276] यहाँ श्रु श्रवणे[1277] धातु से तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थानाम्।[1278] इस सूत्र से तुमुन् प्रत्यय होता है। जिस क्रिया के लिए कोई क्रिया की जाती है उसकी धातु में भविष्यत् अर्थ प्रकट करने के लिए तुमुन् और ण्वुल् प्रत्यय लगाया जाता है।

[1267] पा०सू० 8.4.39 ,पृ० 624
[1268] मे०दू० 1.6,पृ० 322
[1269] पा०सू० 3.3.90, पृ० 452
[1270] र०वं० 1.5,पृ० 5
[1271] दिवादि,धा०सं० 1149,पृ० 189
[1272] वै०सि०कौ० , उणादिसूत्र 584,पृ०531
[1273] भ्वादि, धा०सं० 758,पृ० 102
[1274] र०वं० 1.5,पृ० 5
[1275] पा०सू० 3.3.10, पृ० 424
[1276] र०वं० 1.10 पृ० 2
[1277] भ्वादि, धा०सं० 942,पृ०130

कालिदासीय कृतियों में तुमुन् प्रत्ययान्त अन्य उदाहरण

संकीर्तयितुम्

कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम संकीर्तयितुं चिन्तयिष्यति।[1279]

कृत संशब्दने[1280] तुमुन् प्रत्यय।

धातु से तुमुन् प्रत्यय।

शब्द	धातु	प्रत्यय	कालिदासीय प्रयोग
द्रष्टुम्	दृशिर् प्रेक्षणे[1281]	तुमुन्	न शक्यते द्रष्टुमपि प्रवासिभिः।[1282]
गन्तुम्	गम्लृ गतौ[1283]	तुमुन्	प्रदक्षिणीकृत्य भगवन्तं गन्तुमिच्छामि।[1284]
तुलयितुम्	तुल उन्माने[1285]	तुमुन्	तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वाम्[1286]
कर्तुम्	डुकृञ् करणे[1287]	तुमुन्	परिषदः कर्तुम्[1288]
प्रष्टुम्	प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्[1289]	तुमुन्	आर्यगणदासं प्रष्टुम्[1290]

4.10.7 क्त्वा, ल्यप प्रत्यय एवं कालिदासीय सन्दर्भ

समान्कर्तृकयोः पूर्वकाले[1291]

पढ़कर, खाकर, लिखकर, पीकर आदि पूर्वकालिक कृदन्तों का अनुवाद संस्कृत में क्त्वा प्रत्ययान्त शब्दों से किया जाता है। पाणिनि के अनुसार समान् अर्थात् एक कर्त्ता है जिन् दो क्रियाओं का उनमें जो पूर्वकाल में वर्त्तमान धातु है उससे क्त्वा प्रत्यय होता है। यथा यज्ञदतः पठित्वा गच्छति इस उदाहरण में पढ्ने क्रिया का एवं जाने क्रिया का कर्त्ता

[1278] पा०सू० 3.3.10, पृ० 423
[1279] अ०शा० 7,पृ० 550
[1280] चुरादि, धा०सं० 1654,पृ० 226
[1281] भ्वादि,धा०सं० 988,पृ०140
[1282] ऋ०सं० 1.10,पृ० 3
[1283] भ्वादि, धा०सं० 982,पृ० 138
[1284] अ०शा० 7,पृ० 544
[1285] चुरादि,धा ०सं०1600,पृ०224
[1286] मे०दू० 1.20,पृ० 29
[1287] तनादि, धा०सं० 1473,पृ० 414
[1288] मा०वि० 1.3,पृ० 570
[1289] तुदादि,धा०सं० 1414,पृ० 412
[1290] मा०वि०1,पृ० 570
[1291] पा०सू० 3.4.21, पृ० 506

यज्ञदत्त ही है। इसलिए पठ् एवं गम् दोनों ही समानकर्तृक धातुएँ हैं। पहले पढ़ता है फिर जाता है अतः पठ् पूर्वकालिक है, इसलिए पठ् से क्त्वा प्रत्यय हो गया।

समासेऽनञ्पूर्वेक्त्वो ल्यप्[1292] यदि धातु के पूर्व कोई उपसर्ग लगा हो तो क्त्वा प्रत्यय के स्थान में ल्यप् प्रत्यय होता है परन्तु नञ् के पहले होने पर नहीं होता ।

शब्द	धातु	प्रत्यय	कालिदासीय प्रयोग
नीत्वा	णीञ् प्रापणे[1293]	क्त्वा	नीत्वा मासान्[1294]
स्थित्वा	ष्ठा गतिनिवृतौ[1295]	क्त्वा	तस्य स्थित्वा[1296]
निरीक्ष्य	ईक्ष दर्शने[1297]	ल्यप्	निरीक्ष्यभिन्नाञ्जनसन्निभं नभः[1298]
श्रुत्वा	श्रु श्रवणे[1299]	क्त्वा	तच्छ्रुत्वा ते श्रवणं सुभगम्[1300]
एत्य	इण् गतौ[1301]	ल्यप्	यस्य संयोगमेत्य[1302]
आलिङ्ग्य	लीङ् श्लेषणे[1303]	ल्यप्	तुङ्गमालिङ्ग्य शैलम्[1304]
उपभुज्य	भुज पालनाभ्यवहारयो[1305]	ल्यप्	पयः स्रोतसां चोपभुज्य[1306]
दृष्ट्वा	दृशिर् प्रेक्षणे[1307]	क्त्वा	नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशम्[1308]

[1292] पा०सू०म् 7.1.37,पृ० 311
[1293] भ्वादि, धा०सं० 901,पृ० 381
[1294] मे०दू० 1.2,पृ० 27
[1295] भ्वादि, धा०सं० 928,पृ० 126
[1296] मे०दू० 1.3,पृ० 27
[1297] भ्वादि, धा०सं० 610,पृ० 94
[1298] ऋ०सं० 1.11,पृ० 3
[1299] भ्वादि, धा०सं० 942,पृ० 130
[1300] मे०दू० 1.11 पृ० 28
[1301] अदादि,धा०सं० 1045,पृ० 160
[1302] मे०दू० 1.12,पृ० 28
[1303] दिवादि धा०सं० 1139,पृ० 188
[1304] मे०दू० 1.12,पृ० 28
[1305] रुधादि,धा०सं० 1455 ,पृ० 211
[1306] मे०दू० 1.13,पृ० 28
[1307] भ्वादि,धा०सं० 988,पृ०140
[1308] मे०दू०1.21,पृ० 29

आघ्राय	घ्रा गन्धोपादाने[1309]	ल्यप्	गन्धमाघ्राय चोर्व्याः[1310]
अतिक्रम्य	अति उपसर्ग क्रमु पादविक्षेपे[1311]	ल्यप्	प्रबन्धानतिक्रम्य[1312]
विहाय	ओहाक् त्यागे[1313]	ल्यप्	द्वन्द्वभावं विहाय।[1314]
मुक्त्वा	मुच्लृ मोक्षणे[1315]	क्त्वा	मुक्त्वाकदम्बकुटजार्जुनसर्जनीपान्।[1316]

4.10.8 तद्धितान्त वैमानिक शब्द एवं कालिदासीय सन्दर्भ

प्राचीन भारत में विमान व्यवस्था थी या नहीं यह प्रश्न अनेक लोगों के द्वारा किया जाता है और वे इस प्रश्न का उत्तर शीघ्रता में नहीं कहकर दे देते हैं किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि भारत में विमानव्यवस्था न होती तो व्यास , वाल्मीकि , कालिदास आदि आचार्य विमानों का विवेचन शायद ही अपने ग्रन्थों में करते। किन्तु उन्होंने अपने ग्रन्थों में इन विमानों की चर्चा की है, इससे यह बात सिद्ध होती है कि भारत में विमानसम्बन्धी प्रणाली कोई अवश्य रही है, कोई भी कवि समाज में रहकर ही रचनायें करता है और साहित्य समाज का दर्पण होता है। कालिदास ने रघुवंश में वैमानिकाः [1317] शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है विमान से चलने वाले विमानैश्चरताम् इति वैमानिकानाम् यहाँ चरति[1318] सूत्र से ठक् प्रत्यय गति अर्थ में हुआ है, चर धातु का प्रयोग "खाना" तथा गति दोनों अर्थों में होता है –चर गतिभक्षणयोः।।चर गत्यर्थः। चरतिर्भक्षणेऽपि।[1319] अतः करणतृतीयान्त समर्थ पद से चरति के अर्थ में अर्थात् चलना और खाना– इनके कर्ता अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। विमाऩ –ठक् इस स्थिति में ठस्येकः[1320] इस सूत्रसे ठक् के स्थान में इक् आदेश होता है। विमाऩ –इक् इस स्थिति में

[1309] भ्वादि,धा०सं० 926,पृ०126
[1310] मे०दू०1.21,पृ० 30
[1311] भ्वादि,धा०सं० 473, पृ० 367
[1312] मा०वि०1,पृ० 569
[1313] जुहोत्यादि,धा०सं०1090,पृ० 182
[1314] ऋ०सं० 1.27,पृ० 5
[1315] तुदादि, धा०सं०1431,पृ०209
[1316] ऋ०सं० 3.13,पृ०10
[1317] वैमानिकाः पुण्यकृतस्त्यजन्तु मरुतां पथि।।र०वं०10.46 ,पृ० 94
वैमानिकानां मरुतामपश्यदाकृष्टलीलान्नरलोकपालान्।।र०वं० 6.1,पृ० 83
[1318] पा०सू० 4.4.8, पृ० 270
[1319] धातुसङ्ख्या–559, पृ० 369
[1320] पा०सू० 7.3.50,पृ० 236

"यस्येति च[1321] सूत्र से तद्धित प्रत्यय परे रहते विमान के नकार उत्तरवर्ती भसंज्ञक अकार का लोप हुआ। विमान्. इक् इस स्थिति में किति च[1322] सूत्र से आदि अच् को वृद्धि होती है– व् ऐ मान् –इक्– वैमानिक। इस प्रकार पाणिनि व्याकरण के अनुसार कालिदास प्रयुक्त वैमानिक शब्द निष्पन्न होता है।

4.10.9 तद्धितान्त पुत्रीया शब्द एवं शास्त्रीय सन्दर्भ

कालिदास ने रघुवंश में पुत्रीयाम् [1323] शब्द का प्रयोग किया है पुत्रीयाम् का अर्थ है पुत्रस्य निमित्ताम् (सन्तान के निमित्त) ऋषिलोग दशरथ के पुत्र के निमित्त यज्ञ कर रहे हैं अतः पुत्र का निमित्तसंयोग उपस्थित है यहाँ पुत्राच्छ च।[1324] षष्ठी समर्थ पुत्र शब्द से छ तथा यत् प्रत्यय होता है पुत्र के निमित्त संयोग वा उत्पात होने पर ।इस सूत्र से छ प्रत्यय हुआ है। आयनेयीनीयियः फढ़खछघां प्रत्ययादीनाम्।[1325] प्रत्यय के आदि के जो फ,ढ़, ख, छ तथा घ उनको यथासङ्ख्य आयन्, एय् ईन्, ईय् तथा इय् आदेश होता है। इस सूत्र से छ के स्थान में ईय् आदेश होकर स्त्रीलिङ्ग में पुत्रीया शब्द निष्पन्न होता है।

4.10.10 परस्मैपदी क्रीड् धातु का आत्मनेपद प्रयोग हेतु विशेष नियम एवं कालिदासीय सन्दर्भ

कालिदास ने संकीडन्ते का प्रयोग किया। संकीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र कन्याः।[1326] महर्षि पाणिनि ने यह नियम बनाया है कि भले ही कुछ धातुयें परस्मैपदी ही हों, या आत्मनेपदी ही हों किन्तु कुछ स्थितियों में उपसर्गादि के कारण परस्मैपदी धातुयें भी आत्मनेपदी हो जाती है तथा आत्मनेपदी धातुयें भी परस्मैपदी हो जाती हैं, यद्यपि क्रीड धातु परस्मैपदी है किन्तु पाणिनिसूत्र क्रीडानुसम्परिभ्यश्च[1327] के अनुसार अनु , सम्, परि उपसर्ग यदि पूर्व में हो तो क्रीड् धातु से आत्मनेपद होता है।

उपसंहार

चतुर्थ अध्याय में कालिदास के द्वारा उपमा आदि अलंकारों के माध्यम से प्रकट किये गये व्याकरणशास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन एवं पाणिनि के नियमानुसार कालिदासीय कृतियों में कृत्य प्रत्ययान्त, वर्तमानकालिक कृदन्त, भविष्यत्कालिक कृदन्त, भूतकालिक कृदन्त, कर्तृवाचक शब्दों का विवेचन किया गया है। कालिदास की कृतियों में व्याकरणशास्त्र

[1321] वही 6.4.148, पृ० 75
[1322] वही 7.2.118,पृ० 222
[1323] पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः।।र०वं० 10.4, पृ० 146
[1324] पा०सू० 5.1.39
[1325] पा०सू० 7.1.2
[1326] मे०दू० 2.6,
[1327] पा०सू० 1.3.21 पृ० 317

प्रकरण नामक इस अध्याय में व्याकरणशास्त्रीय सिद्धान्तों एवं कृदन्त शब्दों के विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास न केवल साहित्य शास्त्रीय सिद्धान्तों में निष्णात थे ,बल्कि व्याकरणशास्त्रीय सिद्धान्तों का भी उन्होंने गहन अध्ययन किया था। इसलिए उन्होंने उपमा आदि अलंकारों के माध्यम से विभिन्न स्थानों में व्याकरणशास्त्रीय सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। जैसे धातु के स्थान में आदेश, उपसर्ग , अपवाद आदि की सुन्दर उपमा उन्होंने दी है। अपनी कृतियों में विभिन्न शब्दों का निर्वचन उन्होंने स्वयं किया है जैसे अरिनिग्रहात् शत्रुघ्नः, रघु शब्द का गति अर्थ अर्थात् यह शास्त्रों के पार भी जायेगा और शत्रुओं के पार भी जायेगा। अर्थवान् खलु मे राजशब्दः इत्यादि। काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट की यह उक्ति सत्य ही है कि काव्य निर्माण के लिए शक्ति के साथ–साथ व्याकरणादि शास्त्रों में निपुणता और अभ्यास का होना आवश्यक है तभी कोई कवि अपनी कृतियों से कालिदास आदि के समान महान् बन सकता है।

पञ्चम अध्याय

कालिदासीय कृतियों में राजनीतिशास्त्र प्रकरण

5.1 राजनीति

प्राचीन भारत में राजशासन का अत्यधिक महत्त्व रहा है। राजाओं के अपने नियम–कानून और कर्त्तव्य थे। इन्हें ही राजधर्म कहा जाता था। प्राचीन भारत में राजनीति के लिए ही दण्डनीति शब्द का प्रयोग किया जाता था। आचार्य कौटिल्य चार विद्याओं को मानते हैं, आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति। इन तीनों आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता के योग और क्षेम का साधन दण्ड ही है। दण्ड की नीति अर्थात् यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र ही दण्डनीति कहलाता है। यह दण्डनीति ही अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति कराने वाली, प्राप्त पदार्थों की रक्षा करने वाली, सुरक्षित पदार्थों में वृद्धि करने वाली और वृद्धि को प्राप्त हुए पदार्थों को उचित स्थानों में लगाने वाली होती है। संसार का निर्वाह इसी के ऊपर निर्भर है। इसलिए संसार को ठीक–ठीक रास्ते पर चलाने की इच्छा रखने वाला राजा सदा उद्यत दण्ड रहे। क्योंकि दण्ड के अतिरिक्त इस प्रकार का और कोई साधन नहीं है जिससे सभी प्राणी शीघ्र अपने वश में हो सकें।[1328] प्राचीन भारतीय विचारकों का मानना था कि प्रभुसत्ता ही राज्य का आधार है, इसलिए वे बिना दण्ड के किसी प्रकार के राज्य की उपस्थिति में विश्वास नहीं रखते थे। दण्डनीति के समर्थक आचार्य मनु का कहना है कि जव सभी लोग सो रहे होते हैं तो दण्ड उनकी रक्षा करता है, उसी के भय से लोग न्याय का मार्ग अपनाते हैं।[1329] दण्डनीति को ही सरकार के सिद्धान्त (Principal of Government) नाम से भी जाना जाता है। राजनीति के अन्तर्गत राजा की सता, राजा के कर्त्तव्य, प्रजा के कर्त्तव्य, सामाजिकव्यवस्था, अन्तराज्यीय सम्बन्ध, मित्र और शत्रु राजा, उनकी विशेषताएँ , आयव्यय, कानून न्यायपद्धति आदि।

5.1.1 राजनीति में कूटनीति के साधन एवं कालिदासीय सन्दर्भ

राजा को दूसरे राज्यों के राजाओं से मित्रता करनी चाहिए, राज्यों का विकास परस्पर सहयोग की भावना से ही होता है, प्रत्येक राज्य के कोई शत्रु और कोई मित्र होते हैं। जहां एक ओर मित्र राजा सहयोग करते हैं वहीं दूसरी ओर शत्रु राजा राज्य को कमजोर करने की निरन्तर कोशिश करते हैं अतः राजा को यदि अपने मित्र और शत्रु को वश में करना है तो उसे चार प्रकार के उपायों का आश्रय लेना चाहिए। ये चार उपाय हैं साम, दाम, दण्ड और भेद। शुक्राचार्य का मत है मित्र और शत्रु राजाओं को सदैव अपने वश में रखना चाहिए, जैसे उपायों से उन्मत्त हाथी, वनराज सिंह, विषयुक्त सर्पों को वश में किया

[1328] चतस्र एव विद्या इति कौटिल्यः। आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः।। आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डः। तस्य नीतिर्दण्डनीतिः। अलब्धलाभार्था लब्धपरिरक्षणी रक्षितविवर्धिनी वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादनी च । तस्यामायत्ता लोकयात्रा । तस्माल्लोकयात्रार्थी नित्यमुद्यतदण्डः स्यात् । न ह्येवंविधं वशोपनयनमस्ति भूतानां यथा दण्ड इत्याचार्याः। अर्थ०शा० , विनयाधिकारिक, 1.2,4, पृ० 8,9,13

[1329] दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः। मनु० 7.18

जाता है उसी प्रकार उपाय का आश्रय लेने से राजा शत्रु और मित्र को भी वश में किया जा सकता है।[1330]

सामान्य अर्थ में राजनीति शब्द का अर्थ है राजाओं के द्वारा अपनायी जाने वाली नीतियाँ। नीतिपूर्वक शासन करने पर ही कोई राजा अपनी राजलक्ष्मी को समृद्ध बना सकता है और अपनी समृद्ध राजलक्ष्मी से ही प्रजा का उपकार करने में समर्थ होता है। रघुवंश में राजा दशरथ ने नीतिपूर्वक शासन के द्वारा ही अपने राज्य की समृद्धि को बढ़ाया और प्रजा का उपकार किया।[1331] जिस नीति में साम, दाम, दण्ड, भेद आदि अनेक विधा से राजा अपने राज्य का सञ्चालन करता है। कालिदास के शब्दों में राजनीति साम, दाम, दण्ड और भेद इन चार उपायों से शोभा देती है।[1332] मनु के अनुसार सभी आपतियाँ कोशक्षयादि एक साथ उपस्थित होने पर राजा अत्यधिक उद्विघ्न न हो बल्कि साम, दाम, दण्ड, भेद इन चारों उपायों का आश्रय लेकर आपतियों को दूर करने का प्रयास करे।[1333] महर्षि याज्ञवलक्य का मत है कि साम (प्रियभाषण), दान (सुवर्णादि उपहार देना), भेद (फूट डालना) और दण्ड (धनापहरण और आदि कर्म) ये चार उपाय हैं राजा को इनका उचित रूप से (देश, काल आदि के अनुसार) प्रयोग करने पर सफलता मिलती है और कोई उपाय न चलने पर ही दण्ड का आश्रय लेना चाहिए।[1334]

कवि ने रघुवंश में राजनीतिविषयक सुन्दर उपमा दी है। दशरथ के रामादि चारों पुत्रो के साथ उनकी सीतादि बहुओं की शोभा ऐसे ही हुई जैसे राजा के साम ,दाम ,दण्ड और भेद उपायों को सिद्धियाँ मिल गई हों।[1335] नीतिपूर्वक शासन करने वाला राजा ही श्रेष्ठ शासक की श्रेणी को प्राप्त करता है। नीति पूर्वक शासन करने से राजा प्रजा में लोकप्रिय बनता है। शत्रुओं से राज्य की सुरक्षा होती है। शुक्रनीति के अनुसार जिस प्रकार अपथ्य भोजन जो स्वास्थ्य के लिए लाभ दायक नहीं है उसका बारम्बार सेवन करने से कभी न कभी रोग पकड़ ही लेते है ऐसे ही नीतिविहीन राजा के शत्रु देर सबेर उत्पन्न होते ही

[1330] विनाशनीयास्ते सर्वे सामादिभिरुपक्रमैः।
मित्रं शत्रुं यथायोग्यैः कुर्यात् स्ववशवर्तिनम्।।शु०नी० 4.124–25

[1331] नयगुणोपचितामिव भूपतेः सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः।
अभिययुः सरसी मधुसम्भृतां कमलिनीमलिनीरपतत्रिणः।।र०वं० 9.27 ,पृ० 168

[1332] सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारैर्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगैरुपायैः।
हरिरिवयुगदीर्घैर्दोर्भिरंशैस्तदीयैः पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशे चर्तुर्भिः।।र०वं० 10.86

[1333] सह सर्वाः समुत्पन्नाः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम् ।
संयुक्तांश्च वियुक्तांश्च सर्वोपायान्सृजेद्बुधः।। मनु०7.214

[1334] उपायाः साम दानञ्च भेदो दण्डस्तथैव च।
सम्यक्प्रयुक्ताः सिद्धयेयुर्दण्डस्त्वगतिका गतिः।।याज्ञ० 1.346

[1335] ते चतुर्थसहितास्त्रयो बभुः सूनवो नववधूपरिग्रहाः।
सामदानविधिभेदनिग्रहाः सिद्धिमन्तः इव तस्य भूपतेः।।र०वं० 11.55

रहते हैं। जो भोजन स्वास्थ्य के लिए हितकारी सुपाच्य है उससे रोग उत्पन्न नहीं होते। ऐसे ही नीतिनिपुण राजा भी शत्रु विहीन होता है।[1336] कवि लिखते हैं नीति पूर्वक शासन करने से राजा की समृद्धि बढ़ती है जिससे वह प्रजा का उपकार करने में समर्थ होता है।[1337]

5.2 राज्य एवं कालिदासीय सन्दर्भ

5.2.1 मत्स्यन्याय

बिना राजा के किसी भी राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती हैं। जिस समाज में कोई शासन करने वाला शासक नहीं होता वह निश्चित ही नष्ट हो जाता है, अराजकता फैल जाती है, सभी मनमाना व्यवहार करने लगते हैं। कालिदास भी मानते हैं समाज में कुमार्ग पर चलने वाले लोगों पर अंकुश लगाने के लिए, प्रजा के परस्पर के विवादों को सुलझाने के लिए ,चोरों से रक्षा करने के लिए राजा की आवश्यकता होती है। जो राजा प्रतिदिन अपने सुख की अभिलाषा को छोड़कर सदैव प्रजा के हित के लिए ही प्रयत्न करता रहता है वह राजा तो उन वृक्षों के समान होता है जो स्वयं तीव्र गर्मी सहन करके भी अपनी छाया में बैठने वालों को सुखी करते हैं।[1338] यदि राजा अपराधियों को दण्ड नहीं देता है तो दुर्बल लोगों का बलवान् लोगों का शोषण करने लगते हैं।[1339] महाभारत में इसी तथ्य को संवाद शैली में प्रस्तुत किया गया है। महाभारत के अनुसार जैसे पानी में बलवान् मत्स्य दुर्बल मत्स्यों को अपना आहार बना लेते हैं, उसी प्रकार पूर्वकाल में राजा के न रहने पर प्रजा वर्ग में बलवान् लोग दुर्बल लोगों का शोषण कर रहे थे। तब सभी लोगों ने मिलकर यह नियम बनाया कि जो निष्ठुर भाषण करेगा, जो दूसरों का भयानक दण्ड देगा, जो पराये धन का हरण करेगा, जो दूसरे के परिवार का हरण करेगा, ऐसे व्यक्ति को देश से निकाल दिया जायेगा, किन्तु तब भी व्यवस्था में सुधार नहीं हुआ, तब प्रजा ने देखा हम लोग बिना राजा के नष्ट हो जायेगें तो ब्रह्मा से प्रार्थना की। ब्रह्मा ने प्रजा के पालन के लिए मनु को राजा बनाया।[1340] कौटिल्य भी इसी बात को कहते हैं कि जब

[1336] शत्रवो नीतिहीनानां यथाऽपथ्याशिनां गदाः।
सद्यः केचिच्च कालेन भवन्ति न भवन्ति च।।शु०नी० 1.13

[1337] नयगुणोपचितामिव भूपतेः सदुपकारफलां श्रियमर्थिनः।।र०वं० 9.27

[1338] स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पदपस्तीव्रमुष्णं शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्।।
नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय ।
अतनषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम् ।। अ०शा० 5.7,8 पृ० 498–499

[1339] यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्डेष्वतन्द्रितः।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यान् दुर्बलान्बलवत्तराः।।मनु०7.20, पृ०210

[1340] अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम् । परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान् ।।
समेत्य तास्ततश्चक्रु समयानिति नः श्रुतम् । वाक्शूरो दण्डपरुषो यश्च स्यात् पारजायिकः।।
यः परस्वमथादद्यात् त्याज्या नस्तादृशा इति। विश्वासार्थं च सर्वेषां वर्णानामविशेषतः।।
तास्तथा समयं कृत्वा समयेनावतस्थिरे। सहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्ताः पितामहम् ।
अनीश्वरा विनश्यामो भगवान्नीश्वरं दिश ।।यं पूजयेम सम्भूय यश्च नः प्रतिपालयेत् ।
ततो मनुं व्यादिदेश मनुर्नाभिननन्द ताः।।महाभा० महाभा० ,शान्तिपर्व, 67.17–21 ,पृ०4596

बलवान् लोग निर्बल लोगों को पीडित करने लगे, तब इस अन्याय से बचने के लिए प्रजा ने मिलकर विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना राजा नियुक्त किया।[1341]

5.2.2 राज्य की तीन शक्तियाँ एवं कालिदासीय सन्दर्भ

भारतीय राजनीति ग्रन्थों में हमें तीन प्रकार की शक्तियों की चर्चा प्राप्त होती हैं, प्रभु शक्ति, मन्त्र शक्ति और उत्साह शक्ति। इन तीन शक्तियों से युक्त राजा को शत्रु परास्त नहीं कर सकते, त्रिविध शक्ति से युक्त राजा सर्वत्र विजय को प्राप्त करता है। रघुवंश में राजा अतिथि की इन तीनों शक्तियों प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति को शत्रु लोग इनसे नहीं खींच सके। किन्तु जिस प्रकार चुम्बक लोहे को खींच लेता है उसी प्रकार राजा अतिथि ने शत्रुओं की इन तीनों शक्तियों को अपनी ओर खींच लिया अर्थात् राजा अतिथि ने मन्त्रशक्ति के द्वारा उनके गुप्त रहस्यों को जान लिया, प्रभुशक्ति से उनके प्रभाव को नष्ट कर दिया और उत्साह शक्ति से उनके उत्साह को नष्ट कर डाला।[1342]

आचार्य कौटिल्य के अनुसार तीन प्रकार की शक्तियों में ज्ञानबल ही मन्त्र शक्ति है, कोश और दण्ड(सेना) का बल प्रभुशक्ति है और विक्रमबल उत्साहशक्ति है। मन्त्रबल से होने वाली सिद्धि मन्त्रसिद्धि, प्रभुशक्ति से होने वाली सिद्धि को प्रभुसिद्धि और उत्साहशक्ति से होने वाली सिद्धि को उत्साहसिद्धि कहा जाता है। इन तीनों शक्तियों से युक्त हुआ राजा श्रेष्ठ कहलाता है और इसके विपरीत इन शक्तियों से रहित राजा अधम कहलाता है, बराबर शक्ति रखने वाला सम अर्थात् मध्यम कहलाता है। इसलिए राजा को शक्तिशाली बनने के लिए अपनी शक्ति और सिद्धि को बढ़ाने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए।[1343]

5.2.3 राज्य की प्रकृति एवं कालिदासीय सन्दर्भ

5.2.3.1 सप्ताङ्गसिद्धान्त

प्राचीन भारत में राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का अत्यन्त महत्त्व रहा है, प्राचीन भारतीय राजनीति के सिद्धान्त आज भी उतने ही उपयोगी है जितने की प्राचीनभारत में, जिन राजाओं ने नीतिपूर्वक शासन किया है वे हमेशा विजयी हुए। नीति को न जानने वाले राजा का अपने धूर्त मन्त्रियों या शत्रुओं द्वारा पतन हुआ। इसीलिए राजनीतिशास्त्र के

[1341] मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे ।।अर्थ० 1.12 पृ० 38

[1342] सर्पस्येव शिरोरत्नं नास्य शक्तित्रयं परः ।
स चकर्ष परस्मात्तदयस्कान्त इवायसम्।।र०वं० 17.63, पृ० 241

[1343] शक्तिस्त्रिविधा ज्ञानबलं मन्त्रशक्तिः। कोशदण्डबलं प्रभुशक्तिः। विक्रमबलमुत्साहशक्तिः। एवं सिद्धिस्त्रिविधेव। मन्त्रशक्तिसाध्या मन्त्रसिद्धिः। प्रभुशक्तिसाध्या प्रभुसिद्धिः।उत्साहशक्तिसाध्या उत्साहसिद्धिरिति। ताभिरभ्युचितो ज्यायान्भवति। अपचितो हीनः। तुल्यशक्तिः समः। तस्माच्छक्तिं सिद्धिञ्च घटेतात्मन्यावेशयितुम्।।अर्थशा० 6.2. 42–53,पृ०212

आचार्यों ने राजा को राजनीतिशास्त्र में पण्डित होने की सलाह दी है, इसी दृष्टि से उन आचार्यों ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है, इन्हीं ग्रन्थों में आचार्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र का अपना अलग ही वैशिष्ट्य ही है, जिसमें उन्होंने राजनीतिशास्त्र के सिद्धान्तों का विस्तार से विवेचन किया, इन्हीं सिद्धान्तों में उनका सप्तांग सिद्धान्त है जिसमें राज्य की सात प्रकृति है स्वामी, अमात्य, जनपद ,दुर्ग, कोश, दण्ड (सेना) और मित्र। प्राचीन भारत में राजनीति शास्त्र के आचार्यों ने मनुष्य शरीर के अंगों के समान ही राज्य की कल्पना की है, उसके भागों को अंग कहा है। इन सात अंगों से पूर्ण होने पर ही कोई राज्य राज्य कहलाने योग्य होता है। कालिदास ने राज्य के सात अङ्गों की चर्चा की है राजा दिलीप से वसिष्ठ ऋषि ने जब राज्य का कुशल क्षेम पूछा तो दिलीप ने उत्तर दिया कि आपके आशीर्वाद से मेरा राज्य अपने सातों अंगों से पूर्ण है।[1344] कामन्दक ने नीतिसार में सात अंगो से युक्त को राज्य की संज्ञा दी है। ये सात अंग हैं स्वामी, मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग , कोश, बल अर्थात् सेना, मित्र। उनका मानना है कि ये सातों अंग परस्पर में एक दूसरे के उपकारक है। ये सातों अंग मिलकर राज्य के हित में तथा उत्थान में कारण है। इनमें एक का भी अभाव होने पर राज्य ही अपूर्ण हो जाता है।[1345] शुक्रनीति भी कहती हैं कि राज्यरूपी शरीर के सात अङ्ग हैं स्वामी, अमात्य, मित्र ,कोश, राष्ट्र, दुर्ग और बल। राज्य के इन सप्त शरीराङ्गों में राजा अर्थात् स्वामी शिर है, मन्त्री चक्षु ,मित्र कर्ण, कोश मुख, बल मन, दुर्ग भुजाएँ और राष्ट्र पाद। इन सात अंगों में राजा का प्रमुख स्थान है।[1346] अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने राज्य के इन सात प्रकृतियों का विवेचन किया है। स्वामी , अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड (सेना) मित्र।[1347]

5.2.3.1.1 स्वामी (राजा)

राजा को सिर कहा गया है जैसे शिर के बिना धड़ का कोई अस्तित्व नहीं होता इसी प्रकार राजा के बिना भी राज्य का कोई अस्तित्व नहीं होता। अतः राजा सप्तांगों में प्रधान माना गया है। राजा और राजपद के विषय में कवि कालिदास मनु से अत्यन्त प्रभावित

[1344] उपपन्नं ननु शिवं सप्तस्वङ्गेषु यस्य मे।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम् ।।र०वं० 1.60

[1345] स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रञ्च दुर्गं कोशो बलं सुहृत्।
परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ।।का०नी० 4.1
एकाङ्गेनापि विकलमेतत् साधु न वर्त्तते।।का०नी० 4.2

[1346] स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च।
सप्ताङ्गमुच्यते राज्यं तत्र मूर्द्धा नृपः स्मृतः।।
दृगमात्यः सुहृच्छोत्रं मुखं कोशो बलं मनः।
हस्तौ पादौ दुर्गराष्ट्रौ राज्याङ्गानि स्मृतानि हि।। शु०नी०1.61–62

[1347] स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः।। अर्थशा० 6.1, पृ० 204

है।[1348] मनुस्मृति के सिद्धान्तों का विवेचन अपनी कृतियों में करते हैं। मनु ने वर्णाश्रम की रक्षा करना राजा का धर्म कहा है।[1349] राजा के न रहने से प्रजा में अराजकता फैल जाती है। जिससे प्रजा में चोरी, मनमाना आचरण, बलवानों के द्वारा निर्बल लोगों को पीडा पहुँचाना। इत्यादि दुर्गुणों के कारण प्रजा डर के कारण पलायन करना शुरु करती है। इसलिए ईश्वर ने प्रजा की रक्षा के लिए राजा को बनाया है।[1350]

कालिदास ने रघुवंशीय राजाओं के लिए अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है, जन्म से लेकर अन्त तक शुद्ध चरित्र वाले, किसी कार्य को प्रारम्भ किया तो उसे पूर्ण करके ही रुकने वाले, समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का शासन करने वाले, स्वर्ग तक अपना यश पताका फैहराने वाले, नियमानुसार यज्ञ करने वाले, अपनी प्रजा की इच्छाओं को पूर्ण करने वाले, अपराध के अनुसार दण्ड देने वाले, अवसरानुसार कार्य करने वाले, दान के लिए धन का संग्रह करने वाले, सत्यभाषी, कम बोलने वाले, यश के लिए शत्रुओं को जीतने वाले, संतान के निमित्त ही विवाह करने वाले, बाल्यावस्था से ही विद्याध्ययन करने वाले, यौवन में विषयों का सेवन करने वाले, वृद्धावस्था में मुनियों की वृत्ति के अनुसार जीवन यापन करने वाले, अन्त में योग द्वारा शरीर को शान्त करने वाले, कालिदास ने इन रघुवंशीय राजाओं के विवेचन के माध्यम से एक आदर्श राजा के गुणों को ही प्रकट किया है।[1351]

रघुवंश में राजा अतिथि प्रसन्नमुख, सभी से मुस्कराते हुए बात करने के कारण ही उनके सेवक उन्हें विश्वास की मूर्ति मानते थे।[1352]

5.2.3.1.1.1 राजा के आभिगामिकगुण

[1348] मनुप्रभृतिभिर्मान्यैर्भुक्ता यद्यपि राज्यभिः।
तथाऽप्यनन्यपूर्वेव तस्मिन्नासीद्वसुन्धरा ।।र०वं० 4.7
उभयमेव वदन्ति मनीषिणः समयवर्षितया कृतकर्मणाम् ।
बलनिषूदनमर्थपतिञ्च तं श्रमनुदं मनुदण्डधरान्वयम् ।।र०वं०9.3
मनुवंशकेतुम् ।।र०वं०2.33
रेखामात्रमपि क्षुण्णादामनोर्वर्त्मनः परम् ।।र०वं० 1.17

[1349] नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।। र०वं० 14.67

[1350] अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात् ।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः।।मनु०7.3

[1351] सोऽहमाजन्मशुद्धानाम् आफलोदयकर्मणाम् ।आसमुद्रक्षितीशानाम् आनाकरथवर्त्मनाम् ।।
यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ।।
त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ।।
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम् ।वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम् ।।
र०वं० 1.5–8, पृ०103

[1352] प्रसन्नमुखरागं तं स्मितपूर्वाभिभाषिणम् ।
मूर्तिमन्तममन्यन्त विश्वासमनुजीविनः।।र०वं० 17.31,पृ०238

कौटिल्य के अनुसार राजा महाकुलीन, भाग्यशाली, मेधावी, धैर्यशाली, दूरदर्शी, धार्मिक, सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ, कृतज्ञ, महादानी, उत्साही, किसी कार्य को शीघ्र ही सोचकर पूरा करने वाला, समीप के राष्ट्रों को वश में करने वाला, दृढ़निश्चयी, गुणी परिवार वाला, विनयकाम अर्थात् शास्त्रमर्यादा को चाहने वाला ये 16 राजा के आभिगामिकगुण हैं।[1353]

5.2.3.1.1.2 राजा की प्रज्ञा के गुण

शास्त्र सुनने की इच्छा रखने वाला, शास्त्रज्ञान, प्रत्येक बात को समझने वाला, समझी हुई बातों को याद रखने वाला, किसी के विषय में विशेष ज्ञान रखने वाला, किसी भी बात की वास्तविकता जानने के लिए तर्क करने वाला, दुष्ट पक्ष को त्यागने वाला, गुणियों के पक्ष को रखने वाला ये राजा की प्रज्ञा के आठ गुण हैं।

5.2.3.1.1.3 राजा के उत्साहगुण

शौर्य (निर्भीकता), अमर्ष (पापाचरण को क्षमा न करना), शीघ् कार्य को पूर्ण करने वाला और प्रत्येक कार्य में चतुर होना ये राजा के चार उत्साहगुण कहलाते हैं।[1354]

5.2.3.1.1.4 राजा की आत्मसम्पन्नता

राजा अर्थपूर्ण भाषण करने में समर्थ, सभा आदि में बोलते हुए कम्प आदि से रहित, स्मृति, मति तथा बल से युक्त, उन्नतचित्त, संयमी, हाथी, घोड़े आदि चलाने में निपुण, शत्रु की विपत्ति में चढ़ाई करने वाला, अपनी विपत्ति में सेना की रक्षा की रक्षा करने वाला, किसी के द्वारा उपकार या अपकार किये जाने पर शास्त्र के अनुसार प्रतीकार करने वाला, लज्जाशील, दुर्भिक्ष और सुभिक्ष में धान्य आदि का ठीक–ठीक प्रयोग करने वाला, दीर्घलक्ष्य और दूर की सोचने वाला, अपनी सेना के युद्ध उचित देशकाल उत्साहशक्ति तथा कार्य को प्रधानतया देखने वाला, सन्धि के प्रयोग को समझने वाला, प्रकाशयुद्ध आदि करने में चतुर, सुपात्र को दान देने वाला, प्रजा को कष्ट न पहुँचाकर ही गुप्तरूप से कोश को बढ़ाने वाला, शत्रु के अन्दर मृगयाद्यूत आदि व्यसनों को देखकर उस पर तीक्ष्ण रस आदि का प्रयोग करने में चतुर, अपने मन्त्र को गुप्त रखने वाला, दीन हीन पुरुषों की

[1353] तत्र स्वामिसम्पत् । महाकुलीनो दैवबुद्धिःसत्त्वसम्पन्नो वृद्धदर्शी धार्मिकः सत्यवाग् अविसंवादकः कृतज्ञः स्थूललक्षो महोत्साहोऽदीर्घसूत्रः शक्यसामन्तो दृढबुद्धिरक्षुद्रपरिषत्को विनयकाम इत्याभिगामिका गुणाः।। अर्थशा० 6. 2–3, पृ० 204

[1354] शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञान –ऊहापोहतत्त्वाभिनिवेशाः प्रज्ञागुणाः।शौर्यममर्षः शीघ्रता दाक्ष्यं चोत्साहगुणाः।। अर्थशा० 6.5, पृ० 204

हंसी न उड़ाने वाला, टेडी भौं न करके देखने वाला, काम ,क्रोध, लोभ, मोह, चपलता, उपताप और पैशुन्य अर्थात् चुगलखोरी इनसे सदा अलग रहने वाला, प्रिय बोलने वाला, हंसमुख तथा उदार भाषण करने वाला, वृद्धों के उपदेश तथा आचार को मानने वाला राजा को होना चाहिए। इन गुणों से युक्त राजा आत्मसम्पन्न कहलाता है।[1355]

5.2.3.1.1.5 राजा का देवत्व एवं कालिदासीय सन्दर्भ

कवि कालिदास राजा को सामान्य व्यक्ति नहीं मानते अपितु यह स्वीकार करते हैं कि राजा को आठ लोकपालों का तेज प्राप्त होता है। रानी सुदक्षिणा ने आठ लोकपालों के अंश से युक्त गर्भ को धारण किया।[1356] मनु कहते हैं इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर के सारभूत अंशों को लेकर ही ईश्वर ने राजा की सृष्टि की है।[1357] शक्तिसम्पन्न राजा इन देवों के अंशो द्वारा निर्मित होने से शक्ति आदि में सामान्य व्यक्तियों से श्रेष्ठ होता है।[1358] जिन लोकपालों की शक्ति राजा को जन्म से प्राप्त होती है। वे लोकपाल राजा की सहायता करते है। कवि लिखते हैं इन्द्र राजा के राज्य में वर्षा करते हैं, यमराज रोगों को बढ़ने से रोकते हैं। वरुण नाविकों के लिए जलमार्ग खोल देते हैं। कुबेर राजा के राजकोष को भर देता है।[1359] शुक्रनीति के अनुसार जैसे इन्द्र अपने तपोबल से चराचर जगत् का स्वामी बनकर उनके अंशों का उपभोग करता है उसी प्रकार राजा भी प्रजापालक बनकर प्रजा से कर ग्रहण करता है। गन्ध का प्रेरक जैसे वायु होता है उसी प्रकार प्रजा के अच्छे बुरे कर्मों का प्रेरक राजा होता है। सूर्य जैसे अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार राजा अन्याय को नष्ट करता है। यमराज जैसे कुत्सित कर्म करने वालों को दण्ड देता है उसी प्रकार राजा प्रजा को पीडित करने वाले लोगों को दण्ड देता है। अग्नि जैसे देव अंश को ग्रहण करता है उसी प्रकार राजा प्रजा से कर ग्रहण करता है। वरुण जैसे जल से समस्त सृष्टि को पुष्ट करता है उसी प्रकार राजा धन से समस्त प्रजा का पालन करता है। चन्द्रमा जैसे अपनी शीतल किरणों से संसार

[1355] वाग्मी प्रगल्भः स्मृतिमतिबलवान् उदग्रः स्ङवग्रहः कृतशिल्पोऽव्यसने दण्डनाय्युपकारापकारयोर्दृष्टप्रतीकारी ह्रीमान् आपत्प्रकृत्योर्विनियोक्ता दीर्घदूरदर्शी देशकालपुरुषकारकार्यप्रधानः सन्धिविक्रमत्यागसंयमपणपरच्छिद्रविभागी संवृतोऽदीनाभिहास्यजिह्मभ्रुकुटीक्षणः कामक्रोधलोभस्तम्भचापलोपतापपैशुन्यहीनः शक्लः स्मितोदग्राभिभाषी वृद्धोपदेशाचार इत्यात्मसम्पत् ।। अर्थशा० 6.6, पृ० 205

[1356] नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधतराज्ञी गुरुभिरभिनिविष्टं लोकापालानुभावैः।।र०वं०2.75
सुरेन्द्रमात्राश्रितगर्भगौरवात् प्रयत्नमुक्तासनया गृहागतः।।र०वं० 3.11

[1357] इन्द्रानिलयमर्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः।।मनु०7.4

[1358] यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा।।मनु० 7.5

[1359] इन्द्राद्वृष्टिर्नियमितगदोद्रेकवृत्तिर्यमोऽभूत् ।यादो नाथः शिवजलपथः कर्मणे नौचराणाम् ।
पूर्वापेक्षी तदनु विदधे कोषवृद्धिं कुबेरःतस्मिन्दण्डोपनतचरित भेजिरे लोकपालाः।।र०वं० 17.81

को आह्लादित करता है उसी प्रकार राजा अपने गुण और कर्म से समस्त प्रजा को आनन्दित करता है। कोश संरक्षण में चतुर राजा कुबेर की तरह प्रचुर धनवाला होता है। उसी को देवांश से उत्पन्न मानना चाहिए जिसमें ये निम्नलिखित गुण हों। जो राजा अपने दुर्गुणों को दूर करता है, दूसरों के द्वारा की गई आलोचना को सुनकर सहन कर लेता है, अपनी प्रजा को दान–मान और सम्मान देकर उन्हें सदैव प्रसन्न रखता है जितेन्द्रिय ,शस्त्रास्त्र संचालन में निपुण, शत्रुसंहारक, आत्मसंयमी, मेधावी,दुष्टसंसर्गहीन, दूर दृष्टि वाला, ज्ञान विज्ञान से युक्त, वृद्धोपासक, नीतिज्ञाता, गुणवानों द्वारा उपासित राजा देवता के अंश से उत्पन्न होता है।[1360]

5.2.3.1.1.6 नीतिनिपुण राजा एवं कालिदासीय सन्दर्भ

किसी भी राष्ट्र की उन्नति में राजा का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। अतः राजा का शिक्षित होना अनिवार्य है। कालिदास का यह मत है कि यदि राजा केवल नीति का आश्रय लेता है तो वह कायरता है और यदि केवल नीतिहीन पराक्रम दिखाता है तो वह श्वचेष्टा मानी जाती है। इसलिए राजा को नीतिज्ञ के साथ–साथ पराक्रमी होना चाहिए।[1361] राजा को शास्त्र और शस्त्र इन दोनों में ही निष्णात होना चाहिए, राजा दिलीप के राज्य में उनकी सेना तो उपकरण मात्र बन गयी थी। क्योंकि एक ओर जहाँ राजा दिलीप शास्त्रों में निष्णात थे तो वहीं दूसरी ओर धनुष चलाने में भी पारङ्गत थे। उनके कार्य तो उनकी तीक्ष्ण बुद्धि और धनुष पर चढ़ी डोरी इन दोनों से ही सम्पन्न हो जाते थे।[1362] राजा दिलीप विचारों को गुप्त रखने वाले थे लोगों को उनके साम, दाम,

---

[1360] जङ्गमस्थावराणाञ्च हीशः स्वतपसा भवेत् ।
भागभाग्रक्षणे दक्षो यथेन्द्रो नृपतिस्तथा।
वायुर्गन्धस्य सदसत्कर्मणः प्रेरको नृपः।।
दुष्कर्मदण्डको राजा यमः स्याद् दण्डकृत् यमः।
अग्निः शुचिस्तथा राजा रक्षार्थं सर्वभागभुक्।।
पुष्यत्यपां रसैः सर्वं वरुणः स्वधनैर्नृपः।
करैश्चन्द्रो ह्लादयति राजा स्वगुणकर्मभिः।।
कोशानां रक्षणे दक्षः स्यान्निधीनां धनाधिपः।
चन्द्रो यथा विना सर्वैरंशैर्नो भाति भूपतिः।।
स्वान् दुर्गुणान् परित्यज्य ह्यतिवादांस्तितिक्षते।
दानैर्मानैश्च सत्कारैःस्वप्रजारञ्जकः सदा।
दान्तः शूरश्च शस्त्रास्त्रकुशलोऽरिनिषूदनः।
अस्वतन्त्रश्च मेधावी ज्ञानविज्ञानसंयुतः।
नीचहीनो दीर्घदर्शी वृद्धसेवी सुनीतियुक्।
गुणिजुष्टस्तु यो राजा स ज्ञेयो देवतांशकः।। शु०नी०1.73–77,1.84–86

[1361] कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम् ।
अतः सिद्धिं समेताभ्यामुभाभ्यामन्वियेष सः।।र०वं० 17.47 पृ० 240

[1362] सेना परिच्छस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् । शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता।। र०व० 1.19

दण्ड, भेद आदि उपायों का अच्छी प्रकार प्रयोग करने का पता तब चलता था जब वह कार्य पूर्ण हो जाता था।[1363]

याज्ञवल्क्य कहते हैं कि राज्यकार्य का मुख्य आधार मन्त्र (मन्त्रणा, गुप्त, परामर्श,) है। अत एव मन्त्र को इस प्रकार गुप्त रखे कि राजा के कर्मों (सन्धि, विग्रह, आदि) के फलीभूत होने के पूर्व उसकी जानकारी किसी को न मिल सके।[1364] आचार्य चाणक्य के अनुसार मन से चिन्तित कार्य का वाणी से प्रकाशन नहीं करना चाहिए। उस कार्य को मन्त्र की तरह गोपनीय रखकर उसकी सिद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि पहले ही किसी कार्य का वर्णन करने से उस में विघ्न आने की सम्भावनायें बढ़ जाती है।[1365] कालिदास का यह दृढ़ विश्वास था कि यदि कोई राजा शास्त्र के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से चलता है तो वह अवश्य सम्राट् की उपाधि को प्राप्त करता है।[1366]

5.2.3.1.1.7 राजा की पात्रता एवं कालिदासीय सन्दर्भ

कालिदास अग्रजन्मा से अधिक गुणवान् को राजपद का अधिकारी मानते हैं।[1367] राजा बनने का अधिकारी वही होता है जो विनम्र होता है। राजा दिलीप ने अपने पुत्र को इसलिए युवराज बनाया क्योंकि वह स्वभाव से विनयी तो था ही शिक्षासंस्कार से अत्यधिक विनयशील हो गया था।[1368] आचार्य कामन्दक का मत है कि राजा के पुत्र हाथी के समान निरङ्कुश होते हैं इसलिए राजा का कर्त्तव्य है कि विनयशील को ही युवराज बनाये अन्यथा अविनयी राजा के कारण राज्य नष्ट हो जाता है।[1369]

आचार्य कौटिल्य का मत है कि जैसे घुण लकड़ी पर लगने पर सम्पूर्ण लकड़ी को नष्ट कर देता है इसी प्रकार उदण्ड राजा का पुत्र सम्पूर्ण राज्य को ही नष्ट कर देता है। इसलिए राजा जब सन्तान की कामना करे तो गर्भावस्था के संस्कारों का तथा सन्तान की उत्पत्ति के बाद जातकर्मादि संस्कारों का विशेष ध्यान रखे। क्योंकि संस्कारों का विधिपूर्वक सम्पन्न करने पर विनय की प्राप्ति होती है।[1370] आचार्य कोटिल्य कहते हैं

[1363] तस्य संवृतमन्त्रस्य गूढ़ाकारेङ्गितस्य च। फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव।।र०वं०1.20

[1364] मन्त्रमूलं यतो राज्यं तस्मान्मन्त्रं सुरक्षितम्। कुर्याद्यथाऽस्य न विदुः कर्मणामाफलोदयात् ।।याज्ञ० 1.344

[1365] मनसा चिन्तितं कार्यं वाचा नैव प्रकाशयेत्।मन्त्रेण रक्षयेद् गूढं कार्ये चापि नियोजयेत्।।चा०नी० 2.7

[1366] एवमुद्यन्प्रभावेण शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना।वृषेव देवो देवानां राज्ञा राजा बभूव सः।।र०वं० 17.77,पृ० 167

[1367] ज्येष्ठ पुराजन्मतया गुणाश्च।।र०वं० 16.1

[1368] निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक्।। र०वं० 3.35

[1369] विनयोपग्रहान् भूत्यै कुर्वीत नृपतिः सुतान्। अविनीतकुमारं हि कुलमाशु विशीर्यते ।
विनीतमौरसं पुत्रं यौवराज्येऽभिषेचयत् ।।का०नी० 7.5–6

[1370] काष्ठमिव घुणजग्धं राजकुलमविनीतपुत्रमभियुक्तमात्रं भज्यते । तस्मादृतुमत्यामृत्विजश्चरुमैन्द्राबार्हस्पत्यं निर्वपेयुः । आपन्नसत्वायां कौमारभृत्या गर्भमर्मणि प्रसवे च विधीयमाने प्रजातायाः पुत्रसंस्कारं पुरोहितः कुर्यात् । समग्र तद्विदः विनयेयुरिति ।। अ०शा० 1.17.13

विनय दो प्रकार का होता है स्वाभाविक और कृतक।[1371] स्वाभाविक विनय की प्राप्ति जन्मान्तर संस्कार से प्राप्त होती है और कृतक विनय ज्ञानवृद्ध आचार्यों की सेवा से ,शास्त्र श्रवण आदि से प्राप्त होता है। कवि कालिदास कहते हैं कि राजा दशरथ के चारों पुत्रों स्वभाव से ही विनम्र है किन्तु शिक्षा के द्वारा तो उनकी विनयशीलता वैसे ही बढ़ गई जैसे अग्नि में घी डालने से यज्ञाग्नि और तीव्र हो जाती है।[1372]

विनयी राजा की आयु, विद्या, यश और बल में निरन्तर वृद्धि होती है। मनु भी कहते है जो अभिवादनशील व्यक्ति जो नित्य ही ज्ञानवृद्धों की सेवा करता है, उसकी चार चीजें बढ़ती हैं। आयु, विद्या, यश और बल।[1373] संगति का हमारे जीवन में अत्यधिक महत्त्व होता है, रघुवंश में कालिदास ने राजा ध्रुव के छः वर्ष के वालक सुदर्शन के विषय में कहा कि अभी वह वालक अक्षर लिखना भी नहीं जानता था किन्तु ज्ञानवृद्धों की संगति से दण्डनीति अर्थात् राजनीति में वह निष्णात हो गया।[1374]

विनयशील होते हुए भी राजा को उन ज्ञानवृद्धों से हमेशा विनय का उपदेश ग्रहण करना चाहिए क्योंकि विनीत स्वभाव वाला राजा कभी विनष्ट नहीं होता। अविनय के कारण ही बहुत से राजा साधनसम्पन्न होते हुए भी नष्ट हो गए तथा विनय के कारण वन में स्थित भी उन्होंने राज्यों को प्राप्त कर लिया।[1375]

अतः राजा का विनयी होना आवश्यक है। शुक्रनीति के अनुसार राजा को शास्त्र अध्ययन हेतु गुरु के समीप जाना चाहिए। गुरुसंयोग से शास्त्र की प्राप्ति होगी, शास्त्रज्ञान से विनय में वृद्धि होती है और विद्याविनीत राजा सज्जनों का प्रिय होता है।[1376] नीति की जड़ विनय है शास्त्र का ज्ञाता व्यक्ति विनयी होता है। विनय का उपक्रम इन्द्रियों पर विजय पाना है, जितेन्द्रिय व्यक्ति ही शास्त्र का जानकर हो सकता है। अतः राजा

[1371] कृतकः स्वभाविकश्च विनयः।क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्।
शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहापोहतत्वाभिनिविष्टबुद्धिं विद्या विनयति नेतरम्। विद्यानां तु यथास्वमाचार्यप्रामाण्याद्विनयो नियमश्च।।अ०शा०

[1372] स्वाभाविकं विनितत्त्वं तेषां विनयकर्मणा ।
मुमूर्च्छ सहजं तेजो हविषेव हविर्भुजाम् ।।र०वं० 10.80

[1373] अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ।।मनु० 2.121

[1374] न्यस्ताक्षरामक्षरभूमिकायां कात्स्न्र्येन गृहणाति लिपिं न यावत् ।
सर्वाणि तावच्छ्रुतवृद्धयोगात् फलान्युपायुङ्क्त स दण्डनीतेः।।र०वं० 18.46,पृ० 173

[1375] तेभ्योऽधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः।
विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कर्हिचित्
बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे।।मनु०7.39–40

[1376] शास्त्राय गुरुसंयोगः शास्त्रं विनयवृद्धये ।
विद्याविनीतो नृपतिः सतां भवति सम्मतः।।शु०नी० 1.148

सर्वप्रथम अपने को विनयी बनाये।[1377] एक विनयी राजा ही अपनी प्रजा को विनय की शिक्षा दे सकता है, दिलीप स्वयं विनम्र है इसलिए उन्होंने जो ज्ञान अपने आचार्यों से प्राप्त किया था उसी के उपदेश से अपनी प्रजा को भी विनम्र बना दिया।[1378]

5.2.3.1.1.8 राजा का स्वभाव एवं कालिदासीय सन्दर्भ

कालिदास का मत है कि सर्वप्रथम राजा को स्वस्थ शरीर वाला होना चाहिए। क्योंकि स्वस्थ राजा ही प्रजा की रक्षा करने में समर्थ होता है।[1379] राजा को साहसी तथा अपनी रक्षा करने में समर्थ होना चाहिए।[1380] कालिदास का मत है कि राजा का स्वभाव वृक्षों के समान होना चाहिए। जैसे वृक्ष अपने ऊपर गर्मी सहन करते हैं किन्तु अपनी शरण में आये हुए लोगों को छाया प्रदान करते हैं, उसी प्रकार राजा अपने सुख की अभिलाषा छोड़कर अपनी प्रजा की भलाई में लगा रहे।[1381] मनु कहते हैं कि राजा को अपनी प्रजा में न्याय के अनुसार आचरण करने वाला, शत्रुओं में दण्ड का प्रयोग करने वाला, स्नेही मित्रों में सरल व्यवहार करने वाला और क्षमाशील होना चाहिए।[1382]

वह धर्मशास्त्रों कानून और अन्य अनेक विद्याओं में निष्णात होना चाहिए।[1383] ताकि वह अपनी प्रजा के साथ उचित न्याय कर सके। इसलिए उसे शिक्षा ग्रहण करने के लिए उसे बाल्यकाल से ही अभ्यास करना चाहिए।[1384] मनु के अनुसार राजा को वेदत्रयी के जानने वालों से त्रयीविद्या को तथा हमेशा प्रयोग की जाने वाली दण्डनीति को, तर्कशास्त्र को एवं आत्मविद्या को तथा लोक से कृषि व्यापार आदि से सम्बन्धित सिद्धान्तों को ग्रहण करना चाहिए।[1385] उसे इन्द्रियों को जीतने का प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि जितेन्द्रिय राजा ही प्रजा को वश में रखने में समर्थ होता है।[1386] राजा स्वानुशासनशील हो, पापकर्म

[1377] नयस्य विनयो मूलं विनयः शास्त्र निश्चयात्।
विनयस्येन्द्रियजयस्तद्युक्तः शास्त्रमृच्छति ।।
आत्मानं प्रथमं राजा विनयेनोपपादयेत् ।।शु०नी०1.92–93

[1378] प्रजानां विनयाधानाद् ।।र०वं० 1.24 , पृ० 4

[1379] आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्त्रों धर्म इवाश्रितः।।र०वं० 1.13, भेजे धर्ममनातुरः।। र०वं०1.21

[1380] जुगोपात्मानमत्रस्तो ।।र०वं० 1.21

[1381] स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्घ्ना पादपस्तीव्रमुष्णं शमयति परितापं छायया संश्रितानाम् ।। अ०शा० 5.7

[1382] स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद्भृशदण्डश्च शत्रुषु।
सुहृत्स्वजिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः।।मनु० 7.32

[1383] शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिः।।र०वं०1.19, विद्यानां पारदृश्वनः।।र०वं०1.23

[1384] शैशवेऽभ्यस्तविद्यानाम्।।र०वं० 1.8

[1385] त्रेविद्येभ्यस्त्रयी विद्यां दण्डनीतिञ्च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भांश्च लोकतः।।मनु०7.43

[1386] इन्द्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशम्।
जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः।।मनु०7.44

से अपनी इन्द्रियों को दूर रखे।[1387] राजा को राजकार्य में विधि को जानने वाला होना चाहिए, कहाँ किस प्रकार से संवाद करना है, कहाँ किस प्रकार का वक्तव्य अपेक्षित है इत्यादि।[1388]

कालिदास लिखते हैं महाराज दशरथ को आखेट का व्यसन, जुए का खेल, मदिरा, विषयभोग ये चारों ही न लुभा सके।[1389] मनु ने इन चारों को कामज तथा अतिशय दोषत्व के कारण दुःखमय कहा है।[1390] इसीलिए राजा को विषय और विषयी पुरुषों के संग से सदा दूर रहना चाहिए।[1391] व्यसन और मृत्यु में व्यसन को अत्यधिक कष्टकारक कहा गया है।[1392] क्योंकि विषयी व्यसनी लोगों की सङ्गति से दुर्गुण आ जाते हैं। जिससे राजा प्रजा के रक्षाधर्म को छोड़कर प्रजा का धन व्यसनों में नष्ट कर देता है। जिससे राष्ट्र की अवनति प्रारम्भ हो जाती है अतः राजा को विषय और विषयी लोगों की सङ्गति का त्याग करना चाहिए।[1393]

रघुवंश में महाराज अतिथि ने देखा कि बाहरी शत्रु तो कभी है और कभी नहीं हैं यदि हैं भी तो वे दूर हैं। किन्तु छः बलवान् शत्रु तो हमारे अन्दर ही हैं इसलिए पहले उन्होंने इन्हीं छः शत्रुओं (काम ,क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर) को जीत लिया।[1394]

आचार्य कौटिल्य का मत है कि काम, क्रोध , लोभ , मान , मद और हर्ष के त्याग से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना चाहिए, इन्द्रियों पर विजय ही विद्या और विनय का हेतु हैं, इन्दियों का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध विषयों में प्रवृत्त न होना ही इन्द्रियजय है। जो भी राजा इन छः शत्रुओं के वश में हुआ वह बन्धु बान्धवों के सहित नाश को प्राप्त हो गया। इसलिए राजा को काम, क्रोध आदि छः शत्रुओं का सर्वथा परित्याग करके इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना चाहिए। जिन राजाओं इन आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त की है उन लोगों ने दीर्घकाल तक पृथ्वी का उपभोग किया।[1395]

[1387] एनोनिवृत्तेन्द्रियवृत्तिरेनं जगाद भूयो जगदेकनाथः।।र०वं०5.23

[1388] तमर्चयित्वा विधिवद्विधिज्ञस्तपोवनं मानधनाग्रयायी।
विशाम्पतिर्विष्टरभाजमारात्कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच।। र०वं०5.3

[1389] न मृगयारतिर्न दुरोदरं न च शशिप्रतिमाभरणं मधु।
तमुदयाय न वा नवयौवना प्रियतमा यतमानमपाहरत्।।र०वं०9.7

[1390] पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत्कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे।।मनु०7.50

[1391] अनाकृष्टस्य विषयैः।।र०वं०1.23

[1392] व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।।मनु०7.53

[1393] यो हीनसंसर्गपराङ्मुखत्वाद् युवाऽप्यनर्थैर्व्यसनैर्विहीनः।।र०वं० 18.14

[1394] अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः ।
अतः सोऽभ्यन्तरान्नित्यान् षट्पूर्वमजयद्रिपून् ।।र०वं० 17.45,पृ० 164

[1395]विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजयःकामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागात्कार्यः।कर्णत्वगाक्षिजिह्वाघ्राणेन्द्रियाणां शब्दस्पर्शरूपरसगन्धेष्वविप्रत्तिपत्तिरिन्द्रियजयः।।एते चान्ये च बहवः शत्रुषड्वर्गमाश्रिताः।

शुक्रनीति में कहा गया है कि वासना के जंगल में इन्द्रियरूपी दुर्दान्त हाथी सदैव मथने के लिए तैयार रहता है अतः राजा का कर्त्तव्य है कि अपने ज्ञानरूपी अंकुश से इस इन्द्रिय रूपी दुर्दान्त हाथी को वश में करे।[1396] कालिदास ने रघुवंश में इन्द्रिय के भोगों में आसक्त तथा प्रशासन के कार्य से विमुख राजा अग्निवर्ण का वर्णन किया है।[1397] मनु कहते हैं इन्द्रियाँ के वश में रहने वाले राजा का यश तो इस संसार में जल में डाली गई घी की बूँद के समान एक जगह इकट्ठा होकर के ही रह जाता है। कभी भी उसकी यश की पताका का विस्तार नहीं होता है।[1398]

वासना के कारण ही मन सदा इन्द्रियों को प्रेरित करता है। अतः इसे प्रयत्न पूर्वक रोकना चाहिए। मन को वशीभूत करने वाला ही जितेन्द्रिय कहा जाता है। जो राजा अपने मन को ही नहीं जीत सकता वह समुद्र पर्यन्त पृथिवी को कैसे जीत सकता है।[1399] शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँचों में एक–एक ही मनुष्य के विनाश के लिए पर्याप्त है।[1400] अतः शास्त्रचिन्तन के बाद अपने मन को नियन्त्रित कर संसार और संसार से परे सुख पाने की इच्छा से राजा को यथोचित आचरण करना चाहिए।[1401] कवि राजा के दो प्रकार के गुणों की चर्चा करते हैं कठोर गुण तथा कान्तगुण। राजा का कठोर गुण अर्थात् यदि पुत्र भी अपराध करे तो उसे भी युक्तदण्ड देना चाहिए। कान्तगुण दयालु, उदारादि हैं।[1402]

5.2.3.1.1.9 राजाका कर्त्तव्य एवं कालिदासीय सन्दर्भ

कालिदास ने स्पष्ट कहा कि राजा का कर्त्तव्य है वह अपनी प्रजा को विनयी बनाये ,उसकी रक्षा करे, उनका भरण पोषण उसी प्रकार करे जिस प्रकार एक पिता अपनी

सबन्धुराष्ट्रा राजानो विनेशुरजितेन्द्रियाः।। शत्रुषड्वर्गमुत्सृज्य जामदग्न्यो जितेन्द्रियः।
अम्बरीषश्च नाभागो बुभुजाते चिरं महीम् ।।अर्थशा० 1.6.1–2,14,15, पृ०16,18
तस्मादरिषड्वर्गत्यागेनेन्द्रियजयं कुर्यात्।। अर्थशा० 1.7.1,पृ०18

[1396] प्रकीर्णविषयारण्ये धावन्तं विप्रमाथनम् ।
ज्ञानाङ्कुशेन कुर्वीत वशमिन्द्रियदन्तिनम्।।शु०नी० 1.98

[1397] एवमिन्द्रियसुखानि निर्विशन् अन्यकार्यविमुखः स पार्थिवः।। रघु० 19.47

[1398] अतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः ।
संक्षिप्यते यशो लोके घृतबिन्दुरिवाम्भसि ।। मनु० 7.34

[1399] विषयामिषलोभेन मनः प्रेरयतीन्द्रियम् ।
तन्निरुध्यात् प्रयत्नेन जिते तस्मिन् जितेन्द्रियः।
एकस्यैव हि योऽशक्तो मनसः सन्निवर्हणे
महीं सागरपर्यन्तां सः कथं ह्यवजेष्यति।। शु०नी०1.99–100

[1400] शब्दः स्पर्शञ्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः।
एकैकस्त्वलमेतेषां विनाशप्रतिपत्तये ।। शु०नी० 1.102

[1401] दृष्ट्वा शास्त्राण्यतश्चितं सन्नियम्य यथोचितम् ।
कुर्यात् नृपः स्ववृत्तं तु परत्रेह सुखाय च ।। शु०नी०1.123

[1402] भीमकान्तैर्नृपगुणैः स बभूवोपजीविनाम्।।र०वं० 1.16

संतान का पालन पोषण करता है।[1403] राजा को आचरणशील होना चाहिए।[1404] राजा का परम कर्त्तव्य है कि वह अपनी प्रजा की उन्नति के लिए निरन्तर प्रयत्न करे ,अपने अच्छे शासन के माध्यम से प्रजा को प्रसन्न रखे। कालिदास कहते हैं राजा शब्दवाच्य वह है जो शत्रुओं को तपाते हुए और प्रजा को आनन्दित करते हुए उत्कर्ष को प्राप्त करता है। उसे राजा कहा गया है। [1405] विष्णुपुराण में कहा गया है कि जिस प्रजा को दुष्ट राजा वेन ने अप्रसन्न किया था उसी प्रजा को प्रसन्न करने के कारण ही पृथु राजा का राजा नाम सार्थक हुआ।[1406] कवि कहते हैं राजा बन जाने पर प्रसन्नता की प्राप्ति तो होती है किन्तु प्रजा के पालन की एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी उसके कन्धों पर होती है, जिसमें कष्ट अत्यधिक होता है किन्तु इस जिम्मेदारी को उसे अपने सुख की अभिलाषा छोड़कर बड़े तन मन धन से निभाना चाहिए।[1407] कवि राजा दिलीप के विषय में कहते हैं कि दिलीप अन्नादि के द्वारा अपनी समस्त प्रजा का पालन करते थे इसलिए उनके पालन कर्ता पिता तो राजा दिलीप ही थे अन्य तु केवल जन्म के हेतु थे।[1408] मनु भी कहते हैं कि राजा को अपनी प्रजा के साथ पिता के समान व्यवहार करना चाहिए।[1409] संसार में धनवानों के बन्धु बान्धव मित्रादि तो बहुत होते हैं किन्तु निर्धन लोगों के बन्धु बान्धव मित्रादि सब राजा ही होता है क्योंकि वही उनके कष्टों दूर करने का प्रयत्न करता है।[1410] कवि कहते हैं जो जितेन्द्रिय राजा अपने स्वार्थ को छोड़कर सर्वदा प्रजा के कार्य के लिए उसकी रक्षा के लिए तत्पर रहता है। उनके दुःख आदि को जानने के लिए उनके समीप में जाने वाला, गम्भीर स्वभाव वाला, शरणार्थियों को शरण देने वाला, वह वस्तुतः प्रजा की रक्षा में

[1403] प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः।।र०वं० 1.24
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ! पितेव पासि।।र०वं० 2.48
प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा निषेवते शान्तमना विविक्तम् ।। अ०शा० 4.5 पृ० 74

[1404] तस्य धर्मरतेरासीत्।।र०वं० 1.23

[1405] यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।
तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृतिरञ्जनात् ।।र०वं० 4.12
राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः परन्तपो नाम यथार्थनामा।।र०वं० 6.21

[1406] पित्राऽपरञ्जिता तस्य प्रजास्तेनानुरञ्जिताः।
अनुरागात्ततस्तस्य नाम राजेत्यजायत।।वि०पु० 1.13.48

[1407] औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेव ।
नातिश्रमापनयनाय च श्रमाय राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम ।। अ०शा० 5.6
स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यसे लोकहेतोः प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव ।। अ०शा० 5.7

[1408] प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः।।र०वं० 1.24

[1409] स्याच्चाम्नायपरो लोको वर्तते पितृवन्नृषु।। मनु० 7.80

[1410] अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम त्वयि तु परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम् ।। अ०शा० 5.8

संलग्न राजा ऋषियों के समान ही तपस्वी है इसीलिए उसे राजर्षि नाम से अभिहित किया जाता है।[1411]

5.2.3.1.2 अमात्य एवं कालिदासीय सन्दर्भ

अमात्य को चक्षु कहा गया है। चक्षु के बिना जैसे लोकयात्रा कठिन है उसी प्रकार मन्त्री के बिना राजकार्य। अर्थशास्त्र में कौटिल्य का मत है कि जिस प्रकार गाडी का एक पहिया दूसरे की सहायता के बिना अनुपयुक्त होता है इसी प्रकार राज्यचक्र भी अमात्य आदि के सहायता के बिना एकाकी राजा के द्वारा नहीं चलाया जा सकता है। इसलिए राजा को चाहिए कि वह अपने साथ योग्य अमात्यों को रखे और उनके मत को बार बार सुने।[1412] रघुवंश में राजा अतिथि प्रतिदिन गुप्तरूप से मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करते थे। वह इतना गुप्त रखा जाता था कि किसी को भनक तक नहीं लगती थी। वे विचारपूर्वक कार्य करते थे, इस कारण उनके कार्य कल्याणकारी होते थे ,वे किए जाने वाले कार्य को अत्यन्त गोपनीय रखते थे, इस कारण उन कार्यों में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती थी।[1413] मनु कहते हैं जो सरल कार्य है वह भी अकेले व्यक्ति द्वारा किया जाना कठिन होता है। इसलिए सहायकों के अभाव में विशेषरूप में महान् उन्नति सम्पन्न राज्य को भला किस प्रकार चलाया जा सकता है अतः राजा का अपने मन्त्रियों के साथ सर्वदा मन्त्रणा करना आवश्यक होता है। उनके साथ राजा सामान्य तथा सन्धि विग्रह, स्थान ,उन्नति, रक्षा और प्राप्त किए हुए धन का सदुपयोग करने सम्बन्धी मुदों पर हमेशा विचार करता है। इसीलिए वह अपने मन्त्रिमण्डल में प्रमुख रूप से सात या आठ मन्त्रियों की नियुक्ति करता है तथा सभी कार्यों में उनके अपने–अपने विचारों को अलग–अलग तथा सभी के विचारों को एक साथ जानकर राजा अपने हित का सम्पादन करता है।[1414],रघुवंश में राजा कुश अयोध्या नगरी में आने से पूर्व सभा में रात्रि की घटना को

[1411] अध्याक्रान्ता वसतिरमुनाप्याश्रमे सर्वभोग्ये ।
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं सञ्चिनोति ।।
अस्यापि द्यां स्पृशति वशिनश्चारणद्वन्द्वगीतः
पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः।। अ०शा० 2.14
असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्त्वः।। र०वं० 6.21

[1412] सहायसाध्यं राज्यत्वं चकरमेकं न वर्त्तते ।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषाञ्च शृणुयान्मतम् ।।अर्थशा० 1.7.15, पृ० 20

[1413] मन्त्रः प्रतिदिनं तस्य बभूव सह मन्त्रिभिः।
स जातु सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सूच्यते।।
भव्यमुख्याः समारम्भाः प्रत्यवेक्ष्या निरत्ययाः ।
गर्भशालिसधर्माणस्तस्य गूढं विपेचिरे।।र०वं०17.50,53, पृ० 240

[1414]अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किन्तु राज्यं महोदयम् ।।मनु०7.55

विद्वानों को अवगत करवाकर अयोध्या जाने हेतु परामर्श लेता है। विद्वानों ने सहर्ष कुश की बात का अभिनन्दन किया।[1415]

राजा के साथ मन्त्रिमण्डल प्रधानभूमिका निभाता है, हमारी भारतीय परम्परा में राजा अपने मन्त्रियों से सलाह लेकर ही बड़े–बड़े निर्णय लेता था। राजा कितना ही नीतिशास्त्रादि में पारङ्गत क्यों न हो फिर भी उसे मन्त्रियों की सलाह तथा अपनी अनुपस्थिति में राज्य का कार्यभार सौंपना पड़ता है।[1416] रघुवंश में जब राजा दिलीप वसिष्ठ ऋषि के आश्रम में पुत्र की कामना के लिए जाते हैं तो राज्यभार अपने सचिवों को सौंप देते हैं।[1417]

प्राचीन भारतीय राजनीति में यह नियम था कि यदि राजा की मृत्यु हो जाती थी तो उस राजा के जो अमात्यमण्डल होता था उनका यह दायित्व होता था कि वे सर्वसम्मति से राजा के पुत्र को राजपद पर अभिषिक्त करें। कालिदास इसी परम्परा का उल्लेख कर ते हुए कहते हैं कि जब राजा ध्रुव का की मृत्यु हो गयी तब अमात्यमण्डल ने सर्वसम्मति से छः वर्ष के वालक सुदर्शन को राजपद पर बिठा दिया।[1418] इसीलिए राजा अमात्यपद पर विश्वास पात्र लोगों की नियुक्ति करता था। रघुवंश में राजा दशरथ अपने सचिवों की स्वीकृत्ति लेकर ही आखेट के लिए जाते हैं।[1419] वाल्मीकि रामायण के अनुसार राजा दशरथ की सभा में गुणों से सम्पन्न आठ अमात्य नियुक्त थे, जो मन्त्र के तत्त्व को जानने वाले, बाहरी चेष्टा देखकर मन के भावों को समझने वाले, सदा राजा का हित करने वाले, यशस्वी, शुद्ध आचार–विचार से युक्त, राजकीय कार्यों को प्रतिबद्धता से पूर्ण करने वाले थे।[1420] राजा दशरथ ने जब श्रीराम को राजा बनाने का प्रस्ताव अपनी सभा में रखा, तो ये नहीं कहा कि कल से अयोध्या के राजा श्रीराम होंगे बल्कि अपने अमात्यों से मन्त्रणा

सचिवान्सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्।। मनु० 7.54
तैः सार्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यं सन्धिविग्रहम् ।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च।।
तेषां स्वंस्वम् अभिप्रायमुपलभ्य पृथक्–पृथक्।
समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः।।मनु० 7.56–57

[1415] तदद्भुतं संसदि रात्रिवृत्तं प्रातर्द्विजेभ्यो नृपतिः शशंस ।
श्रुत्वा त एनं कुलराजधान्याः साक्षात्पतित्वे वृतमभ्यनन्दन् ।।र०वं० 16.24, पृ० 152

[1416] सचिवावलम्बितधुरं धराधिपम्।।र०वं० 9.69

[1417] संतानार्थाय विधये स्वभुजादवतारिता ।
तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे।। र०वं० 1.34, पृ० 106

[1418] स्वर्गामिनस्तस्य तमैकमत्यात् अमात्यवर्गः कुलतन्तुमेकम्।
अनाथदीनाः प्रकृतीरवेक्ष्य साकेतनाथम् विधिवच्चकार।। र०वं० 18.36, पृ० 172

[1419] तनुमतोऽनुमतः सचिवैर्ययौ ।। र०वं० 9.49, पृ० 170

[1420] तस्यामात्या गणैुरासन्निक्ष्वाकोः सुमहात्मनः ।
मन्त्रज्ञाश्चेङ्गितज्ञाश्च नित्यं प्रियहिते रताः ।।
अष्टौ बभूवुर्वीरस्य तस्यामात्या यशस्विनः ।
शुचयश्चानुरक्ताश्च राजकृत्येषु नित्यशः।।वा०रा० 1.7.1–2 ,पृ० 45

करते हुए कहा कि श्रीराम को राजा बनाने का मेरा प्रस्ताव यदि आप लोगों को उचित लगे तो मुझे सहर्ष अनुमति दें अथवा मुझे बतायें कि मैं किस प्रकार कार्य करूँ, यद्यपि यह श्रीराम के राज्याभिषेक का विचार मेरे लिए अधिक प्रसन्नता का विषय है तथापि इसके अतिरिक्त भी यदि कोई हितकर बात हो तो आप लोग उसे सोचें, क्योंकि मध्यस्थ पुरुषों का विचार एकपक्षीय पुरुष की अपेक्षा विलक्षण होता है इसका कारण यह है कि वह पूर्वपक्ष और अपरपक्ष को लक्ष्य करके किया गया होने के कारण अधिक उन्नति करने वाला होता है।[1421]

अमात्य वे हैं जो अपने स्वामी की आज्ञा को उनकी मृत्यु के पश्चात् भी पूर्ण करता है। रघुवंश में राजा कुश जब युद्ध हेतु के लिए जाते हैं तो उन्होंने अपने मन्त्रियों को निर्देश दिया कि तुम मेरे पुत्र अतिथि को राजा के पद पर अभिषिक्त कर देना, इन मन्त्रियों ने भी कुश की युद्ध में मृत्यु हो जाने के बाद भी अपने स्वामी की आज्ञा को शिरोधार्य करके उनके पुत्र को ही राजसिंहासन पर अभिषिक्त किया।[1422]

इसी प्रकार विषयी राजा अग्निवर्ण ने भी अपने राज्य का कार्यभार अपने मन्त्रियों को सौंप दिया।[1423] वस्तुतः प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि राजा को किस प्रकार के व्यक्ति को अमात्य के पद पर नियुक्त करना चाहिए। इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में विभिन्न आचार्यों के मतों को उद्धृत करते हुए अपना मत दिया है।

5.2.3.1.2.1 अमात्यविषयक भारद्वाज का मत

भारद्वाज आचार्य के मतानुसार राजा को अपने सहपाठियों में से ही किन्हीं को अमात्य के पद पर नियुक्त करना चाहिए। क्योंकि इनके हृदय की पवित्रता और कार्य करने की शक्ति से राजा पहले से ही परिचित होता है। इसीलिए वे अमात्य राजा के विश्वास पात्र होते हैं।[1424]

5.2.3.1.2.2 अमात्यविषयक विशालाक्ष का मत

[1421] यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम्।
भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम्।
यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम्।
अन्या मध्यस्थचिन्ता हि विमर्दाभ्यधिकोदया।।वहीं 2.2.15–16, पृ०182

[1422] तदात्मसम्भवं राज्ये मन्त्रिवृद्धाः समादधुः।
स्मरन्तः पश्चिमामाज्ञां भर्तुः संग्रामयायिनः।।र०वं० 17.8, पृ० 236

[1423] सन्निवेश्य सचिवेष्वतः परम् ।।र०वं० 19.4

[1424] सहाध्यायिनोऽमात्यान्प्रकुर्वीत दृष्टशौचसामर्थ्यत्वादिति भारद्वाजः। ते ह्यस्य विश्वास्या भवन्तीति।। अर्थशा० 1.8. 1–2 पृ० 20

आचार्य विशालाक्ष भारद्वाज के मत को उचित नहीं मानते हैं कि अपने सहपाठियों को अपना अमात्य बनाना चाहिए। उनका मानना है कि अध्ययनकाल में साथ–साथ खेलने के कारण वे राजा का तिरस्कार कर सकते हैं। अतः राजा के समान ही जिनका शील हो जो लोग रहस्यों को गुप्त रखने वाले हों, उन्हें अमात्य बनाना चाहिए। वे लोग इस भय से अपराध नहीं करते क्योंकि वे जानते हैं कि राजा हमारे सभी रहस्यों को जानता है।[1425]

5.2.3.1.2.3 अमात्यविषयक पराशर का मत

आचार्य पराशर का मत है कि केवल राजा ही अमात्य के दोषों को नहीं जानता बल्कि अमात्य भी राजा के दोषों को जानता है। इसलिए राजा भी इस भय से कि अमात्य मेरे सभी मर्मों को जानते हैं, उन अमात्यों के अच्छे या बुरे सभी तरह के कार्यों का अनुसरण करेगा। क्योंकि राजा जितने लोगों के सामने अपनी गोपनीय बातों को कह देता है इस कार्य से अधीर हुआ वह उतने ही लोगों के वश में हो जाता है। इसलिए जो पुरुष आपत्तियों में राजा के प्राणों की रक्षा करता है उन्हीं पुरुषों को अमात्य बनाना चाहिए। क्योंकि इस कार्य को करने से राजा के प्रति उनके अनुराग का ठीक–ठीक पता चल जाता है।[1426]

5.2.3.1.2.4 अमात्यविषयक पिशुन का मत

आचार्य पिशुन का मत है कि अपने प्राणों की परवाह न करके राजा की सहायता करना यह केवल राजा के प्रति भक्ति है, इससे अमात्य की बुद्धिमत्ता प्रकट नहीं होती, बुद्धिसम्पन्न होना अमात्य का प्रथम गुण है। इसलिए ऐसे पुरुषों को अमात्य बनाना चाहिए जो कि बताये हुए राजकीय कार्यों में नियुक्त होकर उन कार्यों को उचितरीति से सम्पन्न कर दे या उससे भी विशेष करके दिखावें। क्योंकि ऐसा करने से उनके बुद्धिगुण की ठीक–ठीक परीक्षा हो जाती है।[1427]

5.2.3.1.2.5 अमात्यविषयक कौणपदन्त का मत

[1425]नेति विशालाक्षः।सहक्रीडितत्वात्परिभवन्तेनम्।ये ह्यस्य गुप्तधर्माणस्तानमात्यान्प्रकुर्वीत समानशीलव्यसनत्वात्।।ते ह्यस्य मर्मज्ञभयान्नापराध्यन्तीति।।अर्थशा० 1.8.3–6 पृ० 20

[1426] साधारण एष दोषः इति पराशरः। तेषामपि मर्मज्ञत्वभयात्कृताकृतान्यनुवर्तेत।।
यावद्भ्यो गुह्यमाचष्टे जनेभ्यः पुरुषाधिपः।
अवशः तेन कर्मणा तेन वश्यो भवति तावताम् ।।
य एनमापत्सु प्राणाबाधयुक्तास्वनुगृह्णीयुस्तान् अमात्यान्कुर्वीत । दृष्टानुरागत्वात्।। अर्थशा० 1.8.7–11, पृ० 21

[1427] नेति पिशुनः। भक्तिरेषा न बुद्धिगुणः।।संख्यातार्थेषु कर्मसु नियुक्ता ये यथादिष्टमर्थं सविशेषं वा कुर्युस्तानमात्यान्कुर्वीत।
दृष्टगुणत्वादिति।। अर्थशा० 1.8.12–15, पृ० 21

आचार्य कौणपदन्त का मानना है कि जो अमात्य केवल बताये हुए राजकीय कार्यों को उचितरीति से पूरा करते हैं ऐसे अमात्य भी अमात्योचित गुणों से रहित ही होते हैं। इसलिए अमात्य उन्हें ही बनाया जाय जिनके पिता ,पितामह आदि इस पद पर कार्य करते चले आये हों। क्योंकि वे पहले से ही अमात्य पद के सम्पूर्ण व्यवहारों से परिचित होते हैं। इसलिए उनके स्वामी के द्वारा उनका तिरस्कार किये जाने पर भी वे अपने स्वामी का त्याग नहीं करते। यह बात तो पशुओं के व्यवहार में भी देखी जाती है, गायें अपरिचित समूह को छोड़कर परिचित समूह में ही रहती हैं।[1428]

5.2.3.1.2.6 अमात्यविषयक वातव्याधि का मत

आचार्य वातव्याधि (उद्धव) का कहना है कि इस प्रकार के मन्त्री जो पितृपितामह के परम्परा से आते हैं, वे राजा का सर्वस्व अपने अधीन करके राजा के समान ही व्यवहार करने लगते हैं। इसलिए नीतिज्ञ राजा को नये अमात्यों को ही नियुक्त करना चाहिए। इस प्रकार पहले से अपरिचित अमात्य राजा को दण्ड धारण करने वाले यमराज के समान मानते हुए उस राजा का कभी अपराध नहीं करते।[1429]

5.2.3.1.2.7 अमात्यविषयक बाहुदन्तीपुत्र इन्द्र का मत

आचार्य बाहुदन्तीपुत्र इन्द्र का कहना है कि नीति को जानने वाले पुरुष जो अमात्य के कार्यों से अपरिचित हैं अर्थात् जिन्हें सिद्धान्त तो ज्ञात है किन्तु प्रायोगिकज्ञान का अनुभव नहीं है ऐसे अमात्य भी असफल होते हैं। इसलिए ऐसे पुरुषों को नियुक्त करना चाहिए जो कुलीन, बुद्धिमान्, पवित्रहृदय ,शूरवीर और स्वामी में अनुराग रखने वाले हों। क्योंकि अमात्य में गुणों की प्रधानता होना आवश्यक है।[1430]

5.2.3.1.2.8 अमात्यविषयक कौटिल्य का मत

आचार्य कौटिल्य का मत है कि ऐसे व्यक्ति को अमात्य पद पर नियुक्त करना चाहिए जो अपने देश में उत्पन्न हुआ, कुलीन, जो युद्धकौशल आदि विद्याओं में निपुण हो, राजनीतिशास्त्र को जानने वाला हो, बुद्धिमान्, जो तीव्र स्मरणशक्ति वाला,दक्ष, युक्तिसंगत बात करने वाला, प्रतिकार और प्रतिवाद करने में समर्थ, कार्य करने में उत्साही, प्रभावशाली, क्लेशों को सहन करने वाला, पवित्रहृदय, सबके साथ मधुर व्यवहार करने

[1428] नेति कौणपदन्तः। अन्यैरमात्यगुणैरयुक्ता ह्येते पितृपैतामहानमात्यान्कुर्वीत। दृष्टपदानत्वात्। ते ह्येनमपचरन्तमपि न त्यजन्ति सगन्धत्वात् । अमानुषेष्वपि दृश्यते । गावो ह्यसगन्धं गोगणमतिक्रम्य सगन्धेष्वेवावतिष्ठन्त इति। अर्थशा० 1.8–16–22 ,पृ० 29

[1429] नेति वातव्याधिः। ते ह्यस्य सर्वमुपगृह्य स्वामिवत्प्रचरन्तीति । तस्मान्नीतिविदो नवानमात्यान् कुर्वीत । नवास्तु यमस्थाने दण्डधरं मन्यमाना नापराध्यन्तीति ।।अर्थशा०1.8.23–26,पृ०22

[1430] नेति बाहुदन्तिपुत्रः। शास्त्रविद् अदृष्टकर्मा कर्मसि विषादं गच्छेत् । अभिजनप्रज्ञाशौचशौर्यानुरागयुक्तान् अमात्यान्कुर्वीत । गुणप्रधानायादिति । अर्थशा० 1.8.27–30, पृ० 22

वाला, प्रबुद्ध, स्वामी में दृढ़भक्ति रखने वाला, शील, बल, आरोग्य, धैर्य से युक्त, गम्भीर और अभिमान से रहित, सौम्य आकृति, अपने राष्ट्र के लोगों से वैर न करने वाला हो।[1431] पुरुष के सामर्थ्य की व्यवस्था उसके किये कार्य के सफल होने पर तथा उसके विद्या , बल और बुद्धि के बल पर ही की जाती है। देश, काल, कार्य करने की शक्ति, गुण ,बुद्धि आदि पर विचार करके राजा अमात्य पद पर नियुक्ति करें। किन्तु अपना सलाहकार सर्वगुणसम्पन्न को ही बनाना चाहिए।[1432]

5.2.3.1.3 जनपद

आचार्य कौटिल्य का मत है कि राज्य के मध्य एवं सीमाप्रान्त में किले हों, जिसमें स्वदेशनिवासी तथा परदेश से आने वाले जनों के लिए पर्याप्त धान्य आदि पैदा हो सके। आपत्ति में पहाड़ वन आदि के होने से देशवासियों की रक्षा कर सके या पर्वत आदि के कारण सरलता से जिसकी रक्षा की जा सके। जहाँ थोड़े ही परिश्रम से धान्य आदि पैदा हो जाय। राजा के शत्रु से दुःश्मनी रखने वाले मनुष्यों से युक्त हो, राज्य ऐसी जगह पर होना चाहिए जिसके आस–पास के राजा दुर्बल हों। राज्य कीचड़, ऊषर, विषम , कण्टक, छोटे–छोटे शत्रु , हिंसक जानवर और घने जंगलों से रहित हो। नदी, सरोवर आदि से रमणीय लगने वाला, खेती, खान, लकड़ियों तथा हाथियों के जंगलों से युक्त हो, गायों के लिए हितकारी हो, मनुष्यों के लिए जहाँ का जलवायु अच्छा हो, शिकारी से सुरक्षित हो, गाय भैंस आदि पशु जहाँ अधिक मात्रा में हों,नदी नहरों से युक्त, जल–थल के बहूमूल्य तरह–तरह के क्रय वस्तुओं से युक्त, जो दण्ड और कर को सहन कर सके। जहाँ किसान अत्यधिक मेहनत करने वाले हों ,जहाँ के मालिक समझदार हों, जहाँ अपने राष्ट में अनुरक्त और शुद्ध हृदय वाले मनुष्य हों, ऐसा जनपद या राष्ट्र होना चाहिए, इसे जनसम्पद् कहा जाता है।[1433] जनपद के बीच में धन आदि की उत्पत्ति के मुख्यस्थान स्थानीय अर्थात् बड़े–बड़े नगरों को राजा बसावें।[1434]

[1431] जानपदोऽभिजातः स्ववग्रहः कृतशिल्पश्चक्षुष्मान् प्राज्ञो धारयिष्णुर्दक्षीवाग्मी प्रगल्भः. प्रतिपतिमानुत्साहप्रभावयुक्तः क्लेशसहः शुचिमैत्री दृढ़भक्तिः. शीलबलारोग्यसत्त्वसंयुक्तः स्तम्भचापल्यवर्जितः संप्रियो वैराणामकर्तेत्यमात्यसम्पत् । अर्थशा०1.9, पृ० 23

[1432] सर्वमुपपन्नमिति कौटिल्यः। कार्यसामर्थ्याद्धि पुरुषसामर्थ्यं कल्प्यते सामर्थ्यतश्च।
विभज्यामात्यविभवं देशकालौ च कर्म च।
अमात्याः सर्व एवैते कार्याः स्युर्नतु मन्त्रिणः।।अर्थशा० 1.8.31–33, पृ०22,23

[1433] मध्ये चान्ते च स्थानवानात्मधारणः परधारणाश्वापदि स्वारक्षः स्वाजीवः शत्रुद्वेषी शक्यसामन्तः पङ्कपाषाणोषरविषमकण्टकश्रेणीव्यालमृगाटवीहीनः कान्तः सीताखनिद्रव्यहस्तिवनवान् गव्यः पौरुषेयो गुप्तगोचरः पशुमानदेवमातृको वारिस्थलपथाभ्यामुपेतः सारचित्रबहुपण्यो दण्डकरसहः कर्मशीलकर्षकोऽबालिशस्वाम्यवरवर्णाप्रायो भक्तशुचिमनुष्य इति जनपदसम्पत्। अर्थशा० 6.1.8,पृ० 206

[1434] जनपदमध्ये समुदयस्थानं स्थानीयं निवेशयेत् ।।अर्थशा० 2.3.4 पृ० 99

5.2.3.1.4 दुर्ग एवं कालिदासीय सन्दर्भ

मनुष्य जिस प्रकार अपनी रक्षा अपनी भुजाओं से करता है उसी प्रकार राज्य की भुजा दुर्ग है और राज्य की रक्षा दुर्ग के माध्यम से होती है। दुर्ग ऐसा स्थान है जहाँ स्वयं सुरक्षित रहकर शत्रुओं से अपने राज्य की रक्षा की जा सकती है। शत्रुओं के लिए दुर्ग पर पहुँचना अत्यन्त कठिन होता है। रघुवंश में महाराज अतिथि ने शत्रुओं को रोकने के लिए राजाधानी के चारों ओर बड़े–बड़े दुर्गों (किला) का निर्माण कराया, जिनमें शत्रुओं का प्रवेश करना अत्यन्त कठिन था।[1435]

भारत में इस प्रकार के प्राचीन परम्परा के अनेक दुर्ग आज भी उपलब्ध हैं। आचार्य कौटिल्य का मत है कि राष्ट्र के चारों दिशाओं में उसके सीमा स्थानों में तथा युद्ध के लिए उपयोगी स्वाभाविक विकट स्थानों को ही दुर्ग के रूप में बना लेना चाहिए।[1436] आचार्य कौटिल्य के अनुसार इस प्रकार के दुर्ग मुख्यतः चार प्रकार के होते हैं। औदकदुर्ग, पार्वतदुर्ग, धान्वनदुर्ग और वनदुर्ग।

5.2.3.1.4.1 औदकदुर्ग

आचार्य कौटिल्य के अनुसार चारों ओर नदियों से घिरा हो, बीच में टापू के समान, बड़े–बड़े गहरे तालाबों से घिरा हुआ बीच का स्थलप्रदेश औदकदुर्ग कहलाता है।[1437] ये दुर्ग आपत्ति के समय जनपद की रक्षा के स्थान होते हैं।[1438]

5.2.3.1.4.2 पार्वतदुर्ग

आचार्य कौटिल्य के अनुसार बड़े–बड़े पत्थरों से घिरा हुआ या स्वाभाविक रूप से गुफाओं के रूप में बना हुआ, पार्वतदुर्ग कहलाता है।[1439] ये पार्वतदुर्ग आपत्ति के समय जनपद के रक्षा के स्थान होते हैं।

5.2.3.1.4.3 धान्वनदुर्ग

आचार्य कौटिल्य के अनुसार जल तथा घास आदि से रहित, सर्वथा ऊषरभूमि में बना हुआ धान्वनदुर्ग कहलाता है।[1440] धान्वनदुर्ग आटविकों की रक्षा के लिए उपयुक्त होते हैं तथा विशेष आपत्ति में राजा भी भागकर इन दुर्गों में आश्रय ले सकता है।[1441]

[1435] दुर्गाणि दुर्ग्रहाण्यासंस्तस्य रोद्धुरपि द्विषाम् ।
न हि सिंहो गजास्कन्दी भयाद्गिरिगुहाशयः।।र०वं० 17.52,पृ० 240

[1436] चतुर्दिशं जनपदान्ते साम्परायिकं दैवकृतं दुर्गं कारयेत्।।अर्थशा०2.3.1,पृ० 99

[1437] अन्तर्द्वीपं स्थलं वा निम्नावरुद्धं औदकम्।।अर्थशा०2.3.2,पृ० 99

[1438] तेषां नदीपर्वतदुर्गं जनपदारक्षस्थानम्।। अर्थशा० 2.3.3,पृ० 99

[1439] प्रस्तरं गुहां वा पार्वतं।।अर्थशा०2.3.2,पृ० 99

[1440] निरुदकस्तम्बमिरिणं वा धान्वनं।।अर्थशा०2.3.2,पृ० 99

[1441] धान्वनवनदुर्गं अटवीस्थानं आपद्यपसारो वा।।अर्थशा० 2.3.3, पृ० 99

5.2.3.1.4.4 वनदुर्ग

आचार्य कौटिल्य के अनुसार चारों ओर दल–दल से घिरा, कांटेदार घनी झाड़ियों से घिरा हुआ वनदुर्ग कहलाता है।[1442] ये दुर्ग आपत्तिकाल में शरण लेने योग्य होते हैं।

5.2.3.1.5 कोश एवं कालिदासीय सन्दर्भ

राज्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए, राज्य में आकस्मिक दैवीय आपदाओं की क्षतिपूर्ति हेतु, राज्य के कर्मचारियों को वेतन आदि के लिए कोश की आवश्यकता होती है। कोश को मुख कहा गया है, अर्थात् राज्यरूपी शरीर तभी स्वस्थ और पुष्ट हो सकता है जब उसका कोशरूपी मुख धन स्वर्ण आदि से भरा हुआ हो। राजा अतिथि धर्मपूर्वक अर्जित कर (Tax) से इसलिए कोश की वृद्धि पर विशेष ध्यान देते थे, क्योंकि कोशसमृद्ध होने पर ही राजा अपनी प्रजा का उपकार करने में समर्थ होता है और तभी प्रजा भी राजा का उसी प्रकार अभिनन्दन करती हैं, जिस प्रकार पानी से भरे मेघ का चातक पक्षी अभिनन्दन करते हैं।[1443] यदि राजा कर नहीं लेता है तो शासन व्यवस्था नहीं चलाई जा सकती है , यदि राज्य में कहीं आपदायें, भूकम्प जैसी समस्यायें आती हैं, उस समय राजा प्रजा से कर के रूप में एकत्र किया हुआ जो धन है उससे अपनी प्रजा की रक्षा करता है। रघुवंश में दिलीप कहते हैं कि मैं अपनी प्रजा से रक्षा के बदले में उनसे छटा भाग कर के रूप में लेता हूँ।[1444]

कोश कैसा होना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कौटिल्य ने अपना निम्नलिखित मत दिया है।[1445]

• कोश में राजाओं के द्वारा धर्मपूर्वक सञ्चित किया हुआ धन, धान्य आदि का षड्भाग होना चाहिए।

• कोश स्वर्ण, चांदी नाना प्रकार के बहुमूल्य रत्नों से भरा होना चाहिए।

• यदि राज्य में दीर्घकालीन आपदायें, दुर्भिक्ष आदि स्थितयाँ आ जाँय ऐसी स्थिति में धनव्यय को सहन कर सके ऐसा कोश होना चाहिए।

5.2.3.1.5.1 राजकर एवं कालिदासीय सन्दर्भ

[1442] खञ्जनोदकं स्तम्बगहने वा वनदुर्गम् ।। अर्थशा०2.3.2,पृ० 99

[1443] कोशेनाश्रयणीयत्वमिति तस्यार्थसंग्रहः ।
अम्बुगर्भो हि जीमूतश्चातकैरभिनन्द्यते।।र०वं० 17.60,पृ० 241

[1444] षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः।।र०वं० 2.66, पृ० 19

[1445] धर्माधिगतः पूर्वैः स्वयं वा हेमरूप्यप्रायश्चित्रस्थूलरत्नहिरण्यो दीर्घांमप्यापदमनायतिं सहेत इति कोशसम्पत् ।।
अर्थशा०6.1.10,पृ० 206

कवि कालिदास कहते हैं कि राजा को प्रजा से उपज का छटा अंश कर के रूप में लेना चाहिए।[1446] कवि कहते हैं राजा का स्वभाव सूर्य के समान होना चाहिए जैसे सूर्य अपनी किरणों से हजारगनु बरसाने के लिए ही जल ग्रहण करते हैं। उसी प्रकार राजा प्रजा से कर तो ग्रहण करे किन्तु उसे फिर प्रजा की सेवा में ही लगाये।[1447]

महाभारत में प्रजा ने मनु से कहा आप राजा बनकर हम लोगों का पालन पोषण कीजिए। हम लोग आपके कोश की वृद्धि के लिए प्रति पचाश पशुओं पर आपको एक पशु, सुवर्ण का पचासवां भाग, अन्नादि का दशवाँ भाग कर के रूप में देगें।[1448] कौटिल्य के अनुसार खेती की उपज का छ्ठा भाग, व्यापार की आमदनी का दसवाँ भाग तथा थोड़ा सा सुवर्ण राजा के लिए कर के रूप में देना चाहिए। प्रजा के द्वारा निर्धारित भाग को प्राप्तकर राजाओं ने प्रजा के योगक्षेम का सारा दायित्व अपने ऊपर ले लिया। इसलिए निर्धारित कर एवं दण्ड प्रजा के उत्पीडनों को दूर करने में तथा प्रजा के कल्याण में सहायक होते हैं। यही कारण है कि जंगलों में एकान्त जीवन बिताने वाले ऋषि मुनि भी दाना– दाना करके बीने हुए अन्न का छठा भाग राजा को देते हैं। यह जानकर कि राजा का कर ग्रहण करने में अधिकार है और इस कर के बदले में वह हमारी रक्षा करता है।[1449] अभिज्ञानशाकुन्तल में विदूषक कहता है दुष्यन्त से की तुम अरण्यवासी इन ऋषियों से नीवार के रूप में छटा भाग ग्रहण करो। तब दुष्यन्त उत्तर देता है कि ये ऋषि तो हमें कभी न क्षय होने वाले तपस्या का छठा हिस्सा मुझे देते हैं। अतः इनका कर साधारण कर से कह गुना अधिक है।[1450]

याज्ञवल्क्यस्मृति में भी कहा गया है कि राजा न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता हुआ। प्रजा से छठा भाग कर के रूप में लेता है।[1451] राजा क्रय विक्रय की मात्रा अर्थात् कितने

[1446] षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ।।अ०शा० 5.4, पृ० 81
यदुतिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम् ।
तपः षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः।।अ०शा० 2.13

[1447] प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ।।र०वं० 1.8

[1448] पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च।
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्धनम् ।
म०भा० ,शान्तिपर्व, 67.27 ,पृ०4595,4596

[1449] धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः। तेन भृता राजानः प्रजानां योगक्षेमवहाः। तेषां किल्विषं दण्डकरा हरन्ति , योगक्षेमवहाश्च प्रजानाम् । तस्मादुञ्छषड्भागमारण्यका अपि निर्वपन्ति । तस्यैतद् भागधेयं योऽस्मान् गोपायतीति । अर्थ० 1.12 पृ० 38

[1450] नीवारषष्ठभागमस्माकमुपहरन्तु । यदुतिष्ठति वर्णेभ्यो नृपाणां क्षयि तत्फलम् । तपःषड्भागम् अक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः।। अ०शा० 2.13

[1451] पुण्यात्षड्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन्।
सर्वदानाधिकं यस्मात्प्रजानां परिपालनम्।।या०स्मृ०,आचाराध्याय,श्लोक 335

मूल्य में खरीदा गया है, मार्गव्यय अर्थात् कितने दूर से लाया गया है, भोजन तथा रक्षा आदि पर व्यय और योगक्षेम आदि को भलीभाँति देखकर ही व्यापारी पर कर लगाये।[1452] जिससे राजा तथा कार्यों को करने वाले किसान ,व्यापारी आदि दोनों ही लाभान्वित होवें। इसलिए विचारकर ही राजा को राज्य में कर टैक्स लगाना चाहिए।[1453] मनु कहते हैं राजा को राज्य से कम से कम वार्षिक कर लेना चाहिए।[1454] राजा को पशु एवं सोने का पचासवाँ भाग तथा धान्य का छटा, आठवाँ, अथवा बारहवाँ भाग ही ग्रहण करना चाहिए।[1455] इसके राजा अतिरिक्त वृक्ष, शहद, घी, सुगन्धित पदार्थ, रस, पुष्प मिट्टी के बर्तन आदि पर छटा भाग कर के रूप में ग्रहण करे।[1456]

मनु के अनुसार राज्य में उत्तम आचरण करने वाले लोगों की रक्षा करने से तथा समाज के कण्टकों चोरों आदि दुष्टों के विनाश से, प्रजाओं के पालन में लगे हुए राजा लोग मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग को प्राप्त करते हैं। किन्तु जो राजा प्रजाओं से कर वसूल करता है तथा चोरादि दुष्टों को दण्डित नहीं देता है उसकी प्रजा क्षुब्ध होकर विद्रोह कर देती है तथा वह स्वर्ग से वंचित रह जाता है। वेदव्यास के अनुसार जिस राजा के राज्य में दुष्टों के उपद्रव से सारी प्रजा त्रस्त रहती है उस मतवाले राजा की कीर्ति, आयु, ऐश्वर्य और परलोक नष्ट हो जाता है। राजा का यही परम धर्म है कि वह अपनी प्रजा का दुःख दूर करे।[1457] जिस राजा के बाहुबल के आश्रित होकर राष्ट्र निर्भय हो जाता है। वह राष्ट्र ठीक उसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त करता है जिस प्रकार जल के सेंचन करने से वृक्ष सदैव बढ़ता ही रहता है।[1458] कालिदास का कथन है कि जो राजा अपनी प्रजा की रक्षा में समर्पित रहता है उसके राज्य में विघ्न उसी प्रकार नहीं ठहरते। जिस प्रकार सूर्य के आने पर अन्धकार नहीं ठहरता।[1459]

[1452] क्रयविक्रयमध्वानं भक्तं च सपरिव्ययम् ।
योगक्षेमं च सम्प्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान् ।। मनु० 7.127

[1453] यथा फलेन युज्येत राजा कर्त्ता च कर्मणाम् ।
तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्रे कल्पयेत्सततं करान् ।। मनु० 7.128

[1454] तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्राद्राज्ञाब्दिकः करः।। मनु० 7.129

[1455] पञ्चाशद्भाग आदेयो राज्ञा पशुहिरण्ययोः।
धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा ।। मनु० 7.130

[1456] आददीताथ षड्भागम् ।। मनु० 7.131

[1457] श्रीमद्भा०1.17.10–11

[1458] रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानाञ्च शोधनात् ।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः।।
अशासंस्तस्करान्यस्तु बलिं गृह्णाति पार्थिवः।
तस्य प्रक्षुभ्यते राष्ट्रं स्वर्गाच्च परिहीयते ।।
निर्भयं तु भवेद्यस्य राष्ट्रं बाहुबलाश्रितम् ।
तस्य तद्वर्धते नित्यं सिच्यमान इव द्रुमः।। र०वं० 9.253–255

[1459] कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि।

5.2.3.1.6 दण्ड (बल) और कालिदासीय सन्दर्भ

राजव्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए दण्ड की आवश्यकता होती है। अपराधियों को दण्ड देने के लिए राजा सेना का निर्माण करता है। कालिदास ने सेना का विवेचन विभिन्न स्थलों में अपनी कृतियों में किया है। राजा जब भी मृगया आदि के लिए जाता था उस समय उसकी सेना उसके साथ ही होती थी। सैनिक राजा की सुरक्षा हेतु प्रयत्न करते थे कि राजा कहीं भी अकेले न जायें। यदि राजा सुरक्षित है तभी प्रजा भी सुरक्षित रहती है, इसलिए राजा की सुरक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता है। राजा की सुरक्षा के लिए उनके साथ सैनिकव्यवस्था होना आवश्यक है। कालिदास ने विवेचन किया कि जब भरत श्रीराम के स्वागत के लिए जाता है तो उसकी सेना उसका अनुगमन करती है।[1460]

राजा दिलीप जब नन्दिनी को चराने के लिए जाते हैं उस समय उनके सैनिक उनके साथ उनकी सुरक्षा के लिए जाना चाहते थे। किन्तु दिलीप ने अपने उन सेवकों को मना कर दिया।[1461] राजा दिलीप धनुर्विद्या में इतने निष्णात थे कि उन्हें अपने साथ प्रायशः सेना की आवश्यकता नहीं पड़ती थी।[1462]

राजा दुष्यन्त जब कण्व ऋषि के आश्रम में जाते हैं उस समय उनके सैनिक उन्हें अन्वेषण करते उधर ही आ जाते हैं। राजा दुष्यन्त तपोवन के समीप में ही अपने सैनिकों के साथ रहने का विचार बनाता है।[1463]

राजा रघु की सेना उस समय विषादग्रस्त होती हैं जब अश्वमेध का घोड़ा अदृश्य हो जाता है।[1464]

सेना में किस प्रकार के लोग होने चाहिए? आचार्य कौटिल्य के अनुसार निम्नलिखित लोगों को सेना में भर्ती करना चाहिए।[1465]

- जिसकी वंशपरम्परा में पिता या पितामह आदि सेना में कार्य कर चुके हों।
- जो स्थिरता से कार्य करने वाला हो।
- जो आदेश का पालन करने वाला हो।

तमस्तपति घर्मांशौ कथम् आविर्भविष्यति।। अ०शा० 5.14

[1460] प्रत्युद्गतो मां भरतः ससैन्यः।। र०वं० 13.64,पृ० 127

[1461] व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः।।र०वं० 2.4,पृ० 22

[1462] सेना परिच्छदस्तस्य द्वयमेवार्थसाधनम् ।
शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता ।।र०वं० 1.19, पृ० 8

[1463] सैनिका अस्मदन्वेषिणस्तपोवनमुपरुन्धन्ति।।अ०शा० 1,पृ०22
यावदानुयात्रिकान् समेत्य नातिदूरे तपोवनस्य निवेशयेयम्।। अ०शा० 1, पृ० 23

[1464] विषादलुप्तप्रत्तिपत्ति विस्मितं कुमारसैन्यं सपदि स्थितं च तत् ।।र०वं० 3.41, पृ० 64

[1465] पतृपैतामहो नित्यो वश्यस्तुष्टभृतपुत्रदारः प्रवासेष्वविसंवादितः सर्वत्राप्रतिहतो दुःखसहो बहुयुद्धः सर्वयुद्धप्रहरणविद्याविशारदः सहवृद्धिक्षयिकत्वादद्वैध्यः क्षत्रप्राय इति दण्डसम्पत् ।।अर्थशा० 6.1.11, पृ० 206

- जिसके पुत्र और स्त्री राजा की ओर से भरण पोषण होने के कारणा सन्तुष्ट रहते हों।
- युद्ध के समय जिन्हें उचित आवश्यक वस्तुओं से युक्त किया जाता है।
- जो किसी से परास्त न हो।
- जो दुःख सहन करने वाला हो।
- जो युद्ध की कलाओं में निपुण हो।
- जो सभी प्रकार के युद्ध के हथियारों को चलाने में निष्णात है।
- जो हानि–लाभ होने पर भेदरहित हो।
- प्रायशः जो क्षत्रिय हों।

ऊपर्युक्त गुणों से युक्त लोग जब सेना में भर्ती होते हैं तो उसे दण्डसम्पत् कहा जाता है।

5.2.3.1.6.1 राजदण्ड और कालिदासीय सन्दर्भ

राजा को न्यायव्यवस्था के लिए दण्ड धारण करना आवश्यक होता है,ऋग्वेद में कहा गया हैं कि परमेश्वर दुष्ट आचरण करने वालों को तथा दूसरे के धन आदि का हरण करने वालों को दण्ड देने वाला है।[1466] कवि कालिदास कहते हैं यदि समाज में कोई अपराध करता है तो उसे उसके अपराध को ध्यान में रखकर लोकमर्यादा के लिए उचित दण्ड देना चाहिए।[1467] कवि ने राजा दिलीप के सुशासन की अत्यन्त प्रशंसा की है राजा दिलीप का सुशासन इतना सुन्दर था कि उनके राज्य में कभी भी चौरी डकैती नहीं होती थी। चौरी शब्द केवल कहने सुनने को ही रह गया था। दूसरे राजा दिलीप को देखकर ऐसा प्रशासन चलाने का प्रयास करते थे किन्तु फिर भी उनके राज्यों में चौरी आदि हो जाती थी। दिलीप का यह स्वभाव था कि चाहे कोई अपना सगा सम्बन्धी क्यों न हो यदि वह अपराध करता था, तो उसे दण्ड रूप में देश से निकाल देते थे, जैसे शरीर में रोग होने पर उस अंग को काट देना चाहिए, ताकि शरीर के और अंग बच सकें, इसी प्रकार दिलीप भी उनका त्याग कर देते थे। यदि द्वैषी भी अनुशासित है तो उसे उसी प्रकार अपना लेते थे जैसे रोगी कड़वी ओषधि को ग्रहण करता है, क्योंकि वह जानता है भले ही यह कटु ओषधि किन्तु बाद में इससे शरीर को लाभ होगा।[1468]

[1466] यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान ।
यः शर्द्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः।।ऋ० 2.12.10

[1467] यथापराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम् ।र०वं० 1.6
स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान् ।।र०व० 1.25

[1468] न किलानुययुस्तस्य राजानो रक्षितुर्यशः।

याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार राजा को दण्डनीय व्यक्ति को अवश्य दण्ड देना चाहिए।[1469] जिसे दण्ड नहीं मिलना चाहिए उसे दण्डित करने से तथा जिसे दण्ड मिलना चाहिए उसे दण्डित न करने से राजा का अपयश होता है और वह नरकगामी होता है।[1470] शुक्रनीति भी कहती है कि राजदण्ड के भय से ही प्रजा अपने–अपने कर्त्तव्य के पालन में तत्पर रहती है।[1471] कौटिल्य का मत है कि निष्ठुरता पूर्वक दण्ड देने से राजा से सारी प्रजा खिन्न हो जाती है तथा जो राजा दण्ड देने में कमी करता है लोग उसका तिरस्कार करते हैं। अतः राजा को उचित दण्ड देन वाला होना चाहिए। इस प्रकार दण्ड देन वाला राजा सदा प्रजा के द्वारा पूजनीय होता है। विधिपूर्वक शास्त्रानुसार प्रयुक्त दण्ड प्रजा को धर्म, अर्थ, काम से युक्त करता है। अज्ञानतापूर्वक काम और क्रोध के वशीभूत होकर अनुचित ढ़ंग से प्रयुक्त किया गया दण्ड, वानप्रस्थ और परिव्राजक जैसे निःस्पृह व्यक्तियों को भी कुपित कर देता है फिर गृहस्थों की तो बात ही क्या ? यदि दण्ड का प्रयोग सर्वथा रोक दिया जाय तो जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछलीयों को खा जाती है इसी तरह बलवान् व्यक्ति निर्बलों को कष्ट पहुचाँने लगते हैं। दण्ड धारण करने वाले राजा के न होने पर सर्वत्र अराजकता फैल जाती है और सबल निर्बलों को सताने लगते हैं। परन्तु दण्ड द्वारा सुरक्षित नर्बल भी सबल हो जाता है।[1472]

आचार्य कामन्दक का मानना है कि प्रजा का अच्छी प्रकार शासन करने के लिए राजा का रागद्वेष रहित होकर दण्ड देना अनिवार्य है क्योंकि दण्ड धारण करने वाले राजा के डर से प्रजा अपराध करने से भयभीत रहती है।उन्होंने भी कौटिल्य के मत को स्वीकार करते हुए तीन प्रकार के दण्ड तीक्ष्ण ,मृदू और युक्तदण्ड की चर्चा की है।[1473] कवि ने युक्तदण्ड

व्यावृत्ता यत्परस्वेभ्यः श्रुतौ तस्करता स्थिता।।
द्वेष्योऽपि सम्मतः शिष्टस्तस्यार्त्तस्य यथौषधम् ।
त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीदङ्गुलीवोरगक्षता ।। र०वं० 1.27–28

[1469] यो दण्ड्यान्दण्डयेद्राजा सम्यग्वध्यांश्च घातयेत् ।
इष्टं स्यात्क्रतुभिस्तेन समाप्तवरदक्षिणैः।।या०स्मृ०, आचाराध्याय,श्लोक–359

[1470] अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति र०व०।। 25 ,मल्लिनाथव्याख्या

[1471] राजदण्डभयाल्लोकः स्वस्वधर्मपरो भवेत् ।।शु०नी० 1.23
नेति कौटिल्यः । तीक्ष्णदण्डो हि भूतानामुद्वेजनीयः, मृदुदण्डः परिभूयते , यथार्थदण्डः पूज्यः। सुविज्ञातप्रणीतो हि दण्डः प्रजा धर्मार्थकामैर्योजयति । दुष्प्रणीतः कामक्रोधाभ्यामज्ञानाद्वानप्रस्थपरिव्राजकानपि कोपयति किमङ्ग पुनर्गृहस्थान् । अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति । बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे । तेन गुप्तः प्रभवतीति।।तस्माद्दण्डमूलास्तिस्रो विद्याः।। अर्थ०शा० , विनयाधिकारिक, 1.4,5 पृ०13–14

[1473] प्रजानाञ्च ततः सम्यग् दण्डं दण्डीव धारयेत् ।
उद्वेजयति तीक्ष्णेन मृदूना परिभूयते ।
दण्डेन नृपतिस्तस्माद् युक्तदण्डः प्रशस्यते।
त्रिवर्गं वर्धयत्याशु राज्ञो दण्डः यथाविधिः।
प्रणीतोऽथासमञ्जस्याद् वनस्थानपि कोपयेत्।
परस्परामिषतया जगतो भिन्नवर्त्मनः।

देने में राजा रघु की प्रशंसा की है जैसे बसन्त का वायु बहुत शीत या गरम न होने के कारण सबको भाता है। वैसे ही रघु भी आवश्यकता से अधिक कठोर या कोमल दण्ड नहीं देते थे। जो जैसा अपराध करता था उसे वैसा ही दण्ड देते थे। इस प्रकार के न्याय से उनकी प्रजा उन पर प्रसन्न रहती थी।[1474] जैसे स्वभाव वाले राजा रघु थे वैसे ही स्वभाव वाले उनके पुत्र अज भी थे। जैसे न बहुत तेज और न बहुत मन्द वायु अर्थात् मध्यम गति से बहती हुई वायु जिस प्रकार वृक्षो को न उखाड़ती हुई उन्हें खाली झुका देती है उसी प्रकार न बहुत कठोर और न बहुत सरल किन्तु मध्यम शासन करने वाले राजा अज ने राजाओं को नष्ट न करते हुए केवल उनको नम्र बना दिया।[1475]
कवि लिखते हैं कि जो कुत्सित मार्ग पर चल रहे है उन लोगों को सुमार्ग पर लाने के लिए राजा दण्ड धारण करता है। राजा न्याय के द्वारा सभी के विवादों को शान्त कर प्रजा की रक्षा करता है।[1476]

मनु के अनुसार राजा सभी प्राणियों की रक्षा के लिए दण्ड धारण करता है।[1477] उस दण्ड के भय से ही सभी प्राणी अपने–अपने भोगों को भोगने में समर्थ होते हैं तथा अपने धर्म से विचलित नहीं होते हैं।[1478] राजा को देश, काल, सामर्थ्य और विद्या इनके विषय में भलीप्रकार विचार करके अन्यायपूर्ण व्यवहार करने वाले लोगों में जो जिस दण्ड के योग्य हो तदनुसार दण्ड का प्रयोग करना चाहिए।[1479] आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार राजा को यदि सन्देह हो तो दण्ड देने में शीघ्रता न करे। बल्कि साक्ष्यों के आधार पर प्रश्न करके तथा शपथ दिलाकर राजा अपराध पर विचार कर दण्ड दे। इस प्रकार कर्त्तव्य करने वाला राजा दोनों लोकों को प्राप्त करता है।[1480] दण्ड सम्पूर्ण प्रजाओं पर शासन करता है। दण्ड सभी की सब ओर से रक्षा करता है। सबके सोने पर दण्ड जागता है अर्थात् राजपुरुषों के सो जाने पर भी दण्ड के भय से ही चौरादि की चोरी करने में प्रवृत्ति नहीं

दण्डाभावे परिध्वंसी मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते।।का०नी० 36–38,40

[1474] स हि सर्वस्य लोकस्य युक्तदण्डतया मनः।
आददे नातिशीतोष्णो नभस्वानिव दक्षिणः।।र०वं०4.8

[1475] न खरो न च भूयसा मृदुः पवमानः पृथिवीरुहानिव ।
स पुरस्कृतमध्यमक्रमो नमयामास नृपाननुद्धरन्।।र०वं० 8.9

[1476] नियमयसि विमार्गप्रस्थितानात्तदण्डः प्रशमयसि विवादं कल्पसे रक्षणाय । अ०शा० 5.8

[1477] तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।।मनु० 7.14

[1478] यस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च।।मनु० 7.15

[1479] तं देशकालौ शक्तिं च विद्यां चावेक्ष्य तत्त्वतः।
यथार्हतः सम्प्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिषु।। मनु० 7.16

[1480] न च सन्देहे दण्डं कुर्यात् ।।आप०ध०2.5.2
सुविचितं विचित्या दैवप्रश्नेभ्यो राजा दण्डाय प्रतिपद्यत ।। आप०ध० 2.5.3
एवंवृतो राजोभौ लोकावभिजयति ।। आप०ध० 2.5.4

होती हैं। इसलिए विद्वानो ने दण्ड को ही धर्म माना है।[1481] भलीप्रकार विचार करके धारण किया गया दण्ड सम्पूर्ण प्रजा को प्रसन्न करता है। किन्तु बिना विचारे प्रयोग किया गया दण्ड ही सब ओर विनाश कर देता है।[1482] यदि राजा आलस्य के वशीभूत होकर दण्डनीय अपराधियों को दण्ड नहीं देता। तो बलवान् लोग दुर्बलों को मछलियों के समान लोहे की छड़ों पर पका डालने में कसर न छोड़े।[1483] दण्ड के अभाव में किसी पर किसी का शासन नहीं हो सकेगा तथा निकृष्टलोग उन्नति को प्राप्त कर लेंगे।[1484] सम्पूर्ण संसार दण्ड द्वारा ही नियन्त्रित होता है। पवित्र आचरण वाले सज्जन दुर्लभ ही होते हैं। इसलिए दण्ड के भय से ही सम्पूर्ण संसार भोगों को भोगने के लिए समर्थ होता है।[1485] प्रजा तब व्याकुल नहीं होती हैं जब दण्ड का विधान करने वाला राजा सही निर्णय लेता है।[1486] दण्ड का प्रयोग करने वाले राजा को सत्यवादी, एक अच्छा समीक्षक ,विवेकसम्पन्न एवं धर्म, अर्थ, काम को जानने वाला होना चाहिए।[1487] राजा दुष्यन्त के राज्य में शासन व्यवस्था धर्मानुसार चलती थी। किसी भी वर्ण का व्यक्ति अधर्म का आचरण नहीं करता था।[1488]

प्रजा में राजा के युक्तदण्ड का भय इस प्रकार व्याप्त होना चाहिए। कि कोई मन से भी पाप करने की न सोचे।[1489] शुक्रनीति के अनुसार जिस राजा से प्रजा परेशान हो जिसके कार्य की लोग निन्दा करे और जिसके संसर्ग को धनवान् एवं गुणीजन छोड़ दे ऐसे राजा को अधम राजा कहा गया है।[1490] मनु कहते हैं जो राजा मन्त्री, सेनापति आदि की सहायता से रहित, मूढ़, लोभी, शास्त्रों द्वारा परिष्कृत बुद्धि से रहित तथा सांसारिक विषयों में आसक्त होता है वह न्यायपूर्वक दण्ड का प्रयोग नहीं कर सकता। दण्ड का प्रयोग तो

[1481] दण्डाः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति ।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डां धर्मं विदुर्बुधाः।।मनु० 7.18

[1482] समीक्ष्य स धृतः सम्यक्सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः।। मनु० 7.19

[1483] यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः।। मनु० 7.20

[1484] स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तेताधरोत्तरम् ।।मनु०7.21

[1485] सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।
दण्डस्य भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते।।मनु० 7.22

[1486] प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत् साधु पश्यति।। मनु० 7.25

[1487] तस्याहुः सम्प्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ।।मनु०7.26

[1488] महाभागः कामं नरपतिरभिन्नस्थितिरसौ न कश्चिद्वर्णानामपथमपकृष्टोऽपि भजते ।। अ०शा० 5.10

[1489] अकार्यचिन्तासमकालमेव प्रादुर्भवंश्चापधरः पुरस्तात् ।
अन्तःशरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता ।।र०व० 6.39

[1490] प्रजा सूद्विजते यस्माद् यत्कर्म परिनिन्दति ।
त्यज्यते धनिकैर्यस्तु गुणिभिस्तु नृपाधमः।। शु०नी०1.127

सत्यप्रतिज्ञा वाले, पवित्र विचारों वाले, शास्त्रों के अनुकूल आचरण करने वाले, नीतिज्ञ मन्त्री सेनापति आदि से युक्त बुद्धिमान् राजा द्वारा ही दण्ड का उचित प्रयोग किया जा सकता है।[1491]

5.2.3.1.7 मित्र एवं कालिदासीय सन्दर्भ

प्रत्येक राष्ट्र का विकास परस्पर सहयोग की भावना से ही होता है। यह सहयोग की भावना ही मित्रता में बदलती है। एक राष्ट्र आपत्ति आने पर अपने मित्र राष्ट्रों से ही सहयोग की अपेक्षा करता है। अतः राजा को चाहिए कि विचारपूर्वक अपने मित्रों को पहचानें। मित्र के विषय में कालिदास का मत है कि राजा को अधम और समृद्ध दोनों प्रकार के राजाओं से मित्रता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि अधम उपकार करने वाला नहीं होता और समृद्ध विरुद्ध चेष्टायें करता है अतः राजा को मध्यमश्रेणी के राजाओं से ही मित्रता करनी चाहिए।[1492] आचार्य कौटिल्य के अनुसार राजा को निम्नलिखित राष्ट्रों या राजाओं को अपना मित्र बनाना चाहिए।[1493]

- जो पितृपितामह की परम्परा से मित्रता निभा रहे हों।
- जिनकी मित्रता में दिखावापन न हो।
- जो मित्र हमारी बातों को मानने वाला हो।
- जो भेदभाव से रहित हो।
- जो प्रभु, मन्त्र, उत्साह आदि शक्तियों से युक्त हो।
- जो अवसर प्राप्त होने पर सहायता के लिए तैयार हो जाँय।

मित्रों में इन गुणों का होना ही मित्रसम्पत् कहलाता है। राजा से लेकर मित्र तक ये सात प्रकृतियाँ एक दूसरे के सहायक हैं, ये सात प्रकृतियाँ राजसम्पत्ति नाम से कही जाती है। आत्मसम्पत्ति से युक्त राजा अपने–अपने गुणों से रहित प्रकृतियों को भी गुणों से सम्पन्न बना लेता है। इसी कारण वह थोड़ी भूमि का मालिक होता हुआ भी प्रकृतिसम्पत्ति से युक्त हुआ सम्पूर्ण पृथिवी को जीत लेता है और कभी क्षीणता को प्राप्त नहीं होता। इसके

[1491] सोऽसहायेन मूढ़ेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना ।
न शक्यतो न्यायतो नेतुं सक्तेन विषयेषु च ।।
शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा ।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता।। मनु० 7.30–31

[1492] हीनान्यनृपकर्तृणि प्रवृद्धानि विकुर्वते ।
तेन मध्यमशक्तीनि मित्राणि स्थापितान्यतः।।र०वं० 17.58,पृ० 240

[1493] पितृपैतामहं नित्यं वश्यमद्वैध्यं महल्लघुसमुत्थमिति मित्रसंपत् ।।अर्थशा० 6.1.12,पृ० 207

विपरीत आत्मसम्पत्ति से रहित राजा गुणसमृद्ध और अनुरक्त प्रकृतियों को भी नष्ट कर देता है। इसी कारण वह चतुःसमुद्रपर्यन्त भूमि का अधिपति होता हुआ भी या तो अमात्य आदि प्रकृतियों के द्वारा मार दिया जाता है अथवा शत्रुओं के वश में हो जाता है।[1494]

5.3 राजतंत्र एवं जनव्यवहार में लिखितकार्यप्रणाली

कवि कालिदास के समय में राजशासन की प्रणाली में लिखित कार्य को महत्त्व दिया जाता था। अभिज्ञानशाकुन्तल में जब राजा के नाम से अंकित अंगूठी मछुवारे के पास प्राप्त होती है तो उसे सजा देने के लिए राजा का साला राजा के पास जाता है जब वह वहाँ से लोटता है तो उसे दूर से ही राजपत्र हाथ में लिया देखकर अन्य राजसेवक कहते हैं निश्चित ही इस मछुवारे को दण्ड मिला होगा। यहाँ कवि ने राजशासन, पत्रहस्त शब्दों का प्रयोग किया है।[1495] आचार्य शुक्र का कथन है कि जिस लेख पर राजा का हस्ताक्षर हो अथवा राजमुद्रा अंकित हो या राजा के आदेश से मन्त्रियों की मुहर लगी हो तो उसे राजकीय पत्र कहते हैं।[1496]

कौटिल्य का मानना है कि पत्र आदि पर लिखित कार्य को ही विद्वान् आचार्य शासन कहते हैं, राजा लोग शासन का ही विशेष आदर करते हैं। क्योंकि सन्धि विग्रह आदि सम्बन्धी कार्य शासन मूलक ही होते हैं। इसलिए राजा के साथ ऐसा लेखक होना चाहिए, जो अमात्य गुणों से युक्त, सभी प्रकार के आचार विचार को जानने वाला, शीघ्रता के साथ सुन्दर काव्य योजना करने वाला, सुन्दर अक्षर लिखने वाला, सभी प्रकार के लेख को पढ़ने और लिखने में समर्थ, जो सावधान होकर राजा के सन्देश को अच्छी प्रकार सुनकर फिर पूर्व अपर का विचार करके निश्चित अर्थ वाला लेख लिखने में समर्थ हो।[1497]

[1494] अरिवर्जाः प्रकृतयः सप्तैताः स्वगुणोदयाः ।
उक्ताः प्रत्यङ्गभूतास्ताः प्रकृता राजसम्पदः।।
संपादयत्यसम्पन्नारू प्रकृतीरात्मवान्नृपरू।
विवृद्धाश्चानुरक्ताश्च प्रकृतीर्हन्त्यनात्मवान्।।
ततः स दुष्टप्रकृतिश्चातुरन्तोप्यनात्मवान्।
हन्यते वा प्रकृतिभिर्याति वा द्विषतां वशम्।
आत्मवांस्त्वल्पदेशोपि युक्तरू प्रकृतिसंपदा।।अर्थशा०6.1.15–18 ,पृ० 207–208

[1495] एष नौ स्वामी पत्रहस्तौ राजशासनं प्रतीक्ष्येतोमुखो दृश्यते । गृध्रबलिर्भविष्यसि शुनो मुखं वा द्रक्ष्यसि।।अ०शा० 6, पृ० 99

[1496] राज्ञा स्वहस्तसंयुक्तं स्वमुद्राचिह्नितं तथा।
राजकीयं स्मृतं लेख्यं प्रकृतिभिश्च मुद्रितम्। शु०नी० 4.5.177,पृ० 687

[1497] शासने शासनमित्याचक्षते । शासनप्रधाना हि राजानः। तन्मूलत्वात्सन्धिविग्रहयोः। तस्मादमात्यसम्पदोपेतः सर्वसमयविदाशुग्रन्थश्चार्वक्षरो लेखवाचनसमर्थो लेखकः स्यात् सोऽव्यग्रमना राज्ञः सन्देशं श्रुत्वा निश्चितार्थं लेखं विदध्यात्।। अर्थशा० 2.10.1–5 पृ०146

राजा दुष्यन्त मन्त्री के लिए सूचना भिजवाकर कहता है कि आज सभाभवन में मेरा आना सम्भव नहीं है इसलिए प्रजा का जो भी कार्य हो उसे पत्र पर लिखकर मेरे पास भिजवा दो।[1498] बाद में प्रतीहारी लिखित पत्र हाथ में लेकर आती है और राजा से अमात्य की बात कहती है। अमात्य कहता है आज का सारा दिन कई विभागों के रूपये पैंसे के जोड़ लगाने में बीत गया । इसलिए प्रजा का केवल एक ही काम मैं देख पाया हूँ।[1499] धनमित्र नामक व्यापारी की नाव दुर्घटना में मृत्यु होने से उसकी सन्तान के अभाव में उसकी सम्पत्ति राजकोष में जमा करने के लिए मन्त्री ने लिखा है।[1500]

हम जब महाकवि कालिदास की रचनाओं का अध्ययन करते हैं तो कही तथ्य हमारे सामने आते हैं। भारत की शिक्षा पद्धति प्राचीनकाल से ही मझबूत रही है। दोनों वर्गों पुरुष और महिलाओं की शिक्षा पर ध्यान दिया जाता था। अभिज्ञानशाकुन्तल में शकुन्तला कण्व ऋषि के आश्रम से शिक्षित हुई हैं वह लेखन की कला में निपुण है, जब शकुन्तला की सखि उससे राजा के लिए पत्र लिखने के लिए कहती है तो उस समय वह अपनी सखियों से लिखने के साधन माँगती हैं, उसकी सखियाँ कमलिनी के पते पर ही नखों से लिखने को कहती हैं। फिर शकुन्तला कमलिनी के पते पर स्वयं लिखती है।[1501] इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि कवि कालिदास के समय में भारत में महिलाओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

कवि के समय में लेखनप्रणाली पत्रव्यवहार प्रचलन में था, उस समय दूरदेश में गये अपने प्रियजन से वार्ता का साधन केवल पत्रव्यवहार ही होता था। अनसूया कहती है इतना समय व्यतीत हो गया पर राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला के लिए एक भी पत्र नहीं भेजा।[1502]

5.3.1 वादी, प्रतिवादी एवं कालिदासीय सन्दर्भ

कलिदास ने रघुवंश में विवेचन किया कि राम और रावण उसी प्रकार विजय प्राप्त करने के निमित्त अस्त्र–शस्त्रों का प्रयोग कर रहे हैं जिस प्रकार वादी प्रतिवादी एक दूसरे को पराजित करने के लिए अनेक प्रकार की युक्तियों का प्रयोग करते हैं।[1503] प्राचीन भारतीय न्यायव्यवस्था में राजा ही प्रायशः वादविवादों का निपटारा करता था किन्तु जब राजा

[1498]वेत्रवति !मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि। चिरप्रबोधनान्न सम्भावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम् । यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति।।अ०शा० 6,पृ०107

[1499] अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैकमेव पौरकार्यमवेक्षितं तद्देवः पत्रारूढ़ं प्रत्यक्षीकरोतु।।अ०शा० 6,पृ०120

[1500] राजगामी तस्यार्थसञ्चय इत्येतदमात्येन लिखितम्।।अ०शा० 6,पृ०121

[1501] शकुन्तला –हला चिन्तितं मया गीतवस्तु । न खलु सन्निहितानि पुनर्लेखनसाधनानि।
प्रियम्वदा– एतस्मिन्छुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे नखैर्निक्षिप्तवर्णं कुरु। यथोक्तं रूपयित्वा।।अ०शा० 3,पृ०49

[1502] एतावतः कालस्य लेखमात्रमपि न विसर्जयति ।।अ०शा०,4, पृ० 62

[1503] वचसैव तयोर्वाक्यमस्त्रमस्त्रेण निघ्नतोः।
अन्योन्यजयसंरम्भो ववृधे वादिनोरिव। र०वं० 1.92,पृ० 188

किसी कारणवश वादविवादों को देखने में समर्थ नहीं होता था तब उसकी अनुपस्थिति में प्राड्विवाक न्यायव्यवस्था में सभासदों के साथ मिलकर वादविवादों का निपटारा करता था। प्राड्विवाक वादी–प्रतिवादी से पूछता है इसलिए प्राड् कहलाता है और विचार करता है इसलिए विवाक कहलाता है, इसलिए उसे प्राड्विवाक कहा जाता है।[1504] आज की भाषा में प्राड्विवाक को न्यायाधीश शब्द से सम्बोधित किया जाता है। धर्मशास्त्र में वर्णित आचरण के विपरीत यदि कोई व्यक्ति किसी को पीडित करता है, उसका शोषण करता है तो उसके विरुद्ध न्यायालय में राजा के पास जो दावा पेश किया जाता है उसे व्यवहारपद अर्थात् मुकदमा दायर करना कहा जाता है।[1505] जिस व्यक्ति ने मुकदमा दायर किया है उससे राजा पूछता है तुम्हें किस व्यक्ति ने कहाँ, किस समय और क्यों पीडा पहुँचाई है? और जिस समय राजा वादी से पूछता है उस समय लेखक उसकी कही बातों को उस समय की प्रचलित भाषा में लिखता है। किन्तु यदि कोई लेखक वादी–प्रतिवादी की कही हुई बातों को जैसा वह कहे उससे भिन्न लिखता है तो राजा तत्परता के साथ उस लेखक को चोर की तरह दण्ड देता है।[1506] राजा वादी–प्रतिवादी के साक्ष्यों को देखने में कालक्षेप न करे । बल्कि वादी–प्रतिवादी के सामने ही मुकदमे की कारवाही करे, उनकी अनुपस्थिति में न करे। झूठा प्रमाण उपस्थित करने वाले वादी या प्रतिवादी को मुकदमे के अनुसार दण्डित करना चाहिए ,झूठी गवाही देने वाले तथा अपराध के प्रमाण को नष्ट करने वाले को दुगुना जुर्माना या दण्ड देना चाहिए।[1507]

5.4 प्रजा की सम्पत्ति का अधिकारी एवं कालिदासीय सन्दर्भ

यदि राजा को किसी का भी धन प्राप्त हो तो राजा का कर्त्तव्य है कि वह उस धन के स्वामी की खोज कर उसे लोटा दे। अभिज्ञानशाकुन्तल में समुद्रव्यापारी धनमित्र की मृत्यु के बाद उसके धन को सन्तान के अभाव के कारण राजकोष में जमा किया जा रहा था । किन्तु जब दुष्यन्त को पता लगा कि उसकी रानी गर्भवती है तो दुष्यन्त ने उस धन का

[1504] प्राड्विवाको नृपाभावे पृच्छेदेव सभागतम्।
वादिनौ पृच्छति प्राड् वा विवाको विविनक्त्यतः।
विचारयति सभ्यैर्वा धर्माधर्मान् विवक्ति च।।शु०नी० 4.5.65,66,पृ० 647

[1505] स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाधर्षितः परैः।
आवेदयति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत्।शु०नी० 4.5.68,पृ० 648

[1506] केन कस्मिन् कदा कस्मात् पीडितोऽसि दुरात्मना।
एवं पृष्ट्वा स्वभावोक्तं तस्य संशृणुयाद् वचः।।
प्रसिद्धलिपिभाषाभिस्तदुक्तं लेखको लिखेत् शु०नी० 4.5.61–63

[1507] न कालहरणं कार्यं राज्ञा साधनदर्शने ।
अर्थिप्रत्यर्थिप्रत्यक्षं साधनानि प्रदर्शयेत्।
अप्रत्यक्षं तयोर्नैव गृह्णीयात् साधनं नृपः।।
कूटसाधनकारी तु दण्ड्यः कार्यानुरूपतः।
द्विगुणं कूटसाक्षी तु साक्ष्यलोपी तथैव च।। शु०नी० 4.5.167,168,171

स्वामी उस गर्भ के बालक को ही बना दिया । याज्ञवल्क्य कहते हैं कि किसी की खोई हुई वस्तु अपने सेवकों के माध्यम से पाकर राजा उस धन के अधिकारी को वह वस्तु लोटा दे।

किन्तु यदि धन का स्वामी चिह्नों द्वारा प्रमाणित न कर सके तो उसके समान दण्ड का भागी होता है।[1508]

5.5 षाड्गुण्य एवं कालिदासीय सन्दर्भ

महाराज अतिथि यह भलीभाँति जानते थे कि सन्धि,विग्रह,यान,आसन,संश्रय और द्वैधीभाव इन छः राजगुणों को कैसे उपयोग में लाना चाहिए।[1509]

आचार्य कौटिल्य ने षाड्गुण्यसमुद्देश में विस्तार से चर्चा की है (1)सन्धि–दो राजाओं का किसी शर्त पर मेल हो जाना। (2) विग्रह– शत्रु का कोई अपकार करना। (3) आसन–शत्रु की उपेक्षा करना। (4)यान– शत्रु पर चढ़ाई करना। रघुवंश में महाराज अतिथि शक्तिशाली थे इसलिए शक्तिशाली राजाओं पर ही चढ़ाई करते थे, किन्तु चढ़ाई करने से पहले वे अपने और अपने शत्रु के बल और दोष को भलीभाँति तौल लेते थे और शत्रु पर तभी आक्रमण करते थे जब शत्रु से अपना बल अधिक देखते थे, नहीं तो चुप बैठे रहते थे।[1510] (5) संश्रय–शत्रु के सम्मुख आत्मसमर्पण करना। (6) द्वैधीभाव–सन्धि–विग्रह दोनों से काम लेना। यही छह गुण हैं। शत्रु की तुलना में अपने को निर्बल समझने पर सन्धि कर लेनी चाहिए। रघुवंश में रावण ने पाण्ड्य नरेश को बलवान मान कर ही उसके साथ सन्धि कर ली।[1511]

यदि शत्रु की तुलना में स्वयं को बलवान् समझा जाय तो विग्रह कर देना चाहिए। यदि शत्रुबल और आत्मबल में कोई अन्तर न समझे तो आसन को अपना लेना चाहिए। यदि स्वयं को सर्वशक्तिसम्पन्न समझे तो चढ़ाई (यान) कर देनी चाहिए। अपने को निरा अशक्त समझने पर संश्रय से काम लेना चाहिए। यदि सहायता की अपेक्षा समझे तो द्वैधीभाव को

[1508] प्रनष्टाधि गतं देयं नृपेण धनिने धनम् ।
विभावयेन्न चेल्लिङ्गैस्तत्समं दण्डमर्हति ।। याज्ञ० 2.33

[1509] स गुणानां बलानां च षण्णां षण्मुखविक्रमः।
बभूव विनियोगजः साधनीयेषु वस्तुषु।।रघु० 17.67

[1510] शक्येष्वेवाभवद्यात्रा तस्य शक्तिमतः सतः ।
समीरणसहायोऽपि नाम्भःप्रार्थी दवानलः।।
परात्मनोः परिच्छिद्य शक्त्यादीनां बलाबलम् ।
ययावेभिर्बलिष्ठश्चेत्परस्मादास्त सोऽन्यथा।।र०वं०17.56,59 पृ० 240–241

[1511] पुरा जनस्थानविमर्दशङ्की संधाय लङ्काधिपतिः प्रतस्थे ।।र०वं० 6.62,पृ० 55

अपनाना चाहिए।[1512] मनु भी षड्गुणों की चर्चा करते हैं, उनका मत है कि राजा को सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और संश्रय इन छः गुणों का हमेशा चिन्तन करना चाहिए तथा कार्य को भलीभांति देखकर के ही इनका प्रयोग करना चाहिए।[1513] इन षाड्गुण्यों की चर्चा याज्ञवल्क्य ने भी की है।[1514] उनका मानना है कि राजा को जब शत्रु का राज्य अन्न आदि से भरापूरा हो, शत्रु की सेना दुर्बल हो और अपनी सेना के अश्वादि वाहन एवं सैनिक प्रसन्न एवं उत्साहपूर्ण हों तब आक्रमण करना चाहिए।[1515]

उपसंहार

पञ्चम अध्याय में कालिदास की कृतियों में राजनीतिशास्त्र का विवेचन और तत् –तत् शास्त्रों में वह सिद्धान्त कहाँ दृष्टिगोचर होता है उसका विवेचन किया गया है जिसके अन्तर्गत किस प्रकार राज्य की सुरक्षा की जा सकती है। कालिदास का राजनीतिज्ञान राजनीति शास्त्रों के सिद्धान्तों के अनुरूप था, उन्होंने अपनी कृतियों में सप्ताङ्गसिद्धान्त, चार उपाय, षाड्गुण्य, राजनीति में लेखन का महत्त्व इत्यादि विषयों का विवेचन किया है। इस अध्याय के अध्ययन से निश्चित ही राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में रुचि रखने वाले छात्र लाभान्वित होंगे और यह भी समझ पायेगें कि एक कवि किस प्रकार अपनी रचनाओं में उपदेश हेतु विविध शास्त्रीय तत्त्वों का उल्लेख करता है जो हमारे जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी होते हैं। कवि अपने लेखन के माध्यम से समाज का अत्यन्त उपकार करता है वह केवल मनोरञ्जन ही नहीं करता बल्कि वह मनोरञ्जन के साथ अपने देश के लोगों को राष्ट्र की उन्नति के लिए उसकी रक्षा के लिए सतत प्रेरित करता है, इसी कारण वह राजनीति शास्त्रीय सिद्धान्तों को अपनी कृतियों में स्थान देता है। जिससे पाठक राजनीतिशास्त्रीय सिद्धान्तों का अध्ययन कर उचित नीति की सहायता से अपने राष्ट्र के विकास में योगदान देता है। भारतीय राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त आज भी उतने ही प्रासङ्गिक है जितने प्राचीन काल में। Political Science का अध्ययन करने

[1512] तत्र पणबन्धः सन्धिः,अपकारो विग्रहः, उपेक्षणम् आसनम् , अभ्युच्चयो यानम् , परार्पणं संश्रयः, सन्धिविग्रहोपादानं द्वैधीभाव इति षड्गुणाः।। कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम, परस्माद्धीयमानः सन्दधीत । अभ्युच्चीयमानो विगृह्णीयात् । न मां परो नाहं परमुपहन्तुं शक्त इत्यासीत् । गुणातिशययुक्तो यायात् । शक्तिहीनः संश्रयेत । सहायसाध्ये कार्ये द्वैधीभावं गच्छेत् ।।अर्थ० 7.1 षाड्गुण्यसमुद्देशः

[1513] सन्धिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च ।
द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत्सदा।
कायं वीक्ष्य प्रयुञ्जीत द्वैधं संश्रयमेव च ।।मनु०7.160

[1514] सन्धिं च विग्रहं यानमासनं संश्रयं तथा ।
द्वैधीभावं गुणानेतान् यथावत्परिकल्पयेत्।। याज्ञ० 1.347

[1515] यदा सस्यगुणोपेतं परराष्ट्रं तदा व्रजेत् ।
परश्च हीन आत्मा च हृष्टवाहनपूरुषः।।याज्ञ० 1.348

वाला आज के विद्यार्थियों को इन ग्रन्थों का अध्ययन अवश्य कराया जाना चाहिए, तभी वे अपने प्राचीन भारतीयराजनीति को समझने में सक्षम होंगे। जैसे कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, मनुस्मृति के सातवें अध्याय में जहाँ राजनीति का स्वरूप बताया गया है, शुक्रनीति ,याज्ञवल्क्यस्मृति आदि ग्रन्थ।

षष्ठ अध्याय

कालिदासीय कृतियों में वैज्ञानिकतथ्य

6.1 कालिदासीय कृतियों में पर्यावरणविज्ञान

आज के इस भौतिकवादी युग में जहाँ लोग वृक्षों को काटने में लगे हैं जिससे कही समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है वहीं महाकवि कालिदास के प्रकृति प्रेम को देखते हैं तो निश्चित ही प्रकृति संरक्षण के प्रति हमारा ध्यान स्वतः ही खींच कर चला जाता है। अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त में जिस पर्यावरण चेतना का साक्षात् दर्शन मिलता है, उसी का निदर्शन शाकुन्तलम् में वर्णित है, अभिज्ञानशाकुन्तलम् का शुभारम्भ नान्दीस्वरूप जिस मङ्गलपद्य से किया गया है, उसमें महाकवि की पर्यावरण चेतना अभिव्यक्त होती है। इस पद्य में वन्दना करते हुए पर्यावरण के प्रमुख आठ तत्त्वों का उल्लेख किया गया है, ये आठ तत्त्व हैं–जल, अग्नि, सूर्य चन्द्रमा, यजमान,आकाश,पृथ्वी और वायु। इनके द्वारा पर्यावरण की रक्षा होती है। वृक्ष, लता,पुष्पादि से तथा मयूर,मृग आदि अन्य पशुओं से कालिदास के पात्रों का हार्दिक अनुराग है।

कवि कालिदास की पर्यावरण संरक्षण की दृष्टि अत्यन्त प्रशंसनीय है,उन्होंने अपनी कृतियों में वृक्षों के प्रति पुत्रवत् भाव के लिए प्रेरित किया है अर्थात् जिस प्रकार व्यक्ति अपने पुत्रों के प्रति समर्पित होता है उसी प्रकार पर्यावरण के प्रति समर्पण भाव होना चाहिए।[1516] मेघदूत में कवि लिखते हैं कि यक्ष की पत्नी वृक्ष को अपना पुत्र समझकर पालती है।[1517] पर्यावरण के प्रति कवि का अत्यधिक लगाव है वे यह मानते हैं कि वृक्षों को जल देना अपने पुत्र को दूध पिलाने के समान आनन्ददायक है।[1518] कुमारसम्भव में पार्वती जी छोटे–छोटे वृक्षों को लगाकर प्रतिदिन घड़ों से सींचती हैं और उन वृक्षों पर पुत्र के समान प्रेम करती हैं। कुमार के जन्म के अनन्तर भी पार्वती का उन वृक्षों के प्रति बना पुत्रभाव कम नहीं हुआ ।[1519]

अभिज्ञान शाकुन्तल में शकुन्तला सुबह उठकर तब तक जल ग्रहण नहीं करती है जब तक वृक्षों को नहीं सींच लेती। वृक्षों के प्रति स्नेह के कारण उनके पत्तियों को नहीं

[1516] अमुं पुरा पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन ।
यो हेमकुम्भस्तनिःसृतानां स्कन्धस्य मातुः पयसां रसज्ञः।। र०वं० 2.36

[1517] यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे।
हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्षः।।मे०दू० 2.15

[1518] पयोघटैराश्रमपालवृक्षान् संवर्धयन्ती स्वबलानुरूपः।
असंशयं प्राक् तनयोपपत्तेः स्तनन्धयप्रीतिमवाप्स्यसि त्वम्।।र०वं० 14.77

[1519] अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान्घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धयत् ।
गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मनां न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति ।। कु०स० 5.14

तोड़ती है, जब वृक्षों में फूल की कलियाँ आती हैं तो प्रसन्न होकर उत्सव मनाने लगती हैं।[1520] शकुन्तला न केवल वृक्षों का ही संरक्षण करती हैं अपितु पुत्र का मृग के समान पालन करती हैं। जब कुशा से मृगशावक का मुख छिल जाता है तो शकुन्तला इङ्गुदी का तेल लगाकर उसके घावों को ठीक करती है। वही जब शकुन्तला पति के घर की ओर जाने लगती है तो मृग शावक उसे जाने से रोकने लगता है।[1521] यहाँ कवि ने प्रकृति और मानव के बीच एक स्नेहमय सम्बन्ध को दिखाने का प्रयास किया है। इन सभी उदाहरणों में हमें कवि का प्रकृति प्रेम दृष्टि गोचर होता है। कवि ने प्रकृति के प्रति अपना तादात्म्य भाव दिखाया है। कालिदास ने सन्देश भी दिया कि पर्यावरण की रक्षा के द्वारा ही हमारी रक्षा सम्भव है, हमारा जीवन वृक्षों पर आधारित है। अतः पर्यावरण की रक्षा प्रत्येक व्यक्ति को करनी चाहिए।

6.2 कालिदासीय कृतियों में कृषिविज्ञान

भारत में कृषिविज्ञान प्राचीन काल से ही चला आ रहा है लोग पृथ्वी पर खेती करते थे, विविध प्रकार के अन्न के बीजों को बोते थे। कालिदास लिखते हैं यदि समय पर पृथ्वी में बीज बोया जाता है तो वह अवश्य फल देने वाला होता है।[1522] ऋतु एक वर्ष का छोटा कालखंड है जिसमें मौसम की दशाएँ एक खास प्रकार की होती हैं। वसन्त ,ग्रीष्म ,वर्षा,शरद्, हेमन्त, शिशिर, प्रत्येक ऋतु में दो–दो महीनें होते हैं। यह कालखण्ड एक वर्ष को कई भागों में विभाजित करता है जिनके दौरान पृथ्वी के सूर्य की परिक्रमा के परिणामस्वरूप दिन की अवधि, तापमान, वर्षा, आर्द्रता इत्यादि मौसमी दशाएँ एक चक्रीय रूप में बदलती हैं। ऋतु परिवर्तन का कारण पृथ्वी द्वारा सूर्य के चारों ओर परिक्रमण और पृथ्वी का अक्षीय झुकाव है। पृथ्वी का घूर्णन अक्ष इसके परिक्रमा पथ से बनने वाले समतल पर लगभग 66.5 अंश का कोण बनता है जिसके कारण उत्तरी या दक्षिणी गोलार्धों में से कोई एक गोलार्द्ध सूर्य की ओर झुका होता है। यह झुकाव सूर्य के चारो ओर परिक्रमा के कारण वर्ष के अलग–अलग समय अलग–अलग होता है जिससे दिन–रात की अवधियों में घट–बढ़ का एक वार्षिक चक्र निर्मित होता है। यही ऋतु परिवर्तन का मूल कारण बनता है। प्रत्येक ऋतु में वातावरण परिवर्तन के कारण खेतों में

[1520] पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्माष्वपीतेषु या।
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम् ।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।अ०शा० 4.9

[1521] यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे ।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते।।अ०शा० 4.14

[1522] वसुन्धरा काल इवोप्तबीजा।। अ०शा० 6.24, पृ० 111

अलग–अलग बुवाई की जाती है। कालिदास ने ऋतुसंहार में छः ऋतुओं का विवेचन किया है, इन्हीं ऋतुओं के प्रसंग में उन्होंने तत्कालीन कुछ फसलों की भी चर्चा की है ,उन्होंने हेमन्त और शिशिर ऋतु में गॉव के आस–पास धान की खेती और शिशिर ऋतु में गन्ने की खेती के पकने की बात की है। परिणतबहुशालिव्याकुलग्रामसीमा।[1523] प्ररूढशालीक्षुचयावृतक्षितिम्।[1524] स्वादुशालीक्षुरम्यः।[1525] शिशिर ऋतु में इक्षु से बनाया गया गुड उस गुड से बने हुए कई प्रकारके पदार्थों का लोग आनन्द लेते थे।[1526] कालिदास के इस विवेचन से तत्कालीन समाज में भी गुड आदि से मिठाईयाँ के निर्माण की व्यवस्था रही है।

सामान्यतः देखा जाता है कि किसान भूमि पर फसल काटने के बाद खरपतवार को जला देते है। जिससे भूमि अत्यधिक उपजाऊ हो जाती है। कवि कालिदास भी इस मत से सहमत प्रतीत होते हैं, उनका कहना है कि जंगल की लकड़ी की आग चाहे एक बार पृथ्वी को जला भले दें किन्तु वह पृथ्वी को इतनी उपजाऊ तो बना ही देती है कि आगे उसमें बड़ी अच्छी उपज होती है।[1527]

6.3 कालिदास के समय दीपप्रज्वालन की व्यवस्था

आधुनिक समय में निरन्तर तकनीकीशिक्षाओं पर अत्यधिक बल दिया जा रहा है ताकि नई नई तकनीकियाँ विकसित हों और मानव का कार्य सरल हो जाय। मनुष्य रात्रि में देखने में समर्थ नहीं हैं ,वैज्ञानिकों ने आज ऐसी तकनीकियाँ विकसित की हैं जिनसे रात और दिन समान ही लगने लगे हैं। किसी भी समाज का विकास धीरे–धीरे ही होता है ,किन्तु हमारे मन में यह प्रश्न अवश्य उठता होगा कि प्राचीन भारत के लोगों का जीवन कितना कठिन रहा होगा। जब रात्रि में वे कार्य करना चाहते होंगे तो कौन–कौन से साधन रहे होंगे जिनकी सहायता से वे रात्रि में अपने कार्यों को पूर्ण करते रहे होंगे। इसका उत्तर हम जब कालिदास की कृतियों में ढूढ़ते हैं तो कुछ साक्ष्य हमें प्राप्त होते हैं। प्राचीन काल में रात्रि के अन्धकार को दूर करने का साधन दीपक था , दीपक प्रायशः इङ्गुदी के तेल से जलाया जाता था, विशेषकर यज्ञशालाओं में इस तेल का प्रयोग किया जाता था। कालिदास ने पर्णशालाओं में इङ्गुदी के तेल से दीपक जलाने का वर्णन किया है।[1528]

[1523] ऋ०सं०4.19, पृ० 361
[1524] ऋ०सं० 5.1, पृ० 362
[1525] ऋ०सं० 5.16,पृ० 364
[1526] प्रचुरगुडविकारः स्वादुशालीक्षुरम्यः।।ऋ०सं० 5.16,पृ० 364
[1527] कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो बीजप्ररोहजननीं ज्वलनं करोति।।र०वं 9.80 ,पृ० 90
[1528] ता इङ्गुदीस्नेहकृतप्रदीपम्।।र०वं०14.81

अमरकोश के अनुसार इङ्गुदी के पर्यायवाची शब्द तापसतरु, भूर्जचर्म, मृदुत्वग् हैं।[1529] कालिदास ने रघुवंश में दीप विषयक सुन्दर उपमा दी हैं जैसे रात को दीपक लेकर चलते हुए जो–जो राजमार्ग के भवन पीछे छूटते चलते हैं वे अंधेरे में पड़कर धुंधले पड़ जाते हैं, वैसे ही जिन–जिन राजाओं को छोड़कर इन्दुमती आगे बढ़ती जाती थी उनका मुंह उदास पड़ता जाता था।[1530]अभिज्ञानशाकुन्तल में कालिदास ने कहा कि दीपक के होने पर भी व्यवधान आने के कारण अंधेरा छा जाता है।[1531]

रघुवंश में राजा अग्निवर्ण क्षयरोग के कारण उस दीपक के पात्र के समान हो गया जिसकी केवल अब थोड़ी सी लो बची हुई है।[1532] कवि ने अपनी कृतियों में दीपक की उपमायें दी हैं जिससे यह निश्चित होता है कि तत्कालीन समाज में रात्रि के अन्धकार को दूर करने का साधन दीपक था।[1533]

6.4 कालिदासीय कृतियों में चिकित्साविज्ञान

6.4.1 कालिदासीय कृतियों में दोहद एवं शास्त्रीयसन्दर्भ

गर्भिणी स्त्री की इच्छा को दोहद कहा जाता है, अमरकोष में भी इच्छा, स्पृहा, अभिलाषा इत्यादि शब्दों के पर्यायवाची के रूप में दोहद शब्द का प्रयोग हुआ है।[1534]कालिदास ने रघुवंश में सुदक्षिणा एवं सीता की इच्छा के लिए दौह्रद[1535] और दोहद[1536] शब्द का प्रयोग किया है, मल्लिनाथ वाग्भट्ट के मत को उद्धृत करते हुए दौह्रद शब्द का अर्थ करते हैं गर्भिणी का ह्रदय एवं गर्भ का ह्रदय अतः दौह्रद कहा जाता है।[1537] दौह्रद अर्थात् गर्भ एवं गर्भिणी की सम्मिलित इच्छा, गर्भवती की इच्छा पूर्ण न करने से गर्भ दोष को प्राप्त करता है। आचार्य चरक का मानना है कि केवल गर्भोपघातक वस्तुओं को छोड़कर गर्भकाल में गर्भिणी स्त्री की जो–जो इच्छा हो उसे अवश्य पूर्ण करना चाहिए, इनका मानना है कि यदि गर्भिणी को तीव्र इच्छा हो तो अहित पदार्थ भी हितकर वस्तु से मिश्रित

[1529] इङ्गुदी तापसतरुर्भूर्जेचर्मिमृदुत्वचौ।[1529]

[1530] सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा ।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रप्रेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः।।र०वं० 6.67,पृ० 95

[1531] अ०शा० 6.25,पृ० 112

[1532] वामनार्चिरिव दीपभाजनम् ।।र०वं० 19.51

[1533] प्रदीप इव वायुमत्यगात् ।।र०वं० 19.53

[1534] अथ दोहदम् इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा।।अ०को०,नाट्यवर्ग, 1.27, पृ०40

[1535] अथेप्सितं भर्तुरुपस्थितोदयं सखीजनोद्वीक्षणकौमुदीमुखम्
निदानमिक्ष्वाकुकुलस्य सन्ततेः सुदक्षिणा दौर्ह्रदलक्षणं दधौ।।र०वं० 3.1,पृ० 75

[1536] अथाधिकस्निग्धविलोचनेन मुखेन सीता शरपाण्डुरेण ।
आनन्दयित्री परिणेतुरासीदनक्षरव्यञ्जितदोहदेन।।र०वं०14.26,पृ० 470

[1537] मातृजमस्य ह्रदयं मातुश्च ह्रदयेन तत् ।
सम्बद्धं तेन गर्भिण्याः श्रेष्ठं श्रद्धाभिमानिनम्।।र०वं० 3.2,वाग्भट्टमतम् मल्लिनाथव्याख्या में उद्धृत, पृ०75

कर माँग को पूरा करने के लिए देना चाहिए। क्योंकि उसकी तीव्र इच्छा को रोकने से वायु प्रकुपित हो जाता है और वह कुपित वायु शरीर में संचार करता हुआ उत्पन्न होते हुए वा वृद्धि को प्राप्त होते हुए गर्भ का नाश वा विरूपता को उत्पन्न कर देता है।[1538]

आचार्य सुश्रुत का मत है कि चतुर्थ मास में गर्भ के स्पष्ट होने अर्थात् हृदय की धड़कन के स्पष्ट सुनाई देने से चेतना स्पष्ट हो जाती है ,क्योंकि चेतना का स्थान हृदय ही है, इसीलिए चतुर्थ मास में गर्भ इन्द्रिय के विषयों में इच्छा करने लगता है अतः गर्भवती स्त्री को दो हृदय वाली होने से दौहृदिनी कहते हैं, दौहृद (गर्भवती) की इच्छा का प्रतिघात होने से संतान कुब्ज ,कुत्सित हाथों वाली, एकपाद से लंगड़ी, जड़, नाटी, विकृत आँखों वाली अन्धी उत्पन्न होती है, गर्भ तथा गर्भवती में विकार आ जाता है, गर्भवती स्त्री की जिन–जिन विषयोंमें पूर्ति नहीं होती, संतान की उन्हीं–उन्हीं इन्द्रियों में पीड़ा होती है, वही–वही इन्द्रियाँ संतान की खराब रहती हैं। गर्भवती की इच्छा के पूर्ण होने से संतान वीर्यशाली और चिरायु, गुणवान् होती है।[1539]

कालिदास के समय में भी चिकित्सा की अच्छी व्यवस्था रही है। उस समय भी वैद्य लोग रोगों का निवारण करते थे। बच्चों की चिकित्सा करनें वाले बहुत से चतुर वैद्य वे सब उपाय कर रहे थे, जिनसे गर्भिणी सुख से बच्चा जनती है और गर्भ पुष्ट होता है।[1540]

कवि के समय में वैद्य रोगों के उपचार के लिए प्रयत्न करते थे किन्तु कभी –कभी रोग का प्रकोप शरीर में इतना बढ़ जाता था कि वैद्य भी रोग का निवारण करने में समर्थ नहीं होते थे। राजा अग्निवर्ण ने वैद्यों के बार–बार समझाने पर भी संयमित जीवन यापन नहीं किया इसी कारण उसे क्षयरोग या राजयक्ष्मा हो गया जिसे आज के समय में हम टीवी की बीमारी कहते हैं। उसका शरीर पीला पड़ गया, वह स्वयं चलने में भी समर्थ नहीं

[1538] सा यद्यद् इच्छेत् तत् तदस्यै दद्यादन्यत्र गर्भोपघातकरेभ्यो भावेभ्यः। तीव्रायां तु खलु प्रार्थनायां काममहितमप्यस्यै हितेनोपहितं दद्यात्प्रार्थनाविनयनार्थं प्रार्थनासन्धारणाद्धि वायुः कुपितोऽन्तःशरीरमनुचरन् गर्भस्यापद्यमानस्य विनाशं वैरुप्यं वा कुर्यात्।। च०सं०, शारीरस्थानम् ,18–19 पृ० 430

[1539] चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्तो भवति , गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति , कस्मात् ? तस्थानत्वात् । तस्माद्गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति , द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीम् आचक्षते । दौहृदविमाननात् कुब्जं कुणिं खञ्जं जडं वामनं विकृताक्षरमनक्षं वा नारी सुतं जनयति , तस्मात् सा यद्यदिच्छेत्तत्तस्यै दापयेत् , लब्धदौहृदा हि वीर्यवन्तं चिरायुषं च पुत्रं जनयति ।
भवन्ति चात्र–
इन्द्रियार्थास्तु यान् यान् सा भोक्तुमिच्छति गर्भिणी ।
गर्भाबाधभयात्तांस्तान् भिषागाहृत्य दापयेत् ।
सा प्राप्तदौहृदा पुत्रं जनयेत् गुणान्वितम् ।
अलब्धदौहृदा गर्भं लभेतात्मनि वा भयम्।।
येषु येष्विन्द्रियार्थेषु दौहृदे वै विमानना ।
प्रजायेत सुतस्यार्तिस्तस्मिंस्तस्मिंस्तथेन्द्रिये।।सु०सं०, शारीरस्थानम्,18–21,पृ० 299–300

[1540] कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भमर्मणि ।
पतिः प्रतीतः प्रसवोन्मुखीं प्रियां ददर्शकाले दिवमभ्रितामिव।।र०वं० 3.12

हुआ, उसकी बोली भी धीमी हो गयी। वैद्यों ने उसे बचाने का भरपूर प्रयास किया पर वे समर्थ नहीं हुए। अन्ततोगत्वा उसकी मृत्यु हो गई।[1541]

6.4.2 कालिदासीय कृतियों में सर्पविष की चिकित्सा एवं शास्त्रीयसन्दर्भ

समाज में अधिकांशत देखा जाता है जब किसी को साँप काटता है तो लोग डॉक्टर या सर्प के विष को झाड़ने वाले मन्त्रज्ञ के पास जाते हैं। आज का आधुनिक समाज भले ही डॉक्टर से सर्प के विष का इलाज करवा सकता है पर उसे मन्त्र से विष दूर हो सकता है इस पर शायद ही विश्वास हो। किन्तु कालिदास के समय में दोनों ही व्यवस्थायें उपलब्ध थी। यदि वैद्य नहीं है तो मन्त्रज्ञ ही सर्प के विष को उतार देता था। इसका वर्णन कवि ने किया है भोगीव मन्त्रोषधिरुद्धवीर्यः।[1542] कवि ने साँप से काटे हुए व्यक्ति की रक्षा का उपाय बताया है। साँप के डसने पर जो पहला काम करना चाहिए कि जहाँ साँप ने काटा हो उस अंग को काट देना चाहिए, घाव में से खून निकाल देना चाहिए, इससे साँप से डसे हुए व्यक्ति के प्राण बच जाते हैं।[1543]

सुश्रुत ने आचार्य धन्वन्तरि के मत को उद्धृत करते हुए लिखा कि सभी साँपों में सबसे प्रथम हाथ, पैर में काटे हुए मनुष्य में दंशस्थान से चार अंगुल ऊपर में एक अरिष्टा अर्थात् पट्टी बाँधनी चाहिए। यह अरिष्टा कपड़े की, चमड़े की, वृक्ष की छाल अथवा अन्य किसी कोमल वस्तु से बाँधनी चाहिए। अरिष्टा से रोका हुआ विष ऊपर नहीं चढ़ता। जहाँ पर अरिष्टा बाँधी न जा सके वहाँ पर दंश को काटकर स्थान अग्नि से जला देवे। सभी साँपों में आचूषण, छेदन और दाहन विधेय है। मुख को वस्त्रों से भरकर चूषणा करना उत्तम है। मन्त्र को जानने वाला वैद्य अरिष्टा को भी मन्त्रों से बाँधे। इस प्रकार रस्सी आदि से बाँधी अरिष्टा विष को रोकती है। अरिष्टा पट्टी इतनी कसकर बान्धना चाहिए , जिससे सिरा में रक्त का स्वाभाविक प्रवाह रुक जाय। जब रक्त रुक जाता है तब रक्त में मिला विष भी शरीर में नहीं पहुँच पाता, शरीर में विष फैलने चढ़ने के पूर्व ही अरिष्टा बान्धने से लाभ होता है और दाह भी तथा आचूषण भी इसी दशा में लाभप्रद होते हैं और मन्त्रों का प्रयोग तो आरोग्य लाभ पर्यन्त किया जाता है, आचूषण यथा सम्भव मुख से

[1541] दृष्टदोषमपि तन्न सोऽत्यजत्सङ्गवस्तु भिषजामनाश्रवः ।
स्वादुभिस्तु विषयैर्ह्रतस्ततो दुःखमिन्द्रियगणो निवार्यते ।।र०वं०19.49
तस्य पाण्डुवदनाल्पभूषणा सावलम्बगमना मृदुस्वना ।
राजयक्ष्मपरिहानिरायया कामयानसमवस्थया तुलाम् ।।र०वं० 19.50
वैद्ययत्नपरिभाविनं गदं न प्रदीप इव वायुमत्यगात् ।।र०वं० 19.53

[1542] र०वं० 2.32,पृ० 15

[1543]छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम् ।
एतानि दष्टमाणानामायुष्याः प्रतिपत्तयः।। माल० 4.4

करना ही नहीं चाहिए अपितु सिंगी इत्यादि से करना चाहिए। किसी सत्यवादी, तपस्वी , देवर्षि और ब्रह्मर्षियों से कहे हुए मन्त्र व्यर्थ नहीं होते। ये मन्त्र भयानक विष को भी शीघ्र नष्ट कर देते है। आचार्य चरक का स्पष्ट कहना है कि सत्यपरायण ज्ञानी एवं तपस्वी तथा तेजस्वी ऋषियों के मन्त्रों में विष जितनी जल्दी नष्ट होता है उतनी जल्दी ओषधियों से दूर नहीं होता।[1544]

6.5 कालिदासीय कृतियों में संगीतस्वरविज्ञान

कालिदास ने अपनी कृतियों में विविध स्थानों पर संगीतशास्त्रीय तत्त्वों का विवेचन किया है[1545] घर गृहस्थी की विविध समस्याओं में लोगों के लिए संगीत एक मनोरञ्जन का साधन है। जिस प्रकार आज भी ग्रामीण समाज में महिलायें खेतों का काम करती हुई गीतों का गान करती हैं इसी प्रकार का विवेचन कालिदास ने किया है धान के खेतों की रखवाली करने वाली किसानों की स्त्रियाँ ईख की छाया में बैठकर प्रजा का पालन करने वाले महाराज रघु की गुणकथाओं का गीत बना बनाकर गायन करती हैं।[1546] कवि ने मेघदूत में संगीत शब्द का प्रयोग किया है।[1547] आचार्य शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में गीत ,वाद्य और नृत्त इन तीनों के समुदाय को संगीत कहा है।[1548] इन तीनों का दिग्दर्शन कवि ने मेघदूत में वर्णन किया है, यक्ष मेघ से कहता है कि हिमालय पर जब बाँसो में वायु भरने लगती है तो उनमें मीठे–मीठे स्वर निकलने लगते हैं और किन्नरों की स्त्रियाँ भी स्वर मिलाकर त्रिपुर विजय का गीत गाने लगती है और उस समय तुम भी यदि

[1544] सर्वैरेवादितः सर्पैः शाखादष्टस्य देहिनः।
दंशस्योपरि बध्नीयादरिष्टाश्चतुरङ्गुले।।
दहेदंशमथोत्कृत्य यत्र बन्धो न जायते ।
आचूषणच्छेददाहाः सर्वत्रैव तु पूजिताः।।
प्रतिपूर्य मुखं वस्त्रैर्हितमाचूषणं भवेत् ।
अरिष्टामपि मन्त्रैश्च बध्नीयान्मन्त्रकोविदः।
सा तु रज्ज्वादिभिर्बद्धा विषप्रतिकरी मता`।।
देवब्रह्मर्षिभिः प्रोक्ता मन्त्राः सत्यतपोमयाः ।
भवन्ति नान्यथा क्षिप्रं विषं हन्युः सुदुस्तरम् ।
विषं तेजोमयैर्मन्त्रैः सत्यब्रह्मतपोमयैः।।
यथा निवार्यते क्षिप्रं प्रयुक्तैर्न तथौषधैः।। सु०सं०,कल्पस्थानम् ,5.1–5,8–10, पृ० 577–578

[1545] सुतन्त्रिगीतम्।।ऋ०सं०1.3, पृ० 347
सवल्लकीकाकलिगीतनिस्वनै विबोध्यते सुप्त इवाद्य मन्मथ।।: ऋ०सं०1.8, पृ० 348
निशिसुललितगीते हर्म्यपृष्ठे सुखेन।। ऋ०सं० 1.28 ,पृ० 350

[1546] ईक्षुच्छायानिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम् ।
आकुमारकथोद्धा शालिगोप्योजगुर्यशः।।र०वं० 4.20,पृ० 36

[1547] विद्युत्वन्तं ललितावनिता सेन्द्रचापं सचित्राः।
संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।।उ०मे० 2.1

[1548] गीतं वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते।।सं०र०1.21

गर्जना करोगे तो गुफाओं में प्रतिध्वनि होगी जो मृदंग के समान लगेगी, इससे शिव जी के संगीत के सभी अंग पूर्ण हो जायेगे।[1549]

रघुवंशम् में कवि लिखते हैं वायु भर जाने से बांसो से मधुरध्वनि निकल रही है ऐसा लग रहा है मानो वनदेवताओं के गीत के साथ बाँस भी संगत करते हुए वंशीवाद्य के कार्य को सम्पन्न कर रहे हों।[1550]

इसी प्रकार का वर्णन कवि ने कुमारसम्भव में हिमालयपर्वत के वर्णन प्रसंग में किया है। जो हिमालय अपने गुफारूपी मुख से उत्पन्न हुई वायु से छिद्रयुक्त बाँस के वृक्षों को भरता है तदनन्तर वायु भर जाने से वे वैसे ही बजने लगते हैं, मानों ऊँचे स्वर से गाने वाले किन्नरों के गीतों के साथ संगत कर रहे हो।[1551] उद्गास्यताम् किन्नराणाम् इस प्रसंग में आचार्य नारद का मत है कि मनुष्यों के द्वारा षडज् और मध्यम स्वर गाये जाते हैं, किन्तु गान्धार नामक स्वर तो देवयोनियों के द्वारा ही गेय एवं लभ्य है।[1552] आचार्य भरत का मत है कि गायक जिस–जिस स्वर का गायन करे, वादक वंशीवाद्य से उसी–उसी स्वर का तान दे।[1553] एक स्वर से दूसरे स्वर पर प्रवृत्ति कराने वाला, राग की स्थिति का प्रवृत्तिहेतु, वंशीसाध्य स्वरविशेष तान कहा जाता है।[1554] गायन कितना ही सुन्दर क्यों न हो यदि अनुरञ्जक वाद्य नहीं है तो गीत मनोरम नहीं लगता। गायन के साथ वाद्य का होना संगीत शास्त्र में अनिवार्य है, यहाँ कवि ने गायन के साथ वंशीवाद्य के महत्त्व को द्योतित किया है।

मेघदूत में कवि वर्णन करते हैं कि यक्ष की पत्नी वीणा वादन में दक्ष है, संगीतशास्त्र के स्वर के आरोह और अवरोह में वह निपुण है।[1555]

राजा अग्निवर्ण नृत्यकला में कुशल था स्वयं इस कला को वह सीखता भी था। आङ्गिक सात्विक वाचिक तीनप्रकार के अभिनय में वह निपुण था।[1556]

[1549] शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः।
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
निर्ह्रादस्ते मुरज इव चेत्कन्दरिषु ध्वनिः स्यात् ।
संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः।। मे०दू० 1.60

[1550] स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।।र०वं० 2.12,पृ०12

[1551] यः पूरयन्कीचकरन्ध्रभागान्दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ।।कु०स० 1.8. पृ० 4

[1552] षड्जमध्यमनामानौ ग्रामौ गायन्ति मानवाः ।
न तु गान्धारनामानं स लभ्यो देवयोनिभिः।।कु०स० 1.8,मल्लिनाथव्याख्या पृ० 5

[1553] गाता यं यं स्वरं गच्छेत् तं तं वंशेन तानयेत् ।। कु०स० 1.8,मल्लिनाथव्याख्या पृ० 5

[1554] तानो नाम स्वरान्तरप्रवर्तको रागस्थितिप्रवृत्त्यादिहेतुरंशापरनामा वंशवाद्यसाध्यः
प्रधानभूतः स्वरविशेषः।। कु०स० 1.8 , मल्लिनाथव्याख्या, पृ –5

[1555] उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयम उद्गातुकामा।
तन्त्रीम आर्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद भूयो भूयः स्वयम अपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती।।मे०दू०2.26

6.6 कालिदासीय कृतियों में चित्रकलाविज्ञान

कालिदास की कृतियों में विभिन्न स्थलों में हमें चित्रकारी सम्बन्धी तथ्य प्राप्त होते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि कवि कालिदास के समय में चित्रकला अपने उत्कर्ष पर थी। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में स्वयं दुष्यन्त शकुन्तला का चित्र बनाता है और कहता है कि यद्यपि मैंने इस चित्र के सभी दोष दूर कर दिये हैं फिर भी कुछ कमी अवश्य रह गई है।[1557] इसलिए वह चतुरिका को चित्र बनाने की कूचियाँ लाने का आदेश देता है।[1558] स्वयं सानुमती अप्सरा दुष्यन्त की चित्रकारी की प्रशंसा करती है। सानुमती अप्सरा कहती है कि इस चित्र को देखकर मुझे ऐसा लग रहा है जैसे शकुन्तला मेरे सामने खड़ी हो।[1559]

कवि ने राजा अग्निवर्ण की चित्रकारी का विवेचन रघुवंश में किया है।[1560]

कवि वर्णन करते हैं कि दीवार पर टँगे हुए चित्र मेघों के जलकणों से मिट जाते हैं।[1561] मेघदूत में यक्ष की पत्नी अपने पति के चित्र को बनाती है।[1562] यक्ष भी वियोग में अपनी पत्नी का चित्र बनाता है जब उस चित्र को देखने लगता है तो अपनी प्रियतमा के स्मरण से उसके नेत्र भर आते हैं और वह चित्र को भी नहीं देख पाता।[1563]

6.7 कालिदासीय कृतियों में शकुनविज्ञान एवं शास्त्रीय सन्दर्भ

भले ही प्रबुद्ध वर्ग इस शकुन विज्ञान को मानने से इनकार करते हों किन्तु आज भी भारतीय समाज शकुनविज्ञान के वैशिष्ट्य को स्वीकार करता है। भारतीय परम्परा में शकुनविज्ञान का अत्यन्त महत्त्व रहा है, इसलिए प्रायशः सभी कवियों ने अपनी–अपनी कृ तियों में शकुनविज्ञान की चर्चा की है, शकुनशास्त्र लिखने वाले आचार्य बसन्तराज ने शकुन का लक्षण करते हुए कहा कि शकुनशास्त्र वह शास्त्र है जो शुभ और अशुभ का निर्णय कराने वाला है। जिसके अन्तर्गत द्विपद मनुष्यादि की गति, स्वर भाषाविशेष,

---

[1556] अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन् ।
स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः संजघर्ष सह मित्रसन्निधौ।।र०वं०19.36

[1557] यद्यत् साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा ।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्।।अ०शा० 6.14,पृ० 104

[1558] चतुरिके ! अर्धलिखितमेतद्विनोस्थानम्।।गच्छ। वर्तिकां तावदानय् ।।अ०शा० 6,पृ० 105

[1559] अहो एषा राजर्षेर्निपुणता । जाने सख्यग्रतो मे वर्तते ।।अ०शा० 6,पृ० 104

[1560] वर्तते स्म स कथिचिदालिखन्नङ्गुलीक्षरणसन्नवर्तिकः।।र०वं० 19.19

[1561] नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमिरालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गैर्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति।।मे०दू० 2.8

[1562] मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ति।।मे०दू०2.25

[1563] त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अश्रैस्तावन् मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस तस्मिन्न अपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः।। मे०दू० 2.47

अवलोकन, चेष्टा, शरीरव्यापार आदि आते हैं। शकुनशास्त्र को जानने वाला व्यक्ति यह जानता है कि मेरा यह प्रयोजन कष्ट देने वाला होगा या कष्टरहित होगा, इस बुद्धि से वह संशयरहित होकर उस प्रयोजन को लाभप्रद होने पर ही करता है और लाभप्रद न होने पर त्याग देता है।[1564] डॉ इलाघोष ने शकुन अपशकुन के विषय में लिखा है कि मनुष्य ने अपने सूक्ष्म निरीक्षण और सुदीर्घ अनुभव से जिन कलाओं को विकसित किया है उनमें से एक है निमित्तज्ञान अर्थात् शकुन अपशकुन की विचारकला। मानव के अदृष्ट या नियति के सूचक निम्न तत्त्व माने गए हैं।

1. नक्षत्रों और ग्रहों की गति 2. प्राकृतिक परिदृश्य–उल्कापात आदि

3. पशुपक्षियों की ध्वनियाँ एवं चेष्टाएँ 4.मनुष्य के शारीरिकलक्षण ,हस्तरेखा ,तिल इत्यादि

5. मनुष्य की मनोदशा एवं शरीर के अंगों में होनी वाली स्पन्दन

6.मनुष्य द्वारा देखे गए स्वप्न 7. मनुष्य द्वारा प्रयोग में लाई जानी वाली आसन, शय्या, छत्र, शस्त्र, रत्न आदि वस्तुएँ।[1565]

महाकवि कालिदास भी शकुन विज्ञान से अत्यन्त प्रभावित रहे हैं, इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थों में कई स्थलों में शकुनों की चर्चा की है। शकुनशास्त्र में स्त्री के जब वाम भुजा आदि फड़कते हैं तो शुभ माना जाता है तथा पुरुषों के दाहिने अंग फड़कने पर शुभ माना जाता है। रघुवंश में भगवान् राम की दाहिनी भुजा ही उन्हें सीता की प्राप्ति की सूचना दे रही थी।[1566]

अभिज्ञान शाकुन्तलम् में दुष्यन्त कहता है इस शान्त तपोवन में मेरी दाहिनी भुजा क्यों फड़क रही है। इसका कोन सा फल यहाँ प्राप्त हो सकता है।[1567]

रघुवंश में जब इन्दुमती स्वयंवर के अवसर पर राजा अज के सामने उपस्थित हुई तब अज संशयग्रस्त हो गये कि यह मेरा वरण करेगी या नहीं। उस समय अज की दाहिनी भुजा फड़कने लगी, जिसने अज के संशय को दूर कर दिया।[1568]

[1564] शुभाशुभं ज्ञानविनिर्णयाय हेतुर्नृणां यः शकुनः स उक्तः।
गतिस्वरालोकनभावचेष्टाः संकीर्तयामो द्विपदादिकानाम् ।
सापायमेतन्निरपायमेतत्प्रयोजनं भावि ममेति बुद्धया ।
असंशयं शाकुनशास्त्रविज्ञो जहाति चोपक्रमते मनुष्यः।।श०शा० 1.7,8,पृ० 6

[1565] संस्कृत वाङ्मय में शिल्पकलाएँ, इलाघोष, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली ,2004,पृ० 339

[1566] तस्य स्फुरति पौलस्त्यः सीतासङ्गमशंसिनि ।
निचखानाधिकक्रोधः शरं सव्येतरे भुजे।।र०वं०10.90

[1567] शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य ।
अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र।।आ०शा० 1.16

[1568] तस्यां रघोः सूनुरुपस्थितायां वृणीत मां नेति समाकुलोऽभूत् ।
वामेतरः संशयमस्य बाहुः केयूरबन्धोच्छ्वसितैर्नुनोद ।। र०वं० 6.68,पृ० 95

कुमारसम्भव में जब दैत्य तारक युद्ध करने को चला तो उसके आगे–आगे अशुभ शकुन होने लगे, जिससे ऐसा लगा कि अब तारक भारी विपत्ति में पड़ने वाला है।[1569]

रघुवंश में मुखावयव से छिन्नभिन्न शूर्पणखा जब राक्षसों के पीछे रखकर विकृत मुख से आगे चलने लगी तो उसी समय उसने अमङ्गल को बुलावा भेज दिया।[1570]

यहाँ कालिदास ने विकृत मुख से प्रयाण करने को अमङ्गल अर्थात् पराजय का संकेत बताया है।

शकुन जानने वाले वसिष्ठ ऋषि ने दिलीप से कहा कि अब तुम्हारा कार्य शीघ्र ही पूर्ण होगा, क्योंकि यह नन्दिनी नाम लेते ही उपस्थित हो गई है।[1571]

श्रीमद्भागवत में रुक्मिणी जी कृष्ण के न आने से व्यथित थी कि तभी उनके वाम अंग, भुजा, नेत्र फड़कने लगे जो श्रीकृष्ण के आगमन की सूचना दे रहे थे।[1572]

6.8 कालिदासीय कृतियों में ज्वारभाटा

पूर्ण चन्द्र को देखकर समुद्र हिलोरे मारने लगता है। चन्द्रमा के क्षीण होने पर समुद्र भी क्षीण होने लगता है।[1573] कालिदास लिखते हैं जब राजा अज विदर्भ देश को पहुँचा तो यह सुनकर भोजराज उनका स्वागत करने के लिए उसी प्रकार चल पड़ा। जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमा के उदित होने पर समुद्र उसे आलिङ्गन करने के लिए उमड़ पड़ता है।[1574] कालिदास ने चन्द्रमा और समुद्र का सम्बन्ध राम और लक्ष्मण के समान बताया है।[1575] चन्द्रमा एवं सूर्य के आकर्षण के कारण समुद्रतल का दिन में एक या दो बार नियत रूप से उठना या गिरना ज्वारभाटा कहलाता है। चन्द्रमा के गुरुत्व आकर्षण एवं कुछ हद तक सूर्य के गुरुत्वाकर्षण द्वारा ज्वारभाटाओं की उत्पत्ति होती है, दूसरा कारक अपकेन्द्रीय बल है, जो कि गुरुत्वाकर्षण को संतुलित करता है। गुरुत्वाकर्षण बल तथा अपकेन्द्रीय बल दोनों मिलकर पृथ्वी पर दो महत्त्वपूर्ण ज्वारभाटाओं को उत्पन्न करने के लिए उत्तरदायी

[1569] अथ प्रयाणाभिमुखस्य नाकिनां द्विषः पुरस्तादशुभोपदेशिनी ।
अगाधदुःखाम्बुधिमध्यमज्जनं बभूव चोत्पातपरम्परा तदा।।कु०स०15.13

[1570] मुखावयवलूनां तां नैर्ऋता यत्पुरो दधुरू ।
रामाभियायिनां तेषां तदेवाभूदमङ्गलम् ।।र०वं० 12.43,पृ० 114

[1571] तां पुण्यदर्शनां दृष्ट्वा निमितज्ञस्तपोनिधिः।। र०व 1.86
अदूरवर्तिनीं सिद्धिं राजन्विगणयात्मनः।
उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्तित एव यत्।। र०वं० 1.87

[1572] श्रीमद्भा०10.53.27, पृ० 718

[1573] चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।।कु०स० 3.67
महोदधेःपूर इवेन्दुदर्शनाद्गुरुः प्रहर्षः प्रबभूव नात्मनि।।र०वं० 3.17

[1574] तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे तदागमारूढगुरुप्रहर्षः।
प्रत्युज्जगाम क्रथकैशिकेन्द्रश्चन्द्रं प्रवृद्धोर्मिरिवोर्मिमाली।।र०वं० 5.61,पृ०167

[1575] तेषां द्वयोर्द्वयोरैक्यं बिभिदे न कदाचन ।
यथा वायुविभावस्वोर्यथा चन्द्रसमुद्रयोः।।र०वं० 10.81

है। चन्द्रमा की तरफ वाले पृथ्वी के भाग पर एक ज्वारभाटा उत्पन्न होता है जब विपरीत भाग पर चन्द्रमा का गुरुत्वीय आकर्षण बल उसकी दूरी के कारण कम होता है तब अपकेन्द्रीयबल दूसरी तरफ ज्वार उत्पन्न करता है। ज्वार उत्पन्न करने वाले, इन दो बलों के बीच के अन्तर हैं, यानि चन्द्रमा का गुरुत्वीय आकर्षण तथा अपकेन्द्र बल। पृथ्वी के धरातल पर, चन्द्रमा के निकट वाले भागों में अपकेन्द्रीय बल की अपेक्षा गुरुत्वाकर्षण बल अधिक होता है। इसलिए यह बल चन्द्रमा की ओर ज्वारीय उभार का कारण है। चन्द्रमा का गुरुत्वाकर्षण पृथ्वी के दूसरी ओर कम होता है, क्योंकि यह भाग चन्द्रमा से अधिकतम दूरी पर है तथा यहाँ अपकेन्द्रीय बल प्रभावशाली होता है, अतः यह चन्द्रमा से दूर दूसरा उभार पैदा करता है।

पृथ्वी के सन्दर्भ में सूर्य एवं चन्द्रमा की स्थिति ज्वार की ऊँचाई को प्रत्यक्षरूप से प्रभावित करती है, जब तीनों एक सीधी रेखा में होते हैं, तब ज्वारीय उभार अधिकतम होगा , इसको बृहत्ज्वारभाटा कहा जाता है ऐसा महीने में दो बार होता है, पूर्णिमा के समय और दूसरा अमावस्या के समय। चन्द्रमा का आकर्षण अधिक इसलिए होता है क्योंकि वह पृथ्वी के अधिक निकट है महीने में एक बार जब चन्द्रमा पृथ्वी के सबसे नजदीक होता है उस समय असामान्य रूप से उच्च निम्न ज्वार उत्पन्न होता है इस दौरान ज्वारीय क्रम सामान्य से ज्यादा होता है, दो सप्ताह के बाद जब चन्द्रमा पृथ्वी से अधिकतम दूरी पर होता है तब चन्द्रमा का गुरुत्वाकर्षण बल सीमित होता है। उच्च ज्वार व निम्न ज्वार के बीच के समय जब जलस्तर गिरता है, भाटा कहलाता है, उच्च ज्वार एवं निम्न ज्वार के बीच का समय जब ज्वार ऊपर चढ़ता है उसे बाढ़ कहा जाता है। पृथ्वी, चन्द्रमा व सूर्य की स्थिति ज्वार की उत्पत्ति का कारण है और इनकी स्थिति के सही ज्ञान से ज्वारों का पूर्वानुमान लगाया जा सकता है। यह नौसंचालको व मछुआरों को उनके कार्य सम्बन्धी योजनाओं में मदद करता है , ज्वार प्रदूषित जल को बाहर निकालने में मदद करता है । ज्वारों का प्रयोग कनाडा, फ्रांस, रूस, चीन इत्यादि देशों में विद्युतशक्ति को उत्पन्न करने के लिए किया जाता है। विश्व का सबसे ऊँचा ज्वारभाटा कनाडा के नवास्कोशिया में स्थित फंडी की खाड़ी में आता है, ज्वारीय उभार की ऊँचाई 15 से 16 मीटर के बीच होती है क्योंकि वहाँ पर दो उच्च ज्वार एवं दो निम्न ज्वार प्रतिदिन आते हैं।[1576]

6.9 कालिदासीय कृतियों में रत्नादि निर्माण की व्यवस्था

[1576] भौतिक भूगोल के मूल सिद्धान्त , अध्याय 14 , *महासागरीय जल संचलन* , राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद् , 2014 , पृ० 128–130

आज का प्रबुद्ध समाज भले ही भारत के प्राचीन ज्ञान–विज्ञान से विमुख हो रहा हो किन्तु हम इस सत्य को नहीं नकार सकते हैं कि भारत अपने समृद्ध ज्ञानविज्ञान, शिल्प आदि कलाओं के कारण विश्वगुरु रहा है। यहाँ कालिदास की कृतियों के कुछ सन्दर्भों के माध्यम से हम भारत में रत्नादि की समृद्धपरम्परा का शास्त्रीय वैशिष्ट्य को जानने का प्रयास करेगें। रघुवंश में वर्णन है कि स्वर्णकार सोने के घड़ों का निर्माण करते थे, जिनमें तीर्थों का जल भरकर रखा जाता था, जिनका प्रयोग अधिकतर पूजा , अर्चना राजाओं के अभिषेकादि के निमित्त किया जाता था।[1577] भारत में स्वर्णादि के दान का अत्यन्त महत्त्व रहा है एक ओर जहाँ लोग भक्तिभाव से धार्मिक कार्यों में स्वर्ण आदि रत्नों का दान करते थे वहीं दूसरी ओर पराजित राजा विजेता शासक को रत्नों का उपहार देकर प्रसन्न करने का प्रयास् करता था।[1578] महाभारत में कहा गया है कि रत्न का दान बहुमूल्य होने के कारण श्रेष्ठदान कहा गया है।[1579]

6.9.1 स्वर्णपरीक्षण विधि एवं कालिदासीय सन्दर्भ

साहित्यशास्त्र में स्वर्ण की परीक्षण विधि का विवेचन साहित्यिक शैली में कवियों के द्वारा किया जाता है। कालिदास भी उपमा के माध्यम से इस विधि का उल्लेख करते हैं, अतिथि के राज्य में चञ्चला लक्ष्मी उसी प्रकार स्थिर हो गयी जिस प्रकार कसौटी पर सोने की रेखा।[1580]

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में लिखा है सुवर्ण की परीक्षा कसौटी पर घिसकर करे, घिसने पर ही यदि समान ही वर्ण और रेखा आती है तथा घिसने के स्थान ऊँचे नीचे नहीं होते तो कसौटी पर परखा हुआ सोना ठीक माना जाता है। यदि स्वर्णकार सोने की उत्कर्षता बतलाने के लिए कसौटी पर जोर से रगड़ता है या उसकी निकृष्टता बताने के लिए धीरे से रगड़ता है या नाखूनों के बीच में कोई दूसरी गैरिक आदि पीतधातु रखकर उससे सोने के साथ–साथ कसौटी पर रेखा खींचता है तो यह सोने की कपटपूर्ण परीक्षा कही जाती है।[1581]

6.9.2 स्वर्णपरीक्षा का साधन अग्नि एवं कालिदासीय सन्दर्भ

[1577] तत्रैनं हेमकुम्भेषु संभृतैस्तीर्थवारिभिः ।
उपतस्थुः प्रकृतयो भद्रपीठोपवेशितम्। ।र०वं० 17.10,पृ० 236

[1578] कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदेवताम् ।
रत्नपुष्पोपहारेणच्छायाम् आनर्च पादयोः।।र०वं० 4.84, पृ० 133

[1579] रत्नदानञ्च सुमहत्पुण्यमुक्तं जनाधिप।।महाभा०, अनुशासनपर्व, 68–29

[1580] निकषे हेमरेखेव श्रीरासीदनपायिनी।।र०वं० 17.46, पृ० 164
कनकनिकषस्निग्धा विद्युतप्रिया न ममोर्वशी।।विक्र०4.7,पृ० 390

[1581] सुवर्णं पूर्वं निकष्य पश्चाद्वर्णिकां निकषयेत् । समरागलेखमनिम्नोन्नते देशे निकषितम् । परिमृदितं परिलीढ़ं नखान्तराद्वा गैरिकेणावचूर्णितमुपधिं विद्यात् ।। अर्थशा०2.13.20–22 पृ० 185

भारतीय परम्परा में प्राचीन काल से ही रत्नों की परीक्षा की अनेक विधियाँ उपलब्ध रही हैं, कालिदास ने जहाँ एक ओर स्वर्ण परीक्षा के लिए कसौटी का उल्लेख अपनी रचनाओं में किया हैं वहीं उन्होंने स्वर्ण की परीक्षा के दूसरे हेतु का भी उल्लेख अपनी साहित्यिक शैली में किया है। उन्होंने कहा कि रघुवंशियों की चर्चा जब मेरे द्वारा की जायेगी तब वे लोग ही इस काव्य को सुनने के अधिकारी होंगे जिन लोगों को सत् और असत् की पहचान हैं क्योंकि असली सोने की पहचान तो अग्नि में ही होती है।[1582]

मालविकाग्निमित्र में गणदास का कथन है कि जिस प्रकार अग्नि में रखने पर भी स्वर्ण काला नहीं होता, उसी प्रकार जिस शिक्षक के सिखाने में कोई भूल न हो उसी की शिक्षा वास्तव में सही मानी जाती है।[1583]

कौटिल्य का मत है कि सोने का कटा हुआ छोटा सा टुकड़ा, चिकना, अन्दर बाहर से एक से रंग वाला, स्निग्ध, मृदु तथा चमकदार हो तो वह् श्रेष्ठ सोना होता है। उस सोने के दुकड़े को अग्नि में तपाये जाने पर यदि वह बाहर और अन्दर से एक जैसा वर्ण वाला है या कमलरज के समान वर्ण वाला या कुरण्डक के फूल के समान रंग वाला हो तो वह श्रेष्ठ समझा जाता है। यदि सोने को तपाने पर उसके वर्ण में परिवर्तन हो जाय या नीले वर्ण का हो जाय तो उसे अशुद्ध सोना कहा जाता है।[1584]

6.9.3 आभूषणधारण की प्रणाली एवं उसका शास्त्रीय महत्त्व

भारतीयपरम्परा में आभूषणों को धारण करना शुभ माना जाता है, स्त्रियाँ पति की दीर्घायु, अपने सौन्दर्य संवर्धन हेतु मङ्गलसूत्र आदि आभूषणों को धारण करती हैं। कालिदास की कृतियों में रत्न,हार, कंगन आदि का बहुत्र विवेचन हुआ है[1585] स्त्रियाँ तो आभूषण धारण करती ही है पुरुष भी वलय, रत्न, अंगूठी इत्यादि को धारण करते हैं। मेघदूत में यक्ष स्वर्ण का कंगन अपने हाथ में धारण करता है।[1586]

रघुवंश में दक्षिण दिशा में पाण्ड्य नरेश रत्नों से परिपूर्ण राज्य का शासक था ।जो अपने कन्धों पर हार धारण करता था ।[1587]

[1582] तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा।।र०वं० 1.10,पृ० 2

[1583] उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामायते न युष्मासु या काञ्चनमिवाग्निष।। माल० 2.9,पृ० 262

[1584] भेदश्चिकणः समवर्णः श्लक्ष्णो मृदुर्भ्राजिष्णुश्च श्रेष्ठः। तापे बहिरन्तरश्च समः किञ्जल्कवर्णः कुरण्डकपुष्पवर्णो वा श्रेष्ठ।श्यामो नीलश्चाप्राप्तक।।अर्थशा०2.13.29–31 पृ० 186

[1585] स्तनेषु हाराः सितचन्दनार्द्राः भुजेषु सङ्गं वलयाङ्गदानि ।। ऋ०सं० 6.7, पृ० 365
कनककमलकान्तैराननैः पाण्डुगण्डैरुपरिनिहितहारैश्चन्दनार्द्रैः स्तनान्तैः ।। ऋ०सं० 6.32 ,पृ०369

[1586] नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्ठः।। मे०दू० 1.2,पृ० 319

[1587] रत्नानुविद्धार्णवमेखलाया दिशः सपत्नी भव दक्षिणस्याः।।र०वं० 6.63,पृ० 55,

अभिज्ञानशाकुन्तल में दुष्यन्त अपने नाम से लिखिताक्षर वाली अपनी अंगूठी को शकुन्तला कों पहनाता है।[1588] इससे पुरुष भी आभूषणों को धारण करते थे ये बातें स्पष्ट हो जाती हैं। आचार्य चरक के अनुसार रत्नजटित आभूषणों के धारण से अथवा रत्न तथा सुवर्ण आदि से निर्मित आभूषणों के धारण से सौभाग्य, धन, मङ्गल, आयु तथा शोभा की वृद्धि होती है, दुर्व्यसन नष्ट होते हैं, मन प्रसन्न रहता है, सौन्दर्य तथा ओज की वृद्धि होती है।[1589]

रत्न निर्माण के विषय में कालिदास ने उल्लेख किया है कि अनेक प्रकार के रत्नों के बीच में मोती आदि को जड़ना इत्यादि।[1590] रत्नों की शोभा अत्यधिक तब बढ़ती है जव उनका संयोग स्वर्ण के साथ होता है।[1591]

ऋतुसंहार में कवि ने मूँगा का विवेचन किया कि बसन्त ऋतु में पतों की कान्ति मूँगारत्न के समान प्रतीत होती है।[1592] उपर्युक्त विवेचन से यह बात तो निश्चित रूप से सिद्ध होती है कि कालिदास के समय में रत्नों आभूषणों के निर्माण की अनेक विधियाँ भारत में उपलब्ध रही हैं।

6.10 कालिदास की कृतियों में वस्त्रादिनिर्माण की व्यवस्था

शीतकालीन समय में व्यक्ति जैसे मोटे–मोटे वस्त्रों को तथा ग्रीष्मकाल में पतले वस्त्रों को धारण करता है उसी प्रकार के वस्त्रों का विवेचन कालिदास ने भी किया है। जिस प्रकार आज समाज में हम देखते है कि सुगन्धितद्रव्यों के प्रयोग से वस्त्र सुवासित हो जाते हैं, इसी प्रकार कालिदास ने भी वस्त्रों के लिए सुगन्धित द्रव्यों के प्रयोग की बात की है।[1593] जिस प्रकार आज भी वधू विवाह के अवसर पर रक्तरेशमी वस्त्र धारण करती है इसी प्रकार का विवेचन कवि ने किया है। [1594]

पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः।।र०वं० 6.60,पृ० 94

[1588] तेन राजर्षिणा सम्प्रस्थितेन स्वनामधेयाङ्कितमङ्गुलीयकं स्मरणीयमिति स्वयं पिनद्धम् ।। अ०शा० , 4, पृ० 55

[1589] धन्यं मङ्गल्यम् आयुष्यं श्रीमद्वयसनसूदनम् ।
हर्षणं काम्यमोजस्यं रत्नाभरणधारणम् ।। च०सं० सूत्रस्थानम् ,5.94, पृ० 51

[1590] रत्नान्तरे मौक्तिकसङ्गरम्यः।। ऋ०सं० 6.8,पृ० 366

[1591] रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन।।र०वं० 6.79,पृ०98

[1592] करकिसलयकान्तिः पल्लवैर्विद्रुमाभैरुपहसति कामिनीनामिदानीम्।।ऋ०सं०6.31,पृ० 368

[1593] गुरूणि वासांसि विहाय तूर्णं तनूनि लाक्षारसरञ्जितानि।
सुगन्धिकालागुरुधूपितानि धत्ते जनःकाममदालसाङ्गः।।ऋ०सं० 6.15, पृ० 366
कुसुम्भरागारुणितैर्दूकूलै र्नितम्बविम्बानि विलासिनीनाम्।
तन्वंशुकैः कुङ्कुमरागगौरैः अलङ्क्रियन्ते स्तनमण्डलानि।।ऋ०सं० 6.5,पृ० 365

[1594] रक्ताशुंकाः नववधूरिव भाति भूमेः।।ऋ०सं० 6.21,367

उपसंहार

षष्ठ अध्याय में कालिदास की कृतियों में शोधार्थी ने यथामति वैज्ञानिक तथ्यों को अन्वेषण करने का प्रयास किया है, कालिदास की कृतियों में वैज्ञानिक तथ्य नामक इस अध्याय में पर्यावरणविज्ञान, कृषिविज्ञान, चिकित्साविज्ञान, संगीतविज्ञान, चित्रकलाविज्ञान, शकुनविज्ञान, रत्ननिर्माण, स्वर्णपरीक्षणविधि, वस्त्रादिनिर्माण इत्यादि के विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास कालीन समाज विविध शिल्पकलाओं में निष्णात रहा है, भारतवासी इन सभी विषयों में पारङ्गत रहे हैं। इसी से हम तत्कालीन भारत की समृद्धि का अनुमान लगा सकते हैं। प्राचीन इतिहास को यदि समझना हो तो हम शिलालेखों, पाण्डुलिपियों तत्कालीन साहित्य का अध्ययन करते हैं इनके अध्ययन से हम तत्कालीन समाज का चित्रण करने में सक्षम होते हैं। आज यह आवश्यकता है कि आज का इतिहास (History) का विद्यार्थी वेदों,पुराणों, वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि कवियों की रचना का अध्ययन करें तभी वह भारत के प्राचीन इतिहास को सही समझ सकता है।

उपसंहार

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में कालिदास की कृतियों में शास्त्रीय तथ्यों का अध्ययन करने से और तत् तत् शास्त्रों में उन–उन तथ्यों का अन्वेषण करने से यह बात निश्चित हो जाती है कि भारतीयपरम्परा के पोषक कालिदास का शास्त्रीय अध्ययन व्यापक स्तर पर रहा है, वे विविध शास्त्रों के मर्मज्ञ कवि रहे हैं। किसी उद्यान में एक ही जैसे पुष्प हों तो उनकी शोभा अत्यधिक नहीं होती है जितना कि उन उद्यानों की जहाँ विविध प्रकार के पुष्प हों इसी प्रकार कालिदास ने विविध शास्त्रों के विविध सिद्धान्तरूपी पुष्पों को अपने उद्यानरूपी रचनाओं में पुष्पित किया है।

प्रथम अध्याय में विवेचित उनके वैदिक सन्दर्भों को देखने से हम उनके वेदों के प्रति उनकी निष्ठा का और वेदों के गहन अध्ययन का अनुमान लगा सकते हैं। कालिदास की कृतियों में वैदिक प्रकरण नाम के प्रथम अध्याय के उक्त विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास वेदपरम्परा के अत्यन्त पोषक और समर्थक रहें हैं। उन्होंने स्मृति आदि ग्रन्थों की अपेक्षा वेदों को अत्यन्त प्रमाण माना है। उनका स्पष्ट कथन था कि स्मृतियाँ तो श्रुति का ही अनुसरण करती है।[1595] इस वाक्य से महाकवि का यह मत भी ध्वनित होता है कि जिन–जिन स्थलों में श्रुति और स्मृति में कहीं यदि मतवैषम्य दृष्टिगोचर हो, तो वहाँ श्रुति की ही प्रामाणिकता है। इस प्रकार वेदों को प्रथम प्रमाण के रूप में स्वीकार कर वे भारतीयपरम्परा का ही अनुसरण करते हैं। वेदों के प्रति निष्ठा के कारण ही उनकी कृतियों में अनेक स्थलों में वैदिक पग–पग पर दिखाई देते हैं। कुछ लोग जहाँ कालिदास को शृङ्गाररस तक ही सीमित कर देते हैं वस्तुतः वे कालिदास के वैदिक ज्ञान से परिचित ही नहीं है, कालिदास ने तो प्रातःकाल वसिष्ठ ऋषि के आश्रम में वेदमन्त्रों के पाठ का सुन्दर विवेचन, उदात्तादि स्वरों का कथन, वैदिक कर्मकाण्डीय यज्ञ पद्धति का विवेचन, वेद में सूर्योपासना, अग्नि का स्वरूप, चतुर्वर्णव्यवस्था, चतुर आश्रमव्यवस्था इत्यादि का सूत्र रूप में प्रतिपादन विभिन्न स्थलों में किया है। इस विवेचन से निश्चित ही कालिदास का वेदविषयक ज्ञान अत्यन्त गम्भीर था यह बात सिद्ध होती है।

द्वितीय अध्याय में दर्शनशास्त्र का विवेचन किया गया है यह दर्शन शास्त्र जीवन दर्शन है जो मानव को सत्य की खोज के लिए प्रेरित करता है, ऐसी आन्वीक्षिकी विद्या के अन्तर्गत विविध दर्शनों के अपने–अपने सिद्धान्त हैं, वे सिध्दान्त किस प्रकार कवि कालिदास ने

[1595] श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्।।र०वं० 2.2,पृ० 112

उपमा आदि अलंकारों के माध्यम से लौकिक उदाहरणों के साथ जोड़कर प्रस्तुत किये हैं। कवि कालिदास किसी एक दर्शन के ज्ञाता नहीं थे बल्कि सभी भारतीय दर्शनों के सिद्धान्तों से वे परिचित थे। यह उनका वैशिष्ट्य है कि उनकी कृतियों में विविध दर्शनशास्त्रीय तत्त्व उसी प्रकार समाये हुए हैं जिस प्रकार इस पृथ्वी में नाना रत्न समाये हुए हैं। उन्होंने अपनी कृतियों में सांख्य ,योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा , उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदान्त, प्रत्यभिज्ञा, भक्तिदर्शन इत्यादि का सूत्र रूप में उपमा आदि अलंकारों के माध्यम से प्रयोग किया है।

तृतीय अध्याय में धर्मशास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन् किया गया है। कालिदास ने धर्मशास्त्रीय तथ्यों को मनु आदि आचार्यों के सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर ही प्रस्तुत किया है। कालिदास भारतीय परम्परा में वर्णित षोडशसंस्कारों को मानने वाले थे और तत्कालीन भारतीय समाज में ये संस्कार प्रचलन में थे। आज इन संस्कारों में कुछ संस्कार प्रायशः लुप्त हो गये हैं, जैसे सीमन्तोनयन, पुंसवन इत्यादि। किन्तु इन संस्कारों का व्यक्तित्व के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है। भारतीय परम्परा में यह मान्यता है कि संस्कारों से व्यक्ति का दुबारा जन्म होता है इसलिए उसे द्विज कहा जाता है। संस्कार ही व्यक्ति को विनम्र बनाते हैं। अहंकार से युक्त होना और संस्कारविहीन होना ही व्यक्ति के पतन कारण है। इसलिए आचार्यों ने सूक्ष्मविश्लेषण करके इन संस्कारों को विशेष स्थान दिया है। प्रत्येक व्यक्ति से प्रतिदिन जाने अनजाने में पाप हो जाते हैं उन सब के निवारण के लिए पञ्चमहायज्ञ का विधान प्रत्येक व्यक्ति के लिए कहा गया है। कालिदास की कृ तियों में धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों का अन्वेषण करने से जो तथ्य प्राप्त हुए है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कालिदास का धर्मशास्त्रीय अध्ययन व्यापक स्तर का रहा है। इसी कारण उन्होंने मनु आदि आचार्यों के द्वारा कथित सिद्धान्तों को काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों अर्थात् उपमा आदि अलंकारों, गुणों आदि के माध्यम से सुन्दर शैली में प्रस्तुत किया है। कवि यदि शास्त्रीय सिद्धान्तों को सामान्य शैली में यदि प्रस्तुत करता है तो उसके काव्य में वैशिष्ट्य तो आता है किन्तु वह अत्यधिक चमत्कारी नहीं होता किन्तु यदि कवि सामान्याभिधा से अलग विचित्राभिधा के माध्यम से काव्य रचना करता है तो वह काव्य सहृदय आह्लादक होता है। जैसे सरोवर में कमल खिल रहा है यह एक वाक्य सामान्य व्यक्ति द्वारा कहा जाता है यह सामान्याभिधा कहलाती है किन्तु कवि जब इसी वाक्य को विचित्राभिधा में कहता है तो इसमें चमत्कार आ जाता है, भगवान् विष्णु के नेत्रों की समता प्राप्त करने के लिए कमल एक पैर से तपस्या कर रहा है। विचित्राभिधान

से कथन ही कवि का वैशिष्ट्य है और इसी कारण उसकी सृष्टि विधाता की सृष्टि से भिन्न है।

चतुर्थ अध्याय में कालिदास के द्वारा उपमा आदि अलंकारों के माध्यम से प्रकट किये गये व्याकरणशास्त्रीय सिद्धान्तों का विवेचन एवं पाणिनि के नियमानुसार कालिदासीय कृतियों में कृत्य प्रत्ययान्त, वर्तमानकालिक कृदन्त, भविष्यत्कालिक कृदन्त, भूतकालिक कृदन्त, कर्तृवाचक शब्दों का विवेचन किया गया है। कालिदास ने व्याकरणशास्त्रीय सिद्धान्तों में जैसे धातु के स्थान में आदेश, उपसर्ग, अपवाद आदि की सुन्दर उपमा दी है। अपनी कृतियों में विभिन्न शब्दों का निर्वचन उन्होंने स्वयं किया है जैसे अरिनिग्रहात् शत्रुघ्नः, रघु शब्द का गति अर्थ अर्थात् यह शास्त्रों के पार भी जायेगा और शत्रुओं के पार भी जायेगा। अर्थवान् खलु मे राजशब्दः इत्यादि। काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट की यह उक्ति सत्य ही है कि काव्य निर्माण के लिए शक्ति के साथ–साथ व्याकरणादि शास्त्रों में निपुणता और अभ्यास का होना आवश्यक है तभी कोई कवि अपनी कृतियों से कालिदास आदि के समान महान् बन सकता है। कालिदास का व्याकरणशास्त्रीय सिद्धान्तों के उल्लेख से उनका व्याकरणशास्त्र में पारङ्गत होना सिद्ध होता है।

पञ्चम अध्याय में कालिदास की कृतियों में राजनीतिशास्त्र का विवेचन और तत्–तत् शास्त्रों में वह सिद्धान्त कहाँ दृष्टिगोचर होता है उसका विवेचन किया गया है जिसके अन्तर्गत किस प्रकार राज्य की सुरक्षा की जा सकती है। कालिदास का राजनीतिशास्त्रीय ज्ञान राजनीति शास्त्रों के सिद्धान्तों के अनुरूप था, उन्होंने अपनी कृतियों में सप्ताङ्गसिद्धान्त, चार उपाय,षाड्गुण्य ,राजनीति में लेखन का महत्त्व इत्यादि विषयों का विवेचन किया है। इस अध्याय के अध्ययन से निश्चित ही राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में रुचि रखने वाले छात्र लाभान्वित होंगे और यह भी समझ पायेगें कि एक कवि किस प्रकार अपनी रचनाओं में उपदेश हेतु विविध शास्त्रीय तत्त्वों का उल्लेख करता है जो हमारे जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी होते हैं। कवि अपने लेखन के माध्यम से समाज का अत्यन्त उपकार करता है वह केवल मनोरञ्जन ही नहीं करता बल्कि वह मनोरञ्जन के साथ अपने देश के लोगों को राष्ट्र की उन्नति के लिए उसकी रक्षा के लिए सतत प्रेरित करता है, इसी कारण वह राजनीति शास्त्रीय सिद्धान्तों को अपनी कृतियों में स्थान देता है। जिससे पाठक राजनीतिशास्त्रीय सिद्धान्तों का अध्ययन कर उचित नीति की सहायता से अपने राष्ट्र के विकास में योगदान देता है। भारतीय राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त आज भी उतने ही प्रासङ्गिक है जितने प्राचीन काल में। Political Science का

अध्ययन करने वाला आज के विद्यार्थियों को इन ग्रन्थों का अध्ययन अवश्य कराया जाना चाहिए, तभी वे अपने प्राचीन भारतीयराजनीति को समझने में सक्षम होंगे। जैसे कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामन्दकीय नीतिसार, मनुस्मृति के सातवें अध्याय में जहाँ राजनीति का स्वरूप बताया गया है, शुक्रनीति ,याज्ञवल्क्यस्मृति आदि ग्रन्थ।

षष्ठ अध्याय में कालिदास की कृतियों में शोधार्थी ने यथामति वैज्ञानिक तथ्यों को अन्वेषण करने का प्रयास किया है, कालिदास की कृतियों में वैज्ञानिक तथ्य नामक इस अध्याय में पर्यावरणविज्ञान, कृषिविज्ञान, चिकित्साविज्ञान, संगीतविज्ञान, चित्रकलाविज्ञान, शकुनविज्ञान, रत्ननिर्माण, स्वर्णपरीक्षणविधि, वस्त्रादिनिर्माण इत्यादि के विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास कालीन समाज विविध शिल्पकलाओं में निष्णात रहा है, भारतवासी इन सभी विषयों में पारङ्गत रहे हैं। इसी से हम तत्कालीन भारत की समृद्धि का अनुमान लगा सकते हैं। प्राचीन इतिहास को यदि समझना हो तो हम शिलालेखों , पाण्डुलिपियों तत्कालीन साहित्य का अध्ययन करते हैं इनके अध्ययन से हम तत्कालीन समाज का चित्रण करने में सक्षम होते हैं। आज यह आवश्यकता है कि आज का इतिहास (History) का विद्यार्थी वेदों,पुराणों, वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि कवियों की रचना का अध्ययन करें तभी वह भारत के प्राचीन इतिहास को सही समझ सकता है।

इस विषय पर शोध करने पर शोधार्थी को यह अनुभव हुआ कि कवि बनना सरल नहीं होता, बल्कि एक कवि को कालिदास के समान विविध शास्त्रों का ज्ञान होना चाहिए, तभी वह शास्त्रीय सिद्धान्तों का अपने काव्य में उपमा आदि अलंकारों के माध्यम से प्रयोग करने में समर्थ होता है और उन शास्त्रीय उपमाओं को समझने के लिए पाठक वर्ग उस शास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त होते हैं। इस दृष्टि से एक शास्त्रीय कवि शास्त्रीय सिद्धान्तो को आचार, विचार को समाज तक पहुँचाने में समर्थ होता है। शास्त्रीय ज्ञान और लोकव्यवहार का ज्ञान हमें काव्यशास्त्र के अध्ययन से होता हैं। इस प्रकार एक शास्त्रीय कवि अपनी परम्परा, अपनी संस्कृति की रक्षा करते हुए अपने राष्ट्र का हित करने में अपनी महती भूमिका निभाता है। एक ओर जहाँ कालिदास शास्त्रीय सिद्धान्तों की चर्चा करते हैं वहीं दूसरी ओर अपनी लेखनी से भारतवर्ष के भूगोल का सुन्दर चित्रण करते हैं। यही कारण रहा कि विद्वानों को यह कहना पड़ा कि विना गीता, विना रामायण और विना कवि कालिदास के भारत भारत ही नहीं है–

विना वेदं विना गीतां विना रामायणीं कथाम्।

विना कविं कालिदासं भारतं भारतं नहि।

कवि अपनी लेखनी से समाज तक पहुँचता है। एक प्रतिष्ठ कवि वह होता है जो प्रतिभा से युक्त होता है जिसे शास्त्रों के ज्ञान के साथ–साथ ही लोकव्यवहार का भी ज्ञान हो वही कवि आचार्यों के मत में उत्तम कवि की श्रेणी को प्राप्त करता है। यही कारण रहा है कि कालिदास अपने शास्त्रीय ज्ञान के साथ लोकव्यवहार के कारण कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः इस उक्ति को चरितार्थ करने में सफल हुए हैं। इस शोधप्रबन्ध में शोधार्थी ने कालिदास के शास्त्रीय सिद्धान्तों की चर्चा की है। शोधार्थी वैदिक परम्परा के संरक्षक कालिदास की रचनाओं में उनके शास्त्रीय पाण्डित्य को देखकर ही प्रवृत्त हुआ और शोधार्थी ने उन–उन शास्त्रीय सिद्धान्तों को संकलन कर तदनन्तर उन्हें व्याख्या करने का प्रयास किया।

सन्दर्भ–ग्रन्थ सूची

प्राथमिक स्रोत

- अग्निचयन, विश्वम्भरनाथ त्रिपाठी,सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय , वाराणसी,1990
- अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कालिदास (श्रीकृष्णमणित्रिपाठिना विरचितं 'विमला'–'चन्द्रकला'–संस्कृत–हिन्दीव्याख्योपेतम्,चौखम्बा सुरभारती प्रकाशनम, वाराणसी, 2004.
- अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कालिदास (भारती संस्कृत टीका आचार्य कपिलदेव द्विवेदी विरचित), रामनारायणलाल विजयकुमार, इलाहाबाद, 2013.
- अभिज्ञानशाकुन्तलम्, कालिदास, व्याख्याकारः– डॉ० वेदप्रकाशशास्त्री,चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण, 2015.
- अष्टाध्यायी–भाष्य–प्रथमावृत्ति(भाग 1–3), ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, रामलाल कपूर ट्रस्ट, 2011.
- आपस्तम्बधर्मसूत्रम् नरेन्द्र कुमार आचार्य, विद्यानिधि प्रकाशन,दिल्ली,प्रथमसंस्करण, 2010
- ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, उत्पलदेवाचार्य,अभिनवगुप्ताचार्यविरचित विरचित विमर्शिनी सहित,स० पण्डितमुकुन्दराम शास्त्री, निर्णयसागर प्रेस,बम्बई, 1918
- ईशादि नौ उपनिषद्शाङ्करभाष्यार्थ, गीताप्रेस, गोरखपुर, 2000
- ऋग्वेदसंहिता, (श्रीमत्सायणाचार्यविरचित–माधवीयवेदार्थप्रकाशसहिता), संपा. श्रीमन्मोक्षमूलर,चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस,वाराणसी,1966
- ऋग्वेदसंहिता, सायणाचार्यभाष्यसंवलिता सैव हिन्दीभाषामन्त्रानुवादसमन्विता, अनुवादक रामगोविन्द त्रिवेदी, चौखम्बाविद्याभवनम्, वाराणसी,2003
- कथोपनिषद् , लेखक श्रीपाद दामोदर , स्वाध्यायमण्डल , पारडी ,सूरत , 1950

काव्यप्रकाश, मम्मट(झलकीकरोनाम्ना भट्टवामनाचार्येण विरचितया बालबोधिन्याख्यटीकया समन्वितः), भाण्डारकर–प्राच्यविद्या–संशोधन–मन्दिरम्,पुणे,1983.

- कालिदास–ग्रन्थावली,रेवाप्रसाद द्विवेदी, बनारसदास हिन्दू विश्वविद्यालय,वाराणसी, द्वितीय संस्करण 1986

- कालिदास–ग्रन्थावली, श्रीरामतेज शास्त्री (सम्पा.) ब्रह्मानन्द त्रिपाठी,चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन,वाराणसी, 2012.
- कालिदास–ग्रन्थावली, सीताराम चतुर्वेदी,उत्तरप्रदेश संस्कृत संस्थान,लखनऊ,1997
- कुमारसम्भवम्, कालिदास, जगदीश लाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास,2011.
- कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, वाचस्पति गैरोला,चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी,पुनर्मुद्रित संस्करण 2011
- चरकसंहित्ता ,व्याख्याकार जयदेवविद्यालङ्कार , मोतीलाल बनारसीदास , दिल्ली ,पुनर्मुद्रण 2012
- तर्कसङ्ग्रह , अन्नम्भट्ट , पंकज कुमार मिश्र , परिमल पब्लिकेशन्स , दिल्ली, 2001
- तैत्तिरीयब्राह्मण, भट्टभास्करमिश्रविरचितभाष्योपेतम् , तृतीयाष्टके द्वितीयो भागः, श्रीमहादेवशास्त्रिणा एल श्रीनिवासेन सम्पादितम् , मोतीलाल बनारसीदास , दिल्ली, 1985
- नाट्यशास्त्रम्, भरतमुनिप्रणीतम्, अभिनवभारतीव्याख्यया पारसनाथद्विवेदीकृतया मनोरमा हिन्दीव्याख्यया च विभूषितम् , पारसनाथ द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी,1992.
- प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, महमाहेश्वराचार्यराजानकक्षेमराज,व्याख्याकार,जयदेव सिंह, मोतीलाल बनारसी दास, 2007.
- पाणिनीयव्याकरणमहाभाष्यम्, पतञ्जलि,(भाष्यप्रदीपोद्द्योतोद्भासितेन श्रीमदुपाध्यायकैयटप्रणीतेन भाष्यप्रदीपेन समुल्लसितम्) निर्णयसागरप्रेस ,मुम्बई ,1938
- पाणिनीयव्याकरणमहाभाष्यम्, पतञ्जलि,(भाष्यप्रदीपोद्द्योतोद्भासितेन श्रीमदुपाध्यायकैयटप्रणीतेन भाष्यप्रदीपेन समुल्लसितम्), श्रीभार्गव,चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली,1992
- पाणिनीयशिक्षा , मनोमोहनघोष , कलकता विश्वविद्यालय, कलकत्ता ,1938
- पातञ्जलयोगदर्शन, पतञ्जलि, सुरेशचन्द्र, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2006

- पातञ्जलयोगदर्शन, पतञ्जलि, गोयन्दका,हरिकृष्णदास,गोरखपुर,गीताप्रेस, 2007
- पारस्करगृह्यसूत्रम् , कर्कभाष्यसहित आर्यभाषाव्याख्योपेतम् , स० वेदपालः, सत्यार्थप्रकाशनन्यासः, कुरुक्षेत्र ,2008
- ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य,अप्पयदीक्षित विरचित परिमलव्याख्या,अमलानन्दसरस्वती प्रणीत कल्पतरुव्याख्या, वाचस्पतिमिश्र विरचित भामतीव्याख्या से युक्त, मदनन्तकृष्ण, वासुदेवशर्मा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1982
- बोधायनगृह्यसूत्र, स० आर. साम शास्त्री , मेहरचन्द लक्ष्मणदास , नई दिल्ली , 1982
- मनुस्मृति ,मेधातिथिभाष्य, गंगानाथा झा,मोतीलाल बनारसीदास ,दिल्ली ,1999
- मनुस्मृति,अनु० गिरिजा प्रसाद शास्त्री, मुंशी नवलकिशोर सी०आई०ई०प्रेस, लखनऊ,सन् 1917
- मनुस्मृति, कुल्लूकभट्टविरचित मन्वर्थमुक्तावली संस्कृतटीका एवं हिन्दीभाषानुवाद ,स० राकेश शास्त्री , विद्यानिधि प्रकाशन , दिल्ली , 2005
- महाभारत ,वेदव्यास , अनु० रामनारायणदत्त शास्त्री ,गीताप्रेस गोरखपुर ,सं० 2072
- मेघदूतम्, कालिदास,(मल्लिनाथविरचितसञ्जीवनीटीका सहिता),डी.भी.सदाली कालवा देवी मार्ग,बम्बई,1894.
- मेघदूतम्, कालिदास,(विद्युत्प्रभाख्यया संस्कृतव्याख्यया राष्ट्रभाषानुवादादिभिश्च विभूषितम्),थानेश चन्द्र उप्रेती, संस्कृत ग्रन्थागार, दिल्ली, 2001.
- वाक्यपदीयम्, भर्तृहरिः(हरिवृषभकृतया स्वोपज्ञवृत्त्या रघुनाथशर्मणा विरचितया अम्बाकर्त्रीव्याख्यया च सहितम्), सम्पूर्णानन्द–संस्कृत–विश्वविद्यालयः,वाराणसी, 1988.
- वाक्यपदीयम्, भर्तृहरिः(हरिवृषभकृतया स्वोपज्ञवृत्त्या रघुनाथशर्मणा विरचितया अम्बाकर्त्रीव्याख्यया च सहितम्), सम्पूर्णानन्द–संस्कृत–विश्वविद्यालयः,वाराणसी, 2006.
- वाक्यपदीयम्, भर्तृहरिः,शिवशङ्कर अवस्थी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2006.
- वेदान्तसार, सदानन्द, बदरीनाथ शुक्ल, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1979
- वेदान्तसार, सदानन्द,व्या० राकेशशास्त्री, परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली, 2003

- वैशेषिकसूत्रोपस्कार ,शङ्करमिश्र ,व्या० ढुण्डिराज शास्त्री, स०नारायण मिश्र, चौखम्बा प्रकाशन ,वाराणसी , वि०स० 2064
- व्याकरणमहाभाष्य, पतञ्जलि, व्या०मधुसूदन प्रसाद मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी
- व्याकरणमहाभाष्य, पतञ्जलि ,कैयटप्रदीपव्याख्या एवं नागोजिभट्टोद्योतव्याख्या ,संस्कर्ता गुरु प्रसाद शास्त्री ,प्रतिभा प्रकाशन,दिल्ली,पुनर्मुद्रण 2001
- वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी ,भट्टोजीदीक्षित , तत्त्वबोधिनी , बालमनोरमा , लघुशब्देन्दुशेखर, स० गुरुप्रसाद शास्त्री एवं अन्य , चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन , वाराणसी , 2012
- वैयाकरणभूषणसार , कौण्डभट्ट , गोपाल प्रेस , वाराणसी ,1982
- रघुवंशमहाकाव्यम्,कालिदासः(मल्लिनाथकृतसञ्जीवनीसमेतम्),मोरेश्वर राम चन्द्र, मुम्बईवैभव मुद्रायन्त्रालये मुद्रापितः,मुम्बापुर्याम्,शाके 1844 संवत्सरे
- रघुवंशम् , कालिदासः (मल्लिनाथकृतसञ्जीवनीसमेतम्), वासुदेव शर्मा, निर्णयसागरः, मुम्बई, शकाब्दः 1851.
- श्रीमद्भागवतपुराण, वेदव्यास ,जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास ,दिल्ली, 1983
- शकुनशास्त्र , बसन्तराज, स० श्रीधरजटाशंकर ,ज्वालाप्रसाद , खेमराज श्रीकृष्णदास ,श्रीवेङ्कटेश्वर स्टीम यन्त्रालय, बम्बई,1703
- षड्दर्शनसूत्रसंग्रह, संग्रहकर्त्ता और सम्पादक, जे .एल. गुप्त, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, प्रथमसंस्करण 2004
- सर्वदर्शनसङ्ग्रह,माधवाचार्य, उमाशंकर शर्मा ऋषि, चौखम्बा विद्याभवन,वाराणसी, 2004
- सांख्यकारिका,ईश्वरकृष्ण,सं. रामकृष्ण आचार्य, साहित्य भण्डार, मेरठ, 1991
- सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, वाचस्पतिमिश्र विरचितसांख्यतत्त्वकौमुदी, प०शिवनारायण, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी , पुनर्मुद्रित 2001

- सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण, सगौडपादभाष्य, संस्कृत व्या०, गुरुप्रसाद शास्त्री, हिन्दी व्या०,सीताराम शास्त्री, बालशास्त्री, चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण 2009.
- सिद्धान्तकौमुदी,

भट्टोजिदीक्षितप्रणीता(ज्ञानेन्द्रसरस्वतीविरचिततत्त्वबोधिनी–व्याख्यासंवलिता), वासुदेवशर्मणा टिप्पण्यादिभिः परिष्कृता संशोधिता च, श्रीलालबहादुशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्,नवदेहली,पुनर्मुद्रितसंस्करणम् 2009.

- सुश्रुतसंहिता , अनुवादक अत्रिदेव , मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ,सप्तम पुनर्मुद्रण , 2015
- सुश्रुतसंहिता , व्या०अम्बिकादत्त शास्त्री , चौखम्बा संस्कृत संस्थान , वाराणसी , 2007
- रामायण, वाल्मीकि, गीताप्रेस , गोरखपुर, सं० 2064

द्वितीयक स्रोत

- अग्निहोत्री,प्रभुदयालु,महाकवि कालिदास, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली,संस्करण 1998.
- उपाध्याय ,बलदेव, भारतीय दर्शन, शारदा मंदिर, वाराणसी, पुनर्मुद्रित 2001.
- उपाध्याय, बलदेव, वैदिक साहित्य और संस्कृति , शारदा संस्थान ,वाराणसी , 2015
- उपाध्याय, भगवतशरण, कालिदास का भारत (भाग 1), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थसंस्करण 1971.
- उपाध्याय, भगवतशरण, कालिदास का भारत (भाग 2), भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, तृतीय संस्करण 1964
- काणे,पी०वी०,अनु०इंद्रचंद्र शास्त्री, संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास,मोतीलाल बनारसीदास,दिल्ली,पुनर्मुद्रण 2011.
- कुमार, शशिप्रभा, भारतीयं दर्शनम्, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999
- गैरोला, वाचस्पति, भारतीय दर्शन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1966.
- जोशी, भँवरलाल, काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज,वाराणसी, 1968.
- घोष, इला, संस्कृत वाङ्मय में शिल्पकलाएँ, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 2004

- त्रिपाठी, गयाचरण, वैदिक देवता उद्भव और विकास, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली,2011
- तिवारी,रमाशंकर, महाकवि कालिदास, चौखम्बा विद्याभवन,वाराणसी,षष्ठ संस्करण 1999.
- तिवारी , शशि , संस्कृत साहित्य में राष्ट्रवाद और भारतीय राजशास्त्र , विद्यानिधि प्रकाशन , दिल्ली , 2013
- द्विवेदी, कपिलदेव ,संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, अनिल प्रिन्टर्स, इलाहाबाद, संस्करण 2013
- द्विवेदी,कपिलदेव, अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी द्वितीय संस्करण 2008
- द्विवेदी,कपिलदेव, वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण 2008
- पाण्डेय,गोपाल दत्त, वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी (बालमनोरमा–दीपिका–संस्कृत–हिन्दीव्याख्योपेतम्), चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, पुनर्मुद्रित संस्करण 2009
- पाल,विजय, भारतीय भाषा दर्शन, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2007.
- झा,रामनाथ, सांख्यदर्शन, विद्यानिधि प्रकाशन,दिल्ली,2008
- मिश्र,हरिराम,व्याकरण–तन्त्र का काव्यशास्त्र पर प्रभाव, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली,प्रथम संस्करण,1994.
- मिश्र,जगदीश चन्द्र, भारतीय दर्शन, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन,वाराणसी,संस्करण 2012.
- मिश्रा, ममता, भारतीय दर्शन,कला प्रकाशन, वाराणसी, 1999
- मिश्र , महेन्द्र कुमार , भारतीय दर्शन, दिव्यम् प्रकाशन , दिल्ली , 2014
- राधाकृष्णन ,भारतीयदर्शन, अनु.गोभिल, नन्दकिशोर, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली,1969.
- शुक्ल, कालिका प्रसाद, वैयाकरणानामन्येषां च मतेन शब्दस्वरूपतच्छक्तिविचारः, सरस्वतीभवन–अध्ययनमाला–25, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः,वाराणसी, 1986

- शर्मा, चन्द्रधर, भारतीय दर्शन आलोचना एवं अनुशीलन, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1996.
- शर्मा, राममूर्ति, भारतीय दर्शन की चिन्तन धारा, चौखम्बा ओरियन्टालिया, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008.
- शर्मा, डॉ.बदरी नारायण ,श्रीमद्भागवतीयं साङ्ख्यम्, श्रीलालबहादुरशास्त्रिकेन्द्रीयसस्कृतविद्यापीठम् नवदेहली,1986
- सत्यदेव,मधु,संस्कृत वाङ्मय का इतिहास, राधा पब्लिकेशन्स,नई दिल्ली,1993.
- सिन्हा,हरेन्द्र प्रसाद, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 2002.
- सिंह,प्रकाश, भारतीयचिन्तन परम्परा पर सांख्य योग का प्रभाव, ईष्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2013
- ए.बी.कीथ, वैदिक धर्म और दर्शन, अनुवादक, डॉ.सूर्यकान्त, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी,1963

English Books

- Baer, Brian James, Contexts, Subtexts and Pretexts: Literary Translation in Eastern Europe and Russia, John Benjamins publishing company, Amsterdam/ Philadelphia, 2011
- Devadhar, C.R.,*works of Kālidās,* Motilal Banarsidass Publishers,New Delhi, 2005.
- Devadhar, C.R., *Abhijñānaśākuntalam of Kālidāsa,* Motilal Banarsidass Publishers, New Delhi, 1996.
- Devadhar, C.R., *Malavikagnimitra of Kalidas,* Motilal Banarsidass Publishers, New Delhi, 2001.
- Devadhar, C.R., *Raghuvamsa of Kalidas*, Motilal Banarsidass, New Delhi, 1996.
- Devadhar,C.R.,*Vikramorvasiyam of Kalidasa,* Motilal Banarsidass, New Delhi, 2008
- Dwivedi, Reva Prasada, *The Ṛtusaṃhāra of Kālidāsa,* Sahitya Akademi, 1990.

- Kale, M.R., *the Abhijñānaśākuntalam of Kālidāsa,*Motilal Banarsidass Publishers, Delhi, 2005.
- M.R.Kale, Kalidas Kumarasambhava, Motilal Banarsidass : Delhi,1981
- Kale, M.R., *Kumārasambhava of Kālidāsa,* Motilal Banarsidass Publishers, Delhi, 2011.
- Kale, M.R., *The Ṛtusaṃhāra of Kālidāsa,* Motilal Banarsidass Publishers, Delhi, 2008.
- Kale,M.R., *Malavikagnimitra of Kalidas,* Motilal Banarsidass Publishers, Delhi, 1999
- Karmarkar, *Kumārasambhava of Kālidāsa,*Chaukhamba Sanskrit Pratishthan, Delhi, 2003.
- Kaushik, *Abhijñānaśākuntalam Kālidāsa,* Motilal Banarsidass, Delhi, 2010
- Krishnamoorthy, *Kālidāsa,* Sahitya Akademi, New Delhi, 1997.
- Mainkar, T.G.,*Kalidasa : His Art and Thought,* Deshmukh, Prakashan, Budhwar : Poona 2
- Narang, Satya pal, *Kālidāsa Bibliography,* Heritage Publishers, Connaught Circus, New Delhi,1976.
- Radhakrishnan,*Hindu View of Life*,George Allen & Unwin LTD, London,1964,Thirteenth Impression ,P.90
- Radhakrishnan, C.S., *Kālidāsa New Perspectives,* New Bharatiya Book Corporation, Delhi, 2005.
- Stoler Miller, Barbara, *The Plays of Kālidāsa,* Motilal Banarsidass Publishers, Delhi, 1999.
- Swami, Gambhirananda, *Eight Upaniṣadas with the commentary of Śaṅkarācārya,* Advaita Ashrama, 2009.

- Tiwari, Ramashankar, A *critical study of Mahākavi Kālidas*, Chowkhamba Vidyabhawan, Varanasi, 1999.
- Unni, N.P., *Meghadutam* (The complete works of Kālidāsa), New Bharatiya Book Corporation (India) first edition, 2009.
- Shastri, Satya Vrat, *New Experiments in Kālidāsa*, Eastern Book Linkers, Delhi, 1994.
- Satapatha Brahmana, Sanskrit text with English Translation, English Translation by Julius Eggeling, Edited by Maitreyee Despande, Kanda XI-XIVI, Vol.IV, New Bharatiya Book Corporation, Delhi, 2008
- Vedas , Sanskrit text of the Four Vedas, Swami Jagdishwaranand Saraswati, Vijaykumar Govindram Hasanand , Delhi , 1997

शोधपत्रिकाएँ

- शोधप्रभा, प्रधानसम्पादक–वाचस्पति उपाध्याय, सम्पादक–रमेश कुमार पाण्डेय , उमेश चन्द्रमिश्र–"वागर्थाविव समस्तं व्यस्तं वा'' श्रीलालबहादुशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम् , नवदेहली,(जुलाईमासाङ्क) 2002
- शोधप्रभा, संपा. मण्डन मिश्र, श्रीमती राधा गुप्ता– 'कालिदास के साहित्य में आयुर्वेद', श्रीलालबहादुशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, नवदेहली,अकटूबर–मार्च 1981–82
- सारस्वती सुषमा, संपा.राम मूर्ति शर्मा, वृज किशोर त्रिपाठी– 'शब्दार्थविचार', सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,जून–सितम्बर–दिसम्बर–मार्च 1996–97
- संस्कृतविमर्शः, संपा. कमलाकान्त मिश्र, प्रभातरंजन महापात्र–'रघुवंशे औपनिषद्सिद्धान्तस्य प्रतिफलनम्, राष्ट्रियसंस्कृतसस्थानम्, नवदेहली, अङ्क 23–24 वर्ष 1995–96

कोश ग्रन्थ

- अमरकोश,अमरसिंह,धराख्यटीका,श्रीमन्नालाल,चौखम्बा विद्याभवन,वाराणसी,1999
- पारिजातकोश,सम्पादक,ईश्वर चन्द्र,परिमल पब्लिकेशन्स,दिल्ली,2005
- भारतीय दर्शन, बृहत्कोश,बच्चू लाल अवस्थी, शारदा पब्लिशिंग हाऊस,2004

- भारतीय दार्शनिक चिन्तन, डी०आर० भण्डारकर, अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, नई दिल्ली, 2002
- भारतीय दर्शन परिभाषा कोश, दीनानाथ शुक्ला,प्रतिभा प्रकाशन,दिल्ली,1993
- वाचस्पत्यम्, तर्कवाचस्पति, तारानाथ, राष्ट्रिय– संस्कृत– संस्थानम्, नव–देहली, 2002
- शब्दकल्पद्रुम, राजा राधकान्त देव, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली,पुनर्मुद्रित संस्करण, 2002
- संस्कृत–हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे,मोतीलाल,बनारसीदास,दिल्ली,2007
- *Encylopedia of Indian Philosophies,* Editors- Dr. Suresh Kumar & Dr. Ramanath Sahai, Oxford University Press, 2008.
- *A Classical Dictionary of India: Illustrative of the Mythology, Philosophy, Literature, Antiquities, Arts, Manners, Customs & c., of the Hindus,* Garrett, John, (Madras: Higginbotham and Co., 1871)

अन्तर्जालीय–स्रोत

- http://www.encyclopedia.com
- http://www.sanskritebooks.org/2011/06/complete-works-of-kalidasa/
- http://www.vedabhoomi.org/
- http://en.wikipedia.org/wiki/Indian_philosophy
- http://en.wikipedia.org/wiki/Hindu_philosophy